को प्रातः मिर्ज़ापुर
...तिक कार्यकर्त्ताओं
... देहात के किसानों
... । समाजवादी एवं
...लाल, एवं कांग्रेस
... गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर
...', 'स्वामी सहजा-
...ये ।

... शहर से ५० मील
... बघौड़ा पुल तथा
... किसानों की सभाएँ
...वी भाषण में बत-
...टित नहीं हो जायँगे
... नहीं हो सकतीं ।
...बूत बनाने के लिए
...ना चाहिये । आपने
...र ज़मींदारों में सुलह
...र बकरी में सुलह
...ह शेर और बकरी,
...ी सकती उसी प्रकार
...लह नहीं हो सकती ।
... सुलह और समझौते
... आपने बतला... कि
...त्यादतियाँ बन्द होंगी
...ना मिल सकता है ।
...टित होना पड़ेगा ।
...तु सिधाई से काम न
...ते हुए आपने कहा
...करें, उसे मालिएँ पह-
... आपको रस नहीं दे
... आपको उसे छुरी से
... दो टुकड़े करने के
...ड़ेगा । तभी आपकी
... प्रकार मिहनत और
..., आपकी ग़रीबी और
...कते हैं, अन्यथा नहीं ।'
...र जंगली इलाक़े में

फ़तेहपुर

मेले में प्रचार कार्य

स्वामी भगवान, सभापति, ज़िला किसान संघ फ़तेहपुर सूचित करते हैं कि ता० ७ से १० नवम्बर १९३८ तक ज़िला किसान संघ फ़तेहपुर की ओर से नीचे लिखे मेलों में प्रचार किया गया ।

मेला शिवराजपुर में श्री जयरामसिंह, यदुनन्दन-प्रसाद और श्री लक्ष्मीनारायणजी आदि के प्रबन्ध से किसान संघ का प्रचार किया गया । मेला नौबस्ता में श्री शिवराम और स्वामी विद्यानन्दजी आदि के प्रबन्ध से किसान संघ का प्रचार किया गया । मेला विजयीपुर में श्री स्वामी मगनानन्दजी, चन्द्रशेखर और रामगोपाल आदि के प्रबन्ध से किसान संघ का प्रचार किया गया ।

प्रचार कार्य के सिलसिले में किसान सभाओं की आवश्यकता, किसानों के स्वतन्त्र संगठन, किसान सैनिक दल, किसानों की तात्कालिक माँगें, ज़मींदारों के अत्याचार, कांग्रेस ज़मींदार समझौता तथा युद्ध विरोधी विषयों पर भाषण भी हुए ।

रायबरेली

रूसी राज्य क्रान्ति दिवस

डा० भवानी... ...ाफ़िस मंत्री किसान संघ सूचित करते हैं कि ... ७ नवम्बर को गोकना, डलमऊ और गेगासो के मेले के अवसर पर बड़े समारोह के साथ किसान क्रा... दिवस मनाया गया । लाल और तिरंगे झंडे के साथ एक बड़ा जलूस भी मेले के अवसर पर गंगा के किनारे घूमता रहा । कार्यकर्त्ताओं और स्वयंसेवकों ने मेले का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया ।

झाँसी

तहसील चर्मकार सम्मेलन

श्री सीताराम मन्त्री किसान सभा ककरवई सूचित करते हैं कि ता० ७-११-३८ ककरवई (झाँसी) में श्री बसीटे चर्मकार के सभापतित्व में तहसील चर्मकार सम्मेलन हुआ, जिसमें तहसील के समस्त चर्म-कारों ने प्रतिज्ञा की कि हम लोग आज से शराब का पीना, गोमांस का खाना, बेगार का देना,

वक्तव्य दिया है—

"स्वामी सहजानन्द जी २३-१०-३८ को बनारस में यू० पी० का दौरा करने के लिये आये। उन्होंने बनारस, ग़ाज़ीपुर, बलिया, फ़तेहपुर, कानपुर, आगरा, मथुरा, मुरादाबाद, बुलन्दशहर, शाहजहाँपुर, लखनऊ, इटावा, और मिर्ज़ापुर का दौरा किया । इन सब ज़िलों में मैं भी उनके साथ था । मैंने यह अनुभव किया कि पूर्वी यू० पी० के किसानों में जागृति अधिक है । वे अपने हकों को अच्छी तरह समझने लगे हैं । मैंने यह भी अनुभव किया कि किसान जनता क्रान्ति की ओर बहुत जोर से आगे बढ़ रही है, लेकिन किसान कार्यकर्त्ता उनसे बहुत पिछड़े हुए हैं । बहुत से किसान कार्यकर्त्ता ऐसे हैं जो कुछ दिनों में किसानों के साथ चलने में अपने को असमर्थ पायेंगे । वे नहीं समझते कि क्रान्ति में किसानों का क्या भाग रहेगा । वे सिर्फ़ किसानों के रोज़मर्रा की माँगों के लिए उनका आन्दोलन और संगठन कर रहे हैं । ऐसे कार्यकर्त्ता सिर्फ़ किसान आन्दोलन के साथ चलने में केवल अ... ही नहीं होंगे बल्कि क्रान्ति के मार्ग में ...ड़े का भी काम करेंगे । हम जितने किसान कार्यकर्त्ता हैं उन्हें समझ लेना चाहिए कि हम किसानों का संगठन क्यों करते हैं । हम केवल उनके रोज़मर्रा की माँगों की पूर्ति के लिए ही उनका संगठन नहीं करते । यह तो हर हालत में हम करेंगे ही; उनका संगठन उनकी आज़ादी हासिल करने के लिए करते हैं । उनमें वर्गचेतना और शक्ति पैदा करने के लिए हम उनका संगठन करते हैं, जिसमें कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही सरकार के ख़ात्मे के बाद उनके साथ विश्वासघात न हो सके । अगर संगठन इस विचार से नहीं किया जाता तो ... है पूरी तरह से क्रान्ति में वे न आ सकें । हमें जनता की आज़ादी हासिल करना ... हमारे लिए निहायत ज़रूरी है कि हम किसान मजदूरों का संगठन वर्गहित के आधार पर ... हम सच्ची आज़ादी हासिल कर सकते हैं ।

मुझे 'पायोनियर' में यह देखकर ताज्जुब ... स्वामीजी हिंसा के पक्ष में और कांग्रेस के ख़िलाफ़ प्रचार करते हैं । मैंने हर जगह उनका भाषण सुना ले...

(शेषांश पृष्ठ १८ पर)

फाग में औरतों का निका... आदि ... देंगे । जो भी इस प्रतिज्ञा को तोड़ेगा वह ... से बहिष्कृत कर दिया जायगा । ५ सदस्यों की ... कार्यकारिणी बना दी गयी । संगठन मन्त्री ...

श्रीमद्भगवद्गीता।

श्री १०८ स्वामी निरञ्जनदेव सरस्वती

कृत

अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकासमेता।

जगतके कल्याणार्थ प्रकाशित की।

 } संवत् १९९३. { मूल्य भगवत्प्रेम.

T

प्रकाशक—

श्री सेठ गिरधर अमृतलाल अहमदाबाद निवासी.
श्री सेठ भगवानदास तुलसीदास मोदी बम्बई निवासी.
श्रीमान् सुरेशचन्द्रजी मुकर्जी वकील सागर निवासी.
इन सज्जनोंने यथाशक्ति द्रव्य सहायता देकर इसे प्रकाशित किया है।

मुद्रक—
खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, बम्बई.

T

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

T

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
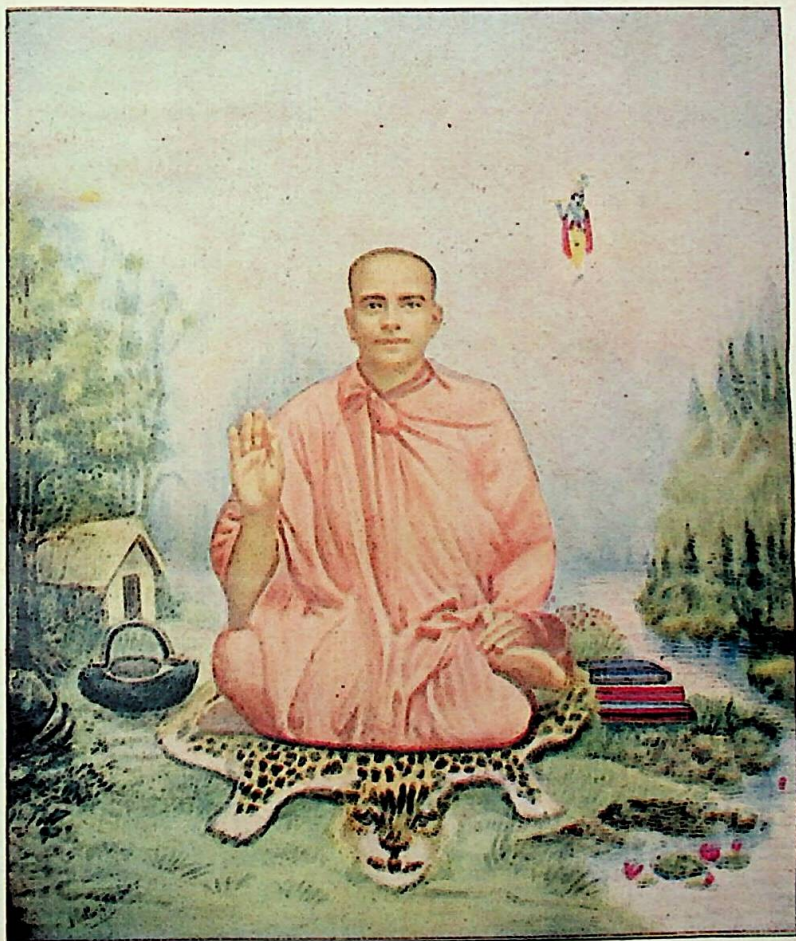
श्री १०८ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य पूज्यपाद
श्री स्वामी निरञ्जनदेव सरस्वती.

भूमिका ।

प्रार्थना मन्त्र ।

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्च उपासते ।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥ १ ॥
गीतायां विद्यते कृष्णो गीता वै ज्ञानरूपिणी ।
तस्मात्सर्वेषु कार्येषु गीताज्ञानमुपाश्रयेत् ॥ २ ॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीताऽमृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ३ ॥

श्रीवासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त कारण बनाकर अपने यथार्थस्वरूपको भूलकर प्रकृति पाशमें पड़े हुए अज्ञानी जनोंके बोधार्थ गीता कथन की है ।

इस श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रेष्ठताके दो ही कारण हैं । एक तो श्रीमद्भगवद्गीताके कथन करनेवाले स्वयं सच्चिदानन्द आनन्दघन भक्तवत्सल निरञ्जन परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् हैं । दूसरे, श्रीभगवद्गीतामें समग्र उपनिषदोंका सार, धर्माधर्मका निरूपण, सृष्टिका आदि अन्त, जीवोंकी उत्पत्ति और लय, शुद्धब्रह्म और माया विशिष्ट ब्रह्म, आदि विषयोंका जैसा उत्तम निरूपण किया है वैसा कहीं भी नहीं है । संसारका कोई भी ग्रन्थ (वेदों और उपनिषदोंको छोड़) श्रीभगवद्गीताकी समता करनेवाला नहीं है । यही कारण है जिससे आज भी इस स्वार्थ परायण युगके प्रकृति उपासक प्रवृत्तिमार्गवाले भी विवश होकर इसकी भूरि २ प्रशंसा करते हैं । श्रीकृष्ण भगवानके श्रीमुखसे निकले हुये इस वेदान्तसार सर्वस्वरूप अद्वैतामृतके पान करनेसे मनुष्य इसी जीवनमें ज्ञान द्वारा शोक मोहसे रहित होकर कृतकृत्य होता है इसमें कर्म करनेकी विधि, देवलोकादि प्राप्तिके उत्तम साधन, सत्व रज और तम इन तीनों गुणोंकी व्यवस्था, लक्षण और स्वरूप, त्रिगुणातीतके लक्षण, तथा भगवत्प्रीत्यर्थ यज्ञादि कर्म करते हुये मुमुक्षु पुरुषोंको कर्म फलोंमें लिप्तता न होकर निर्मल चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मनिष्ठारूप सिद्धिकी प्राप्ति, और ज्ञान विज्ञानका समस्त रहस्य आदि विषयोंका सांगोपांग वर्णन किया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता सुमार्गपर चलानेके लिये कर्मियोंको आधाररूप है । उपासकोंको उपास्यभावकी प्राप्तिके लिये अलौकिक चिन्तामणि है । तथा निवृत्तिमार्गवाले विद्वानोंके लिये

---

१ देवता और पितर गण, परमात्मदेवका साक्षात्कार करानेवाली जिस शुद्धज्ञानरूप बुद्धिकी सर्वदा उपासना करते हैं। हे अग्निदेव (अग्निविशिष्ट परमात्मदेव) उसी परम पवित्र शुद्धबुद्धिके प्रदानसे इस अधिकारीको मेधावी (ब्रह्मनिष्ठ बुद्धि युक्त) करो ॥ १ ॥

परब्रह्म प्राप्तिका परम प्रधान साधन है । किन्तु इसका यथार्थ रहस्य वही जानसकता है, जिसने अर्जुनके समान अपने इन्द्रियरूपी घोड़ोंकी वृत्तिरूपी लगामको भगवान् श्रीकृष्णके हाथमें अर्पण करदी है । और स्वयं विरक्त बन इस शरीररूपी रथमें साक्षी स्वरूप होकर बैठा हुआ है । वही पुरुष कामादिरूप शत्रु सेनाको परास्त करके ब्रह्मानन्दरूपी अलौकिक राज्य सुखका अनुभव कर सकता है ।

इस समय भी श्रीमद्भगवद्गीताका संसारकी सर्वभाषाओंमें क्या मान है इसको प्रदर्शित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । इसकी प्रशंसा करना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है । अद्यावधि गीतापर कई भाष्य और सैकडों टीकायें संसारकी प्रायः प्रत्येक भाषामें निकल चुकी हैं । और निकलती जारही हैं । स्थानाभावके कारण उनका नामोल्लेख नहीं किया जा सकता है । परन्तु इतना लिखदेना ही अलम्होगा कि सर्व भाष्योंमें श्रीमद्भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्यजीका किया हुआ भाष्यही श्रेष्ठतम है । और वास्तवमें यथार्थ भी है । क्योंकि, सभी भाष्य व टीकाकारोंने आद्य श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यसे ही कुछ न कुछ सहायता अवश्य ली है । इसमें कुछ संशय नहीं है ।

आधुनिक कालमें प्रत्येकभाषाओंमें गीतापर विद्वान्लोग अपनी अपनी बुद्धिसे कर्मयोग, उपासनायोग, और हठयोगकी प्रधानता दिखलाते हुए टीकायें कर रहे हैं । परन्तु वे टीकायें गीताके यथार्थभावके प्रकाशन करनेमें असमर्थ हैं । क्योंकि, मेरे विचारसे उन विद्वान् पुरुषोंने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके श्रीमुखसे गीताका अध्ययन नहीं किया है किन्तु भेदवादी आचार्योंके ग्रन्थोंसे या स्वयं अपनी बुद्धिबलद्वारा शब्दशास्त्रका आश्रय लेकर गीताके अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं । इसलिये वे, अद्वैतामृतवर्षिणी भगवती गीताके यथार्थ रहस्यको न जानते हुए प्रवृत्तिप्रधान बताते हैं । जैसे आलस्य प्रमाद ग्रस्त, पुरुषार्थ हीन, कर्मभ्रष्ट पुरुषोंको देखकर "यथा देवस्तथा बलिः"के न्यायका अनुसरण करते हुए विद्वद्वर पं० तिलक महोदयजीने कर्मप्रधानता दिखानेवाली टीका की है । परन्तु विचारसे देखाजाय तो गीताका प्रवृत्तिप्रधान अर्थ गीताके मूल श्लोकार्थोंसे भी विरुद्ध है । इसकारण यह अर्थ उनका मनोरथमात्र है । क्योंकि कर्मयोगकी प्रधानता अर्थात् "कर्मोंद्वारा ही मोक्षप्राप्ति होती है" ऐसा माननेमें कोई श्रुतिप्रमाण नहीं है ।

यद्यपि क्षत्रियधर्मसे विमुख हुए अर्जुनको युद्धमें पुनः प्रवृत्त करानेके लिये ही श्रीभगवान् कृष्णदेवने गीतामें कर्मका उपदेश किया है, नकि कर्मयोगकी प्रधानता दिखानेके लिये । क्योंकि, कर्मयोगद्वारा कोई भी व्यक्ति कैवल्यमोक्षको प्राप्त नहीं हुआ है । इस बातको "कर्मणा बध्यते जन्तुः" "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" "न कर्मणा न धनेन न प्रजया" "कर्माणि बन्धीनि मनुष्यलोके" इत्यादि श्रुतिस्मृतियां मुक्त कण्ठसे प्रतिपादन करती हैं ।

महाभारतमें यह प्रसिद्ध ही है कि, जब अर्जुन दोनों सेनाओंके मध्यमें पहुँचा, और उसने अपने विपक्षीदलमें अपने ही बन्धु बांधव गुरु तथा हितैषियोंको देखा तो उसका वीरदर्पसे

भराहुआ विशालहृदय करुणासे द्रवीभूत हो उठा। तब वह मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णसे जोकि भक्तवत्सलताके कारण उसके सारथी बनेहुए थे बोला कि, हे महाबाहो, भगवन्, वासुदेव ! मैं युद्धमें अपनेही कुलका क्षय नहीं करना चाहता हूं । गुरु और संबंधियोंको रणमें मारकर पापका भागी नहीं बनना चाहता हूं । यद्यपि मेरे विपक्षी इस पातकको नहीं देखते हैं. पर मैं तो देखता हूं. मुझे ऐसा करना कदापि योग्य नहीं है । अहो, कैसे दुःखका विषय है कि, इस क्षुद्र सांसारिक विलासके उपभोगार्थ ये लोग इतने भारी पापको करनेके लिये उद्यत हुए हैं । हे केशव ! मेरा हाथ अपनेही बांधवोंपर नहीं उठता, मेरा गाण्डीव धनुष हाथसे छूटता है, शरीरमें रोमाञ्च होता है, और मेरे हृदयमें करुणाकी प्रवाहिनी प्रबलतासे प्रवाहित होती है । हे केशिनिषूदन ! मैं इस प्रकारके घोरतम पापमें नियुक्त नहीं हो सकता । इस एक राज्यके लिये क्या ? अथवा समग्रभूमण्डलके निष्कण्टक आधिपत्यके लियेही क्या ? मैं तीनों लोकोंके आधिपत्य प्राप्त होनेके अर्थ भी अपने गुरुजनोंकी हत्या नहीं करूंगा । इस प्रकार वह कर्तव्य विमूढ़ होकर अपने क्षत्रियधर्म वीरधर्मके परित्यागकी अभिलाषा करता हुआ भगवान् अच्युतके सन्मुख विषादयुक्त होकर बैठ गया । तब करुणासागर भगवान् श्रीकृष्णजीने उसे ज्ञानका उपदेश देकर उसका मोह भंग किया और उसे युद्धमें नियुक्त किया, परन्तु इतनेहीसे गीता प्रवृत्ति प्रधान ग्रन्थ होगया यह कहना भयंकर भूल या कोरा हठवाद है ।

अर्जुनका चित्त मोहान्धकारसे भ्रमित हो रहा था, वह कार्य अकार्यका स्वयं निर्णय करनेमें असमर्थ होकर युद्धसे विमुख होना चाहता था. यदि वह उस समय निवृत्त हो जाता तो उसे अधर्म होता क्योंकि, त्रिकालज्ञ भगवान्ने " यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः " इस अर्जुनके प्रश्नसे जान लिया था कि, उसका हृदय संसारसे उपरत नहीं हुआ है, परन्तु अपने स्वजनोंके मोहके कारण वह निवृत्त होना चाहता है ।

इसी आशयको लेकर पंचम अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि जो ऊपरसे तो विषयोंका त्याग करता है परन्तु मनसे उनका चिन्तवन करता है वह अधमत्यागी है। ऐसे त्यागका कुछ फल नहीं है। क्योंकि, संन्यास चित्तकी अवस्था पर निर्भर है । इसी बातको ५ वें अध्यायके ६ ठवें श्लोकमें "संन्यासस्तु महाबाहो" कि हे महाबाहु अर्जुन ! संन्यास विना निष्काम कर्मयोगके नहीं होता, और चित्तकी शुद्धि विना निष्कामकर्मयोगके नहीं होती, और जो कर्मयोग युक्त है अर्थात् निष्काम वेदोक्त-कर्म करनेवाला है, वही सर्ववासना त्यागसे शीघ्र ब्रह्मनिष्ठारूप संन्यासको प्राप्त होता है । इसी श्लोकके दूसरे चरणमें ब्रह्मशब्दका उपयोग किया गया है, जिसका अर्थ संन्यास है,इस अर्थके प्रतिपादनमें भगवान् शंकराचार्यजी अपने शांकरभाष्यमें " न्यास इति ब्रह्म ब्रह्महि पर इति " इस श्रुतिका प्रमाण देते हुये लिखते हैं कि संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही परम मोक्षरूप है ।

गीतामें कई स्थानोंपर जो कर्मयोगकी प्रशंसा की है वह केवल यथाधिकार अधिकारियोंको चित्त शुद्धिद्वारा ज्ञानमें प्रवृत्त करानेके लिये ही है । क्योंकि, निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग

प्रारंभिक शिक्षा और उच्चशिक्षाके समान है। उच्चशिक्षाके अभिलाषीको प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यदि कोई नासमझ विद्यार्थी एकाएकी अन्तिम कक्षाकी उच्च शिक्षा लेना चाहे तो गुरुका धर्म है कि, उसकी योग्यता देखकर उसे उच्च कक्षाकी शिक्षामें नियुक्त करे। और यदि वह अन्तिम कक्षाकी उच्च शिक्षाके योग्य न हो तो उसे प्रथम कक्षाके गुण बतलाते हुए उसीमें नियुक्त करे, तत्पश्चात् प्रथम कक्षाकी प्रारंभिक शिक्षाके पूर्ण होनेपर उसे उच्च कक्षामें ले। इसपर यदि कोई कहने लगे कि गुरु प्रारंभिक या प्राथमिक शिक्षाकी अधिक प्रशंसा करके शिष्यको केवल प्राथमिक शिक्षामें ही नियुक्त कर रहा है और इसीलिये प्रारंभिक शिक्षाही उसका अंतिम उपदेश है, तो यह वेदवेत्ता विद्वानोंमें कितनी हास्यजनक बात होगी। ऐसेही अज्ञानग्रस्त पुरुष, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके और शास्त्रोंके वाक्योंका मर्म न समझ सकनेके कारण केवल दुराग्रही होकर गीतामें प्रधान कर्मयोगको ही मानते हैं।

वेदान्त शास्त्र संस्कारहीन मलिन चित्त पुरुष, भ्रमसे या आलस्यवश कर्मोंसे डरकर कहीं संन्यास, न करने लगे, इसीलिये भगवान् वासुदेवने बारंबार चित्त शुद्धिके अर्थ कर्मयोगकी महिमा गाई है। और उत्तम अधिकारियोंके प्रति "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इत्यादि वचनामृतोंद्वारा कर्म और कर्मफल संन्यासका निरूपण किया है। तथा "ज्ञानादेव तु कैवल्यं "नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय" "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इत्यादि श्रुतिस्मृतियां भी ज्ञानको ही मोक्षका साधन प्रतिपादन करती हैं।

" कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥
कर्माणि बन्धीनि मनुष्यलोके।"

इत्यादि श्रुति स्मृतियोंसे सिद्ध होता है कि कर्म, मोक्षका साधन नहीं है किन्तु ज्ञान ही मोक्षका साधन है।

विष्णुके अवतार श्रीव्यास भगवानने, सर्व अधिकारियोंको यथायोग्य धर्मकर्मोंका निरूपण करती हुई सूक्ष्म रीतिसे निवृत्तिमार्ग (मोक्ष) को ले जानेवाली, इस, नरनारायणके अवतार श्रीकृष्ण और अर्जुनके अमृतरूप संवाद श्रीमद्भगवद्गीताको अतिगोप्य रत्न समझकर महाभारतके भीष्मपर्वमें स्थान दिया है और गीताके श्लोकोंकी संख्या भी उसी पर्वमें बतलायी है कि—

षट्शतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः।
अर्जुनः सप्तपंचाशत् सप्तषष्टिं तु सञ्जयः॥
धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीताया मानमुच्यते।

अर्थात्—गीतामें भगवान् केशवके ६२० श्लोक, अर्जुनके ५७, संजयके ६७, और धृतराष्ट्रका एक श्लोक है, इस तरह ७४४ श्लोक होते हैं। किन्तु गीताका यह परिमाण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है।

श्रीभगवान् आद्यशंकराचार्यजीने अपनी सर्वज्ञ दृष्टिसे गीताके केवल ७०० श्लोक ही ग्रहण करके भाष्य किया है। तदनुसारही सर्व टीकाकार ७०० श्लोकोंको ही परंपरासे मानते आये हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके रचना कालपर आधुनिक विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं—कई एक कहते हैं कि, गीता सहित महाभारत, युद्धके बहुत समय पीछे अर्थात् शाली वाहन शकके ५०० वर्ष पहले निर्मित हुआ है। और कई एक सज्जनोंका सिद्धान्त है कि महाभारतका युद्ध सन् ईस्वीसे ११९४ वर्ष पूर्व हुआ था, तभी गीता निर्मित हुई है। परन्तु ये दोनों मत युक्ति युक्त नहीं जान पड़ते हैं। क्योंकि, कलियुग संवत्का चलना पाण्डवोंके हिमालय जानेके समयसे कहा जाता है। और किसी किसीका सिद्धान्त है कि, कलियुग संवत् अभिमन्युपुत्र परीक्षितके समयसे चला है। जो हो, परन्तु कलियुग संवत् आजसे ५००० पांचहजार वर्ष पूर्वसे चला है। यह सर्वसम्मत है। और यह भी निर्विवाद सिद्ध है कि, पराशर मुनिके आत्मज महर्षि वेदव्यासजी जो कि भीष्मके भ्राता और सत्यवतीके पुत्र हैं, महाभारतके समय उपस्थित थे, और उन्होंनेही महाभारतकी रचना की है, इसमें तो किसीकोभी शंका नहीं है। अस्तु गीताके प्रकाशका काल कई कारणोंसे आजसे पांचहजार वर्ष पूर्वका ही मानना पड़ेगा। और यही काल युक्तिसंगत जान पड़ता है।

परन्तु " इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् " " गीताज्ञानमुपाश्रयेत् " इत्यादि भगवान् श्रीकृष्णदेवके वाक्योंद्वारा मेरे विचारसे गीता ईश्वरोक्त वेदस्वरूप होनेसे अनादि है।

" धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे " इस श्लोकसे आरंभ कर " यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः " यहां तक सातसौ श्लोकवाली गीतामें तीन षट्क हैं। प्रत्येक षटक्में पृथक् २ निष्ठाओंका वर्णन है. पहिले छे अध्यायोंमें कर्मनिष्ठा, दूसरे ६ अध्यायोंमें उपासना, और तृतीय षटक्में ज्ञाननिष्ठाका वर्णन वेदोंकी नाईं करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण देवने चितशुद्धि अनन्तर कर्म त्यागका निरूपण किया है। जोकि, "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"—

"फलस्य कारणं पुष्पं फले पुष्पं विनश्यति । ज्ञानस्य कारणं कर्म ज्ञाने कर्म विनश्यति ॥"

इत्यादि स्मृतिवाक्योंसे स्पष्ट होता है। इसी भावको लेकर स्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीने अपनी टीकामें काण्डत्रयका " तत्त्वमसि " महावाक्यसे रूपक बांधकर वर्णन किया है॥

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्म तत्त्यागवर्त्मना। त्वंपदार्थो विशुद्धात्मा सोपपत्तिर्निरूप्यते १
द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना । भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते ॥ २ ॥
तृतीये तु तयोरैक्ये वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम्। एवमप्यत्र काण्डानां संबन्धोऽस्ति परस्परम्

अर्थात्—प्रथमकाण्डमें कर्म करना, परन्तु उसके फलको न चाहना और संगरहित अर्थात् आसक्तिरहित कर्म करना, इस मार्गसे त्वंपदका वाच्य और लक्ष्य दो प्रकारका अर्थ निरूपण किया। शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप जो जीवका निरूपण है, वह त्वंपदका लक्ष्यार्थ

है । और अविद्यामय कार्य गुणों और कर्म फलोंमें जो सक्त है वह त्वंपदका वाच्यार्थ है ॥ दूसरे काण्डमें भगवद्भक्ति निष्ठामार्गसे तत्पदका अर्थ निरूपण किया अर्थात् श्रीभगवान्को परमानन्द ब्रह्मस्वरूप मानकर जो कहा वह तत्पदका लक्ष्यार्थ है। और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वेश स्वरूप तत्पदका वाच्यार्थ है । तीसरे काण्डमें दोनों पदोंकी एकता लक्ष्यार्थमें निरूपण की, जो कि—सर्व क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझ परब्रह्मको ही जान इत्यादि वाक्योंसे तत्त्वमसि महा-वाक्यका स्पष्ट अर्थ निरूपण किया । इस प्रकार तीनों काण्ड अधिकारिभेदसे पारस्परिक संबन्धवाले हैं। यही युक्तियुक्त भी है ॥ अस्तु ॥

सर्व मुमुक्षु जनोंके हितार्थ संस्कृत और प्राकृत भाषामें—अद्वैतपद (स्वरूप) प्रकाशिका नामकी टीका रची है। इस टीकाकी रचनामें जगद्गुरु भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजीके भाष्यसे तथा तदनुकूल टीकाकार स्वामी मधुसूदनजी सरस्वती, स्वामी सदानन्दसरस्वती, स्वामी श्रीधर, पण्डित नीलकण्ठ आदि विद्वानोंकी टीकाके भावोंको लिया है, जिससे भाष्य प्रति-कूल कोई अर्थ न होने पावे । यदि कहीं किसी विद्वान्को अर्थकी न्यूनता प्रतीत होवे तो उसे अपनी उदार बुद्धिसे शोधन करलेवें । 'दयां कुर्वन्ति साधवः' ॥

वास्तवमें गीताका गूढ़ अर्थ श्रीकृष्णदेव ही जान सकते हैं, जैसे पुत्रके गर्भाधानका बोध माताको ही होता है ।

गीतार्थं वेत्ति श्रीकृष्णो नान्यो वै ज्ञातुमर्हति ।
जानाति पुत्रजन्मानं जननी गर्भधारिणी ॥

इस ग्रन्थके लेखन कालमें जिन, सागरनिवासी साहित्याचार्य साहित्यरत्न,पं०श्रीलोकनाथ सिलाकारीजी और सागरनिवासी न्यायवेदान्तशास्त्री ज्योतिर्दिवाकर पं० श्रीसुन्दरलाल अग्नि-होत्रीजी, इन दोनों सज्जनोंने अपने उदारस्वभावसे यथोचित सहायता दी है । मैं उन दोनों सज्जनोंको हृदयसे आशीर्वाद देता हूं ।

जिस परब्रह्म, देवादिदेव सर्व कारणोंके कारण, अत्यन्त सूक्ष्म, अन्तर्यामी, लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णदेवने मुझ भिक्षुकी बुद्धिमें चिरकालसे प्रेरणा की थी और इस कार्यमें पूर्ण सहायता देनेके लिये "बुद्धियोगं ददामि ते" प्रतिज्ञा की थी। आज वह प्रतिज्ञा उन्होंने पूर्ण की है । इसलिये "त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये" इस भावको लेकर "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" इस भगवद्वाक्यको हृदयमें निहित कर आनन्दकन्द व्रजचन्द्र सर्वात्मरूप भगवान् विष्णुनारायणको स्वात्मरूप "श्रीकृष्ण एवाहमस्मि" भावसे प्रणाम करता हूं।

सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्ताचिदात्मने । प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः॥ १ ॥
अणोरणीयसे धाम्ने महतश्च महीयसे । आदिमध्यान्तहीनाय मह्यमेव नमोनमः ॥ २॥

ॐतत्सत् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मिति भाद्रपद कृष्ण जन्माष्टमी,	स्वामी—निरञ्जनदेव सरस्वती,
संवत् १९९३.	सप्तस्रोत, श्रीवैकुण्ठधाम भूपतवाला, हरिद्वार.
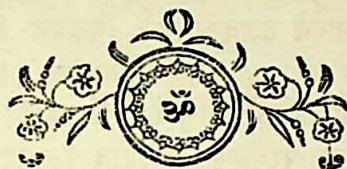
तत्सत्

शुभानिवेदन।
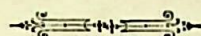
बड़े हर्षकी बात है कि श्री १०८ स्वामी निरञ्जनदेव सरस्वतीजी महाराजने श्रीमद्भगवद्गीतापर अद्वैतपदप्रकाशिका टीका रचकर मुद्रित कराई है। स्वामीजीने बहुत हर्षसे हमको आज्ञा दी है कि, इस समय एक हजार प्रतियाँ स्वामीजीकी और एक हजार प्रतियाँ प्रेसकी ओरसे छापलें। हमने पुस्तकका मूल्य २।) (वी. पी. खर्च अलग) रखा है। जिन भगवत्प्रेमी सज्जनोंको कीमत देकर मँगवानी हो वे सज्जन हमसे मँगालें। और जिन साधुसज्जन ब्राह्मणोंको धर्मार्थ लेनी हो, वे श्री १०८ स्वामी निरञ्जनदेव सरस्वतीजी महाराजसे मु. श्री वैकुण्ठधाम भूपतवाला सप्तसरोवर हरिद्वार यू. पी. के पतेसे डाकखर्च, भेजकर मंगवालें या स्वयं आश्रममें जाकर लेलें।

सर्व सज्जनोंका कृपाभिलाषी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

मालिक–"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्–प्रेस,

बम्बई.

T

श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानामकारादिक्रमेण वर्णानुक्रमणिका ।

T

T

T

श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानामकारादिक्रमेण वर्णानुक्रमणिका समाप्ता ॥

श्रीमद्भगवद्गीतायाः पाठविधिः ।

ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान् वेदव्यास ऋषिः,अनुष्टुप्छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता,—

ॐ परमात्माका नाम है मंगलाचरणके अर्थ प्रथम इसका उच्चारण करते हैं। इस श्रीमद्भगवद्गीतामालामंत्रके ऋषि श्रीभगवान् वेदव्यासजी हैं। और इस मालामंत्रका अनुष्टुप् छन्द है। और इस मालामंत्रके देवता श्रीकृष्ण परमात्मा हैं।

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे"। इति बीजम् ॥

जो शोक करने योग्य नहीं है उसका त शोक करता है और बुद्धिमानोंकीसी बातें करता है। यह इस मालामंत्रका बीज है।

" सर्वधर्मापरित्यज्य मामेकं शरणं व्रज " इति शक्तिः ॥

सर्व धर्मोंको परित्याग कर मेरी शरण ले। यह गीताकी शक्ति है।

" अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः " इति कीलकम् ॥

मैं तुझे सर्व पापोंसे मुक्त करूंगा, तू शोक मतकर। यह कीलक है।

श्रीकृष्णदेवताप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

मैं श्रीकृष्णदेवताके प्रीत्यर्थ जपमें इनका विनियोग करता हूं।

अथ करन्यासः ।

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः"। इत्यंगुष्ठाभ्यां नमः।

न इसको शस्त्र छेदते हैं, न अग्नि दग्ध करती है। यह मंत्र पढ़कर दोनों हाथके अंगुष्ठोंको, तर्जनी अंगुलीसे स्पर्श करे।

"नचैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः" इति तर्जनीभ्यां नमः।

न इसको जल गीला करता है और न वायु सुखाता है। यह मंत्र पढ़कर दोनों अंगूठोंसे दोनों तर्जनी अंगुलियोंका स्पर्श करे।

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्यः शोष्य एव च" इति मध्यमाभ्यां नमः।

यह न कटनेके योग्य है, न दग्ध किये जानेके योग्य है, और न भिगोये जानेके योग्य है। यह मंत्र पढ़कर दोनों अंगुष्ठोंसे दोनों मध्यमा अर्थात् बीचकी अंगुलियोंका स्पर्श करते हैं—

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः" इत्यनामिकाभ्यां नमः।

यह नित्य, सर्वगत, स्थिर और अचल तथा सनातन है। यह मंत्र पढ़कर दोनों अनामिकाका स्पर्श करते हैं॥

"पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः" इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।

हे पार्थ ! तू मेरे सैकड़ों और हजारों रूपोंको देख । यह मंत्र पढ़कर दोनों कनिष्ठिका अर्थात् छिगुलिओंको स्पर्श करते हैं ।

"नानाविधानि दिव्यानि नानवर्णाकृतीनि च" इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

नानाप्रकारके दिव्य अर्थात् अलौकिक और अनेक आकृति और रंगवाले हैं । इस मंत्रको पढ़कर प्रथम दहिने हाथके नीचे बायें हाथको रखते हैं, और फिर बायें हाथके नीचे दाहिना हाथ रखते हैं ॥

" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः " इति हृदयाय नमः ।

यह मंत्र पढ़कर पाँचों अंगुलियोंसे हृदयका स्पर्श करते हैं ।

" न चैनं क्लेदयन्त्यापः " इति शिरसे स्वाहा ।

यह मंत्र पढ़कर पांचों अंगुलियोंसे शिरका स्पर्श करते हैं ।

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्" इति शिखायै वषट् ।

यह मंत्र पढकर पांचों अंगुलियोंसे चोटीको स्पर्श करते हैं ।

"नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" इति कवचाय हुम् ।

यह मंत्र पढ़कर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दाहिने खोवेका स्पर्श करते हैं ।

" पश्य मे पार्थ रूपाणि " इति नेत्रत्रयाय वौषट् ।

यह मंत्र पढ़कर दहिने हाथसे दोनों नेत्रोंको छूते हैं ।

" नानाविधानि दिव्यानि " इति अस्त्राय फट् ।

यह मंत्र पढ़कर दहिने हाथकी तर्जनी और मध्यमा ये दो अंगुलियां बायें हाथकी हथेलीपर मारते हैं ।

श्रीकृष्णप्रीत्यर्थें जपे विनियोगः सर्वांगेषु ।

श्रीकृष्ण परमात्माकी प्रीति अर्थ यह पाठरूप जप किया जाता है ऐसा कहकर शिरसे पाद तक सब अंगोंको छूवे ।

अथ ध्यानम् ।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथिता पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

जो गीता, स्वयमेव नारायण भगवान् श्रीकृष्णचंद्रजीने अपने श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कथन की (समझाई गई)। और जो गीता पुराण मुनि महर्षि वेदव्यासजीद्वारा महाभारतमें

ग्रथित की गई। और अद्वैतरूप अमृतको वर्षा करनेवाली है और जो भगवद्गीता अठारह अध्यायोंवाली है तथा जो गीता आवागमनके बंधनसे छुडानेवाली है ऐसी मातारूप हे भगवद्गीते ! मैं तुम्हारा ध्यान करता हूं।

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

हे विशालबुद्धिवाले, प्रफुल्ल विकसित कमलके पत्रके समान आयत दीर्घ नेत्रवाले वेद-व्यासजी ! आपको, जिन्होनें महाभारतरूप तेलसे परिपूर्ण ज्ञानरूपी दीपकको जलाया (प्रकाशित किया) है। मेरा नमस्कार हो।

" प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीताऽमृतदुहे नमः ॥"

शरणमें आये हुए जनोंको कल्पवृक्षरूप, हाथमें छडी लिये हुये, ज्ञानमुद्रासे युक्त गीतामृतरूपी अमृतके दुहनेवाले, भगवान् श्रीकृष्णको मेरा नमस्कार हो।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥

सम्पूर्ण उपनिषद् गायोंके समान हैं। और श्रीगोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ग्वालके समान हैं। तथा अर्जुन बछडेके समान है, जो गौको पन्हाकर दूध पीता है, दूसरोंको भी पिलाता है। इस दूधके भोक्ता बुद्धिमान् तत्त्वदर्शी पुरुष हैं। और गीतारूपी महान् अमृत दूध है।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानंदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

जो वसुदेवके पुत्र हैं, स्वप्रकाशमान परब्रह्मरूप हैं, तथा कंस चाणूर आदि दैत्योंके मारनेवाले हैं, देवकीको परमानन्द प्रदान करनेवाले हैं ऐसे सर्वजगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूं।

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गांधारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी,
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ ६ ॥

जिस रणरूपी नदीके भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य दोनों तट हैं,जयद्रथ जल है, गांधार नीलकमल है, शल्य ग्राह है, कृपाचार्य प्रवाह है, कर्ण लहरें है, अश्वत्थामा, और विकर्ण भयानक मगर हैं। और दुर्योधन भंवररूप है। इसप्रकारकी भयंकर नदीको पाण्डवोंने भग-वान् श्रीकृष्णचन्द्ररूप मल्लाहकी सहायतासे निःसंदेह पार किया है।

पराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं,
नानाख्यानककेसरं हरिकथासंबोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा,
भूयाद्भारतपंकजं कलिमलप्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥ ७ ॥

श्रीवेदव्यासजीके वचनरूपी सरोवरमें उत्पन्न होनेवाला, निर्मल गीतार्थरूपी उत्कृष्ट सुगन्धीवाला, नानाप्रकारके प्रसंगरूप केसरवाला, हरिकथाके संबोधनोंसे बोधित अर्थात् ज्ञानसे खिला हुआ, संसारमें सत्पुरुषरूपी भ्रमरोंकेसे आनन्दपूर्वक प्रतिदिन पान किया जानेवाला, और कलिके मलरूप पापोंको ध्वंस करनेवाला, महाभारतरूप कमल हमारा कल्याणकारी हो ।

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

मैं, उस परमानन्द स्वरूप लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना करता हूं, जिनकी कृपासे गूंगा वाचाल होता है, लंगड़ा पर्वतको लांघनेकी शक्तिवाला होजाता है । जिसकी कृपासे बडेबडे धुरंधर शुक दत्तात्रेयके समान तत्त्ववेत्ता षष्टि भूमिका आरूढ़ पुरुषोंकी वाणी भी मौनको प्राप्त होती है और गुटकादि योगक्रियासे मेरुपर्यन्त भ्रमण करनेवाले वायुसदृश वेग सम्पन्न योगी भी ब्रह्मानन्दके आविर्भाव होनेपर पंगुवत् स्थित होते हैं, उस परमानन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्माकी मैं वन्दना करता हूं ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-,
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र और वरुण तथा वायु आदि देवता जिस परब्रह्मकी दिव्यस्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं । तथा सामगायन करनेवाले उद्गातापुरुष, अंग, पद क्रम और उपनिषदोंसहित वेदोंसे जिसका गुणानुवाद गायन करते हैं, योगी ध्यानावस्थित होकर ब्रह्ममें समाहितचित्तसे जिसको स्वात्मरूपसे देखते हैं और देव और दानवगण भी जिसका अन्त नहीं जान सकते उस परब्रह्मदेवको मेरा नमस्कार हो ॥

इति ध्यानम् ।

इति पाठविधिः ।

श्रीमद्भगवद्गीता माहात्म्य ।

सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीतामृतं ददौ ।
सर्वलोकोपकारार्थं तस्मै कृष्णाय ते नमः ॥ १ ॥

आरंभमें अर्जुनका सारथीपन करनेवाले जिन भगवान् वासुदेवने, सर्व संसारके उपकारार्थ अर्जुनको निमित्त कारण बनाकर गीता रूपी अमृत प्रदान किया, उन श्रीकृष्ण भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

संसारसागरं घोरं तर्त्तुमिच्छति यो जनः ।
गीतानावं समारुह्य पारं याति सुखेन सः ॥ २ ॥

जो मनुष्य संसाररूपी महासागरको तरनेकी इच्छा करता हों, वह इस गीतारूपिणी नौकापर चढ़कर सहजमें ही पार पहुंच सकता है ॥ २ ॥

कृष्णो जानाति वै सम्यक् क्वचित् कौन्तेय एव च ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥

वास्तवमें गीताका पूर्णरहस्य श्रीकृष्ण भगवान् ही जानते हैं और कुछ कुछ गोप्य रहस्य कुंती सुत अर्जुन, व्यास, शुकदेव याज्ञवल्क्य और मिथिलाधिपति जनक जानते हैं ॥ ३ ॥

धिक् तस्य मानुषं देहे धिग्ज्ञानं धिक्कुलीनताम् ।
गीतार्थं न विजानाति नाधमस्तत्परो जनः ॥ ४ ॥

जिस मनुष्यको गीताका अर्थ विशेषतया ज्ञात नहीं उसके मनुष्यजीवनको धिक्कार है और उसकी कुलीनता को धिक्कार है, उसके वाचिक ज्ञानको धिक्कार है, क्योंकि उसके समान अधम दूसरा कोई नहीं ॥ ४ ॥

देवकीनंदनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ।
यथा न वेदैर्दानैश्च यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ॥ ५ ॥

मुरली मनोहर भगवान् वासुदेव न तो वेदाध्ययनसे और न यज्ञ तीर्थ और व्रत आदिकसे ही इस प्रकार संतुष्ट होते हैं जिसप्रकार कि गीता पाठसे ॥ ५ ॥

गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ।
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ॥ ६ ॥

जिसने भक्ति भावापन्न चित्तसे गीताका अध्ययन किया है उसने मानों सर्व वेद, संपूर्णशास्त्र और अठारहों पुराणोंका अध्ययन कर लिया ॥ ६ ॥

यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयेच्च स्वयं पुमान् ।
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ॥ ७ ॥

जो पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुद्वारा गीता श्रवण करता है और स्वयं मनन करके श्रीकृष्णभक्तोंको सुनाता है अथवा आप न जानता हुआ विद्वानों द्वारा गीताकी कथा परोपकारके अर्थ ही सुनवाता है, वह परमपद पाता है ॥ ७ ॥

धरोवाच—भगवन्परमेशान भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ॥ ८ ॥

पृथ्वी देवीने पूछा—कि हे भगवन् ! हे परमेश्वर ! प्रारब्धके वशीभूत पुरुषोंमें अनन्य भक्ति कैसे होती है ? ॥ ८ ॥

श्रीभगवानुवाच—प्रारब्धं भुज्यमानोऽपि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ ९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे धरादेवी ! प्रारब्धके वशीभूत मनुष्योंमें भी जो सदा गीताभ्यासमें मग्न है, वह मुक्त है और वही सुखी है, क्योंकि कर्मोंमें वह लिप्त नहीं होता ॥ ९ ॥

महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वंति नलिनीदलमंबुवत् ॥ १० ॥

यदि मनुष्य, गीताका अध्ययन रूप ध्यान करता है तो उसके पूर्वजन्मके बड़ेसे बड़े पाप भी उसको किंचित् भी स्पर्श नहीं कर सक्ते हैं, जिस प्रकार कि नलिनीदलको जल नहीं स्पर्श करता ॥ १० ॥

T

गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै॥ ११॥

जहां पर गीताकी पुस्तक है और जहां पर उसका पाठ होता है, वहां पर प्रयागादि सब तीर्थोंका फल आकर प्राप्त होता है॥ ११॥

सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपाला गोपिका वापि नारदोद्धवपार्षदैः॥ १२॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते।

देवता, ऋषि, योगी, पन्नग, गोपाल, गोपिका, नारद, उद्धव और उनके अन्यसाथी ये सब शीघ्रही सहायक होते हैं जहां पर गीताका पठन पाठन होता है॥ १२॥

गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रीँल्लोकान्पालयाम्यहम्॥ १३॥

गीताको आश्रय करके मैं स्थित होता हूं और गीताही मेरा सर्वोत्कृष्ट स्थान है तथा गीताज्ञानका आश्रय करके ही मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूं॥ १३॥

गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः।
अर्धमात्राऽक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका॥ १४॥

त्रिकाण्ड वेदरूप होनेसे गीता मेरी परम विद्या है और ब्रह्मरूपा है। इसमें संशय नहीं। यह गीता अर्धमात्रा अक्षर नित्य तथा अपने अनिर्वाच्यपदका तत्त्व है अर्थात ब्रह्मस्वरूप आत्माको हस्तामलकवत् दर्शित् करनेवाली है॥ १४॥

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता॥ १५॥

सच्चिदानंद स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने अपनेही श्रीमुखसे अर्जुनके प्रति कही हुई, तीनों वेदमयि (स्वरूप) परमानंद और महावाक्य तत्त्वार्थज्ञान संयुक्त यह गीता है॥ १५॥

गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत्॥ १६॥

T

पुनः मनुष्य गीताका अभ्यास करके, सालोक्यादिसे भिन्न उत्तम मुक्ति अर्थात् कैवल्य मुक्ति प्राप्त करता है । और मरणकालमें 'गीता' शब्दमात्रके उच्चारणसे मनुष्य मरणको प्राप्त होकर सद्गति प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ १७ ॥

श्रीसूतजी बोले—कि यह जो सनातन गीता माहात्म्य मैंने कथन किया है इसको जो गीतापाठके अनंतर पढ़ता है वह उपरोक्त फल प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ *

❀ इति गीतामाहात्म्य ❀

* अन्तमें माहात्म्य पाठका प्रयोजन यह है कि पूर्व पाठमें होनेवाली त्रुटियोंका दोष शमन हो जाता है जिस प्रकारसे कि हवन के अनंतर अन्तमें पूर्णाहुति देनेसे दोषोंका परिहार हो जाता है ॥

T

ॐ ब्रह्मणे नमः।

श्रीमद्भगवद्गीता।

अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकासमेता।

मङ्गलाचरणम्।

यज्ज्ञानाद्यान्ति मुनयो ब्राह्मण्यं परमाद्भुतम्।
तत्त्रैपदं ब्रह्मतत्त्वमहमस्मीति चिन्तये ॥ १ ॥
चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे ॥ २ ॥
यदेकं निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥ ३ ॥
विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्।
पूर्णानन्दैकविज्ञानं परब्रह्मस्वरूपिणम् ॥ ४ ॥
ईशावेकात्मकौ लोके सम्प्रदायप्रवर्तकौ।
गीताभाष्यप्रकाशेन वन्दे श्रीकृष्णशंकरौ ॥ ५ ॥

अथ अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

अध्याय-मङ्गलाचरणम्।

सत्यं ज्ञानं विशुद्धं परमसुखवपुर्नित्यमुक्तस्वभावम्,
स्वाध्यस्ताज्ञानशक्तिं प्रविशति कलया ब्रह्म यद्वेदवेद्यम्।
अन्तर्यामीति गीतं शतपथवचनैस्तन्महोऽनन्तमीड्यम्,
श्रीमत्कृष्णाभिधानं निखिलभयहरं संश्रयेऽहं हृदिस्थम्॥ १ ॥

यत्, सत्यं, ज्ञानं, विशुद्धम्, परमसुखवपुः, नित्यमुक्तस्वभावम्, वेदवेद्यम्, ब्रह्म, कलया, स्वाध्यस्ताज्ञानशक्तिं, प्रविशति। अहम्, तत्, महः, शतपथवचनैः, अन्त-

जो सत्य, (तीनों कालमें अविनाशी) ज्ञानस्वरूप, निर्मल, परम आनन्दमूर्ति, सर्वदा मुक्त स्वभाववाला, वेदोंसे ज्ञात होनेवाला, ब्रह्म, लीलासे, अपनेमें ही कल्पित अज्ञान शक्तिमें प्रवेश करता है। मैं, उस (ब्रह्म)

T

र्यामी, इति गीतम्, अनन्तम्, ईड्यम्, निखिलभयहरं, हृदिस्थं, श्रीमत्कृष्णाभिधानम्, संश्रये ॥ १ ॥

तेजस्वरूप, शतपथ नामक ब्राह्मणग्रन्थके वचनोंसे अन्तर्यामी (सर्व सृष्टिके अन्तःकरणका प्रेरक) पदसे कहे गये, स्तुत्य, अनन्त (जिसका अन्त नहीं है) हृदयमें स्थित सम्पूर्ण भयको हरण करनेवाले श्रीमान् (शोभायुक्त) श्रीकृष्ण नामधारी ब्रह्मका आश्रय लेता हूँ॥ १॥

धृतराष्ट्र उवाच।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्र अवादीत्। हे संजय ! धर्मस्य क्षेत्रे, कुरूणां स्थाने (अतिपूते देशे), युद्धेच्छया संगता मामका मत्पुत्राः पाण्डवाश्च किमन्वतिष्ठन् तद् ब्रूहि त्वम् ॥ १ ॥

राजा धृतराष्ट्र बोले । कि–हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें, युद्ध करनेकी इच्छासे इकट्ठे हुए मेरे पुत्रोंने और पाण्डुके पुत्र पाण्डवोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजयोऽवदत् । तदा काले, राजा दुर्योधनो व्यूहरचनया सज्जीकृत्य स्थितां पाण्डुपुत्राणां पाण्डवानां चमूमवलोक्य, आचार्यं गुरुं द्रोणमुपसृत्येदं वक्ष्यमाणं वचनमुवाच ॥ २ ॥

संजयने उत्तर दिया। कि–उस समय राजा दुर्योधनने, व्यूहरचनासे रची हुई पाण्डवोंकी सेनाको देखकर, द्रोणाचार्यके समीप जाकर कहा ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! तवैव बुद्धिमता ज्ञातसर्वसेनाभेदेन शिष्येण, द्रुपदस्य पुत्रेण, व्यूहाकारेण रचितां पाण्डवानां बृहतीमिमां सेनां निरीक्षस्व ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! तुम्हारे बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदके पुत्रद्वारा, व्यूहरूपमें सुसज्जित की गई पाण्डुपुत्रोंकी इस विशाल सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

पुरो दृश्यमानायामस्यां सेनायां, महान्ति धनूंषि धारयन्तो, युद्धे भीमेनार्जुनेन च समाः, शूराः सन्ति ये तानहं ब्रवीमि । युयुधानो, विराटो, महारथी द्रुपदस्तथैव धृष्टकेतुश्चेकितानः, बलिष्ठः काशीराजः, पुरुजित् कुन्तिभोजः, शैब्यः, युधामन्युः पराक्रान्तो बलिष्ठः, ओजस्वी सुभद्रायाः पुत्रोऽभिमन्युस्तथैव द्रौपदीपुत्राः । सर्वे चैते महारथिन एव सन्ति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

इस सेनामें महान् धनुषोंको धारण करनेवाले, युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूर हैं । युयुधान, विराट और महारथी द्रुपद, तथा धृष्टकेतु, चेकितान, और वीर्यवान् काशीराज, और पुरुजित् कुन्तिभोज, तथा नरश्रेष्ठ शैब्य, युधामन्यु और पराक्रमी, ओजस्वी बलिष्ठ सुभद्राका पुत्र अभिमन्यु, तथा द्रौपदीके पुत्र, ये सब महारथी हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

सर्वेषु ब्राह्मणेषु श्रेष्ठस्तत्संबुद्धौ हे द्विजोत्तम, गुरो आचार्य ! अस्माकं दुर्योधनादीनां मध्ये ये प्रशस्ता महान्तो

सर्व ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, हे आचार्यजी ! हमलोगोंमें जो श्रेष्ठ योद्धा हैं उनको आप

योद्धारो वर्तन्ते ते भवता ज्ञेयाः । मम सेनायां ये च सैनिका विद्यन्ते । तव स्मरणार्थं तानहं कथयामि ॥ ७ ॥

जान लीजिये । मेरी सेनाके जो नायक हैं, मैं आपके स्मरणार्थ उनको कहता हूं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

भवान् (द्रोणाचार्यः) भीष्मः, कर्णः, संग्रामे लब्धकीर्तिः कृपाचार्यः, तथैव द्रोणपुत्रोऽश्वत्थामा, विकर्णः सौमदत्तिश्चैते सन्ति ॥ ८ ॥

आप (द्रोणाचार्य) भीष्म, कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य, तथा अश्वत्थामा, विकर्ण और सौमदत्ति ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्ये च प्रचुरा मम दुर्योधनस्य कार्यार्थे, जीवननिर्व्यपेक्षा वीरा विद्यन्ते । तेच नैकविधशस्त्रास्त्राणां प्रयोक्तारो युद्धे च प्रख्यातकौशलाः सन्ति ॥ ९ ॥

और भी अन्य बहुतसे मेरे लिये प्राणोंको छोड़ने वालेशूर हैं । वे सब, अनेक प्रकारके शस्त्र चलानेवाले और युद्ध-कलामें प्रवीण हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अप्रतिमैरेतादृशैर्वीरैर्युक्ता, भीष्मेण च रक्षिता, मम चमूरपरिमिताऽसंख्येया वर्तते । भीमेन रक्षिता पाण्डवसेना तु परिमिता, मुष्टिमेया करांगुलिगण्या वर्तते ॥ १० ॥

ऐसी वह, भीष्मसे रक्षित की गई, हमारी सेना, अपरिमित है । और भीमसे रक्षित, पाण्डवोंकी यह सेना परिमित है ॥ १० ॥

T

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अतः सर्वे भवन्तोऽस्याः सेनायाः प्रवेशमार्गेषु यथायथं स्वस्थानमधिष्ठाय कुरुकुलवृद्धं पितामहं भीष्ममेव रक्षन्तु।११।

इस कारण, आप सब ही, व्यूहरचनासे युक्त इस सेनाके सब प्रवेशमार्गोंमें, अपने अपने नियत स्थान पर स्थित होकर, भीष्म पितामहकी ही रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

दुर्योधनवाक्यश्रवणानन्तरमेव, विक्रमी, कुरुकुलकर्णधारो वर्षिष्ठो, दुर्योधनस्योत्साहं विवर्धयितुकामो भीष्मः सिंहस्येव नादं विधाय तारस्वरेण स्वशंखमवादयत् ॥ १२ ॥

महाप्रतापी, कुरुवंशमें वृद्ध, पितामह भीष्मने, उस (दुर्योधन) के हर्षको उत्पन्न करते हुए, सिंहनाद करके,उच्च स्वरसे शंखको बजाया ॥ १२ ॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तदनु, नानाविधाः शंखाः, भेर्यः पणवा आनका गोमुखा नैकविधवाद्यविशेषा अध्वन्यन्त । तज्जो ध्वनिर्महानभूत् ॥ १३ ॥

उसके बाद, अनेक शंख दमामा, ढोल, नगाडे और रणसिंधे तत्काल एकदमसे बजने लगे । वह बाजोंका नाद, बडा ही घोर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

ततश्च शुभ्रवर्णैरश्वैरुह्यमाने रथोत्तमे स्थितावुपविष्टौ लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्णोऽर्जुनश्च, स्वीयौ दिव्यौ शंखौ वादयामासतुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्वेत वर्णवाले घोड़ोंसे युक्त महान् रथपर बैठे हुये, लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुनने, दिव्य शंखोंको बजाया ॥ १४ ॥

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

हृषीकाणां द्विविधेन्द्रियाणां प्रेरको, भगवान्वासुदेवः, पांचजन्यनामानं शंखमधमत् । उत्तरान्कुरून् विजित्य, धनस्य विजयिना धनंजयेन अर्जुनेन, देवदत्तः शंखो ध्मातः । भीमानां भयंकराणां कर्मणां विधाता भीमकर्मा, वृकोऽग्निरुदरे यस्य स वृकोदरो, भीमो महाशंखं पौण्ड्रं दध्मौ ॥ १५ ॥

इन्द्रियोंके प्रेरक, भगवान् वासुदेवने, पांचजन्य नामका शंख और भयंकर कर्म करनेवाले भीमने पौण्ड्रनामका महाशंख बजाया ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुन्त्याः पुत्रो, युधि संग्रामे तिष्ठतीति युधिष्ठिरोऽनन्तविजयनामानं शंखमवादयत्, नकुलसहदेवौ च, सुघोषमणिपुष्पकनामानौ शंखौ धमतः स्मः॥ १६॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने, अनन्त विजय नामका शंख, और नकुल तथा सहदेवने, सुघोष और मणिपुष्पक नामके शंख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीपते, धृतराष्ट्र! महेष्वासो महाधनुर्धारी, काशीराजो, महारथी वीरपुङ्गवः शिखण्डी, तथैव धृष्टद्युम्नो, राजा विराटः, सात्यकिः, द्रुपदो राजा, द्रौपद्याः पंच पुत्राः। आजानुबाहुरभिमन्युः। इमे सर्वे वीराः पृथक् पृथक् स्वशंखानवादयन् ॥ १७ ॥ १८ ॥

हे पृथ्वीपते, धृतराष्ट्र! महाधनुर्धारी काशिराज, और महारथी शिखण्डी, तथा धृष्टद्युम्न और राजा विराट, तथा अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, तथा द्रौपदीके पांचों पुत्र, और आजानुबाहु अभिमन्यु, इन सब योद्धाओंने भिन्न भिन्न शंखोंको बजाया ॥ १७ ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथ्वीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

स प्रसिद्धो महान्नादो भूमिमन्तरिक्षं चानुनादयन्धार्तराष्ट्राणां दुर्योधनादीनां हृदयानि विदीर्णानि भयान्वितानि चकार ॥ १९ ॥

इस घोरध्वनि (आवाज) ने, आकाश और पृथिवीको प्रतिध्वनित (गूंजित) करते हुए, धृतराष्ट्रके पुत्र, पौत्र और सम्बन्धियोंके हृदयको विदीर्ण किया ॥१९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
अर्जुन उवाच।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र! अथ तदनु स्वस्वस्थाने यथाभागं व्यवस्थामाश्रित्यावस्थितान्धार्तराष्ट्रान्दुर्योधनादीन् तत्संबन्धिनः पुत्रान्पौत्राँश्च निरीक्ष्य समायाते शस्त्रास्त्रप्रहरणकाले कपिध्वजोऽर्जुनः, स्वधनुर्गाण्डीवमुत्थाप्य, हृषीकेशं स्वसारथिं कृष्णमिदं वक्ष्यमाणं वचोऽवोचत्। हे अच्युत! (च्युतिभावरहितत्वादच्युतः कथ्यसे)भवान्, द्वयोः सेनयोर्मध्ये मे रथं स्थापयतु ॥ २० ॥ २१ ॥

इसके बाद हे राजन्, धृतराष्ट्र! व्यवस्थासे खडे हुए धृतराष्ट्रके पुत्र पौत्रिक सम्बन्धियोंको देखकर, शस्त्रोंके प्रहारका समय आनेपर, कपिध्वज अर्जुनने, धनुषको उठाकर इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् वासुदेवसे ये वचन कहे. कि—हे अच्युत! (जिनकी कभी च्युति न हो) आप दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खडा कीजिये ॥२०॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

हे भगवन्, वासुदेव ! यावदहं युयुत्सूनिमानवस्थितान्पश्यामि । मयाऽस्मिन्रणोद्योगे संग्रामे कैर्वीरैः सह योद्धव्यमस्ति केच वीरा मया सह योत्स्यन्ते ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! जबतक मैं, लड़नेकी इच्छा करनेवाले इन एकत्रित हुये वीरोंको देखूं. क्योंकि इस रणके उद्योगमें (युद्धमें) किनके साथ मुझे लड़ना होगा ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

युद्धे दुष्टबुद्धेर्दुर्योधनस्य प्रियचिकीर्षयाऽत्र समागता ये भीष्मप्रभृतयः योद्धारः सन्ति । तान् योत्स्यमानानहं पश्यामि ॥ २३ ॥

दुर्बुद्धिवाले धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनकी युद्धमें जय चाहनेवाले जो ये भीष्म द्रोणाचार्यादि, कुरुक्षेत्रमें एकत्रित हुये हैं । मैं, उन युद्धकी कामनावाले योद्धाओंको अच्छी तरह देखूं ॥ २३ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजयोऽब्रवीत् । अये भरतकुलप्रवीर धृतराष्ट्र ! गुडाकाया निद्राया ईशेन, गुडाकेशेन अर्जुनेनैवमभिहितो हृषीकेशो वासुदेवो, द्वयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मादीनां, गुरुपितामहादीनामभिमुखे

संजयने कहा । हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! निद्राके जीतनेवाले योगनिष्ठ अर्जुनसे इसप्रकार कहे जानेपर, इन्द्रियोंके स्वामी हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने, अर्जुनके उत्तम रथको, दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म पितामह और द्रोणाचार्यके सम्मुख खडाकरके

रथमानीय स्थापितवान्, उक्तवांश्च, हे पार्थ ! युद्धे समवेतानिमान्कुरूनवलोकय सम्यग् ॥ २४ ॥ २५ ॥

और सब राजाओंके सामने कहा कि, हे पृथा—कुन्तीके पुत्र, अर्जुन ! तुम, युद्धकी कामनासे एकत्रित हुये इन कौरवोंको देखो ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

एवं कथितवति भगवति हृषीकेशे, पार्थोऽर्जुनो, द्वयोः सेनयोरवस्थितान्पितॄन् पितामहान्भीष्मादीनाचार्यान्,मातुलान्भ्रातॄन्, पुत्रान्, सखीन्, श्वशुरान्, सुहृदस्तथाऽन्यांश्चापि संबंधिनो, निरैक्षत ॥ २६ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके कहनेके अनंतर अर्जुनने, उन दोनों, सेनामें, खडे हुये पिताओं, दादाओं, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखाओंको तथा श्वशुरों और मित्रोंको ही देखा ॥ २६ ॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

स कुन्तीपुत्रोऽर्जुनो, युद्धेऽवस्थितान्सर्वान्बंधूनवलोक्य, महत्या कृपयाविष्टो युक्तो विषादमाचरन्निदमाह ॥ २७ ॥

वह अर्जुन, सेनामें खडे हुये उन सब बन्धुओंको देखकर, अत्यन्त कृपा (करुणा) से व्याप्त (भरकर) हो खिन्न होकर बोला ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

T

अर्जुनोऽब्रवीत् । हे समस्तैश्वैर्यादिगुणसम्पन्न, भगवन्वासुदेव ! अस्यां रणभूमौ युद्धेच्छया संमिलितान् युयुत्सून् स्वजनानवलोक्य सम्यक्समीक्ष्य, ममांगानि कम्पन्ते शिथिलायन्ते च, मुखमपि शुष्कतां याति । तथैव शरीरे रोमहर्षश्च जायते ॥ २८ ॥ २९ ॥

हे श्रीकृष्ण भगवन् ! रणभूमिमें स्थित, लड़नेकी इच्छावाले, इन अपने जनोंको देख कर मेरे अंग कांप रहे हैं और शिथिल हो रहे हैं । और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प और रोमाञ्च हो रहा है ॥२८॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
नच शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

मम कराद्गाण्डीवं प्रसिद्धं मम धनुश्च्यवतेऽधः । मम च त्वचि दाहो भवति । मया स्थातुमपि न शक्यते । मेऽन्तःकरणं भ्राम्यतीव । किमु वक्तव्यमग्रे ॥ ३० ॥

मेरे हाथसे गाण्डीवधनुष नीचे गिरता है, मेरी त्वचामें दाह हो रहा है । तथा मेरा मन चक्कर खा रहा है । और मैं, अपने शरीरको भी स्थित रखनेमें समर्थ नहीं हूं ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
नच श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे केशव ! तथैव चास्मिन्समयेऽशुभानि शकुनानि दृश्यन्ते । संग्रामे च स्वजनान्हत्वापि मोक्षाख्यं लाभं कथमपि नाहं पश्यामि ॥ ३१ ॥

हे केशव भगवन् ! मैं, बुरे और विपरीत लक्षणोंको देख रहा हूं । तथा युद्धमें, अपने बन्धुओंको मारकर मैं, अपनी मोक्षप्राप्तिरूप भलाईको नहीं देखता हूं ॥ ३१ ॥

न कांक्षे विजयं कृष्ण नच राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥

हे श्रीकृष्ण ! अहं रणे शत्रुविजयं नाभिलषामि । नच राज्यम्, नैव सुखानि । यतो हि मम स्वजनेषु दुर्योधनादिषु हतेषु राज्येन किम्प्रयोजनमस्ति । तथैव विषयभोगैर्जीवितेनापि च किम् ॥ ३२ ॥

हे श्रीकृष्ण भगवन् ! मैं विजय नहीं चाहता और न राज्य चाहता हूं, और न सुख चाहता हूं ! हे गोविन्द हमें राज्यसे क्या ? और विषयभोग व जीवनसे क्या लाभ ॥ ३२ ॥

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

वयं, येषां कृते राज्यं, विषयभोगान्, सुखानि चेच्छामः । त एव मम बन्धुबांधवा अस्मिंश्चक्षुरिन्द्रियगोचरे रणे प्राणान्धनानि च परित्यज्य (उपेक्ष्य),स्थिताः सन्ति ॥ ३३ ॥

हम जिनके लिये राज्य, विषयभोग, और सुख चाहते हैं । वे,हमारे ही ये बन्धु, बांधव प्राण और धनकी आशाको परित्याग करके युद्धमें खडे हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

एतस्मिन्दृश्यमाने रणे केचन मम शस्त्रास्त्रविद्याचार्याः। अन्ये केचन पितरः। कतिपये पुत्राः । तथैवान्ये पितामहाः मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, संबधिनश्चावातिष्ठन् ॥ ३४ ॥

इस युद्धमें कोई हमारे शस्त्रके सिखानेवाले आचार्य, कोई पिता, कोई पुत्र, कोई दादे, और ऐसे ही मामा, कोई श्वशुर, कोई नाती, कोई साले तथा कोई संबंधी हैं ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

अये मधुदैत्यहन्, श्रीकृष्ण ! एतान् मामर्जुनमभिघ्नतोऽपि स्वबन्धून्बांधवान्, त्रिलोक्याः, राज्यासादनादपि न हन्तुं वाञ्छामि । तर्हि अस्याः पृथ्व्याः कृते किम् ? ॥ ३५ ॥

हे मधुदैत्यहंता, भगवन् श्रीकृष्ण ! मुझे हनन करते हुए भी इन बन्धुबान्धवोंको, मैं, तीन लोक (स्वर्ग, भूमि, पाताल,) के राज्यके लिये भी नहीं मारना चाहता हूं । तो केवल इस पृथ्वीके लिये क्या मारूं ? ॥३५॥

T

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन! एतान्धार्तराष्ट्रान्युद्धे मर्दयित्वापि नोऽस्माकं का प्रसक्तिर्भविष्यति। प्रत्युतेमानाततायिनो हत्वा पापभाजो वयं भवेम। उक्तं च मनौ—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते ह्याततायिनः ॥" ॥ ३६ ॥

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हनन करके हमें क्या प्रसन्नता होगी? उलटा इन आततायियोंका वध करनेसे हमें पाप ही लगेगा (मनुजीने कहा है—अग्नि देनेवाला, विष देनेवाला और मारनेके लिये हाथमें शस्त्र धारण करनेवाला, धनको चुरानेवाला तथा भूमि और स्त्रीको अपहरण करनेवाला ये छः आततायी होते हैं) ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

हे रमापते! वासुदेव! अतो वयं स्वबन्धुबान्धवान् कथमपि (वाचापि) हन्तुकामा न स्मः। यतो हि स्वबन्धून् हत्वा कथमाधिव्याधिरहिताः सुखिनो भविता-स्मः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मीपते, वासुदेव! भगवन्! इस लिये हम, अपने बन्धु बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिकोंको मारनेके लिये तैयार नहीं हैं। क्योंकि, अपने ही बन्धुओंको मार कर हम, कैसे सुखी होवेंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥

राज्यासादनलोभेन ग्रसितान्तःकरणा इमे दुर्योधनादयो यद्यपि कुलनाशाज्जायमानं शास्त्रेषु वर्णितं दोषं न समीक्षन्ते। तथैव मित्रेषु द्रोहविधानात्पापं न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥

लोभसे ग्रसित चित्तवाले ये दुर्योधनादिक, यद्यपि कुलनाश करनेके शास्त्रोक्त दोषोंको, और मित्र द्रोह करनेके पातकको, नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

तथाप्युपर्युक्तं कुलनाशजं दोषं समीक्षमाणा वयमस्मात्पापान्निवर्तितुमभिलषामो न कथं कमप्युपायम् । केनोपायेनापि युद्धं न विधातव्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

तो भी हे जनार्दन ! कुल नाश करनेके दोषको देखनेवाले हम लोगोंको, इस पापसे निवृत्त होनेके लिये क्यों, उपाय नहीं जानना चाहिये ? ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुले प्रनष्टे सति परंपरयागताः कुलधर्माः नश्यन्ति । नष्टे च कुलधर्मेऽधर्मोऽतिक्रामति कृत्स्नं कुलम् ॥ ४० ॥

कुलका नाश होनेपर परंपरासे प्राप्त कुलके धर्मोंका नाश हो जाता है । और धर्मके नाश होनेपर अधर्म सम्पूर्ण कुलको दबा लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥

हे कृष्ण ! अधर्माक्रान्ते कुले जाते, कुलस्त्रियो व्यभिचाराख्यदोषेण दूष्यमाणा भवन्ति । हे वार्ष्णेय, भगवन्वासुदेव ! दुष्टासु स्त्रीषु सतीषु वर्णसंकराः समुत्पद्यन्ते ॥ ४१ ॥

हे श्रीकृष्ण भगवन् ! अधर्मके द्वारा कुलके दूषित होनेपर, कुलकी स्त्रियां व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाती हैं । और हे वार्ष्णेय ! उन दुष्टस्त्रियोंमें वर्णसंकर पैदा होते हैं ॥ ४१ ॥
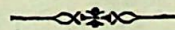
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

या च वर्णसंकरता जाता, सा कुलस्य कुलघ्नानां च नरकवासे हेतुर्भवति, नरकदायिनी सेत्यर्थः । नरकं नयाति कुलं

संकरता, कुल और कुलके नाशक पुरुषोंके नरकका हेतु ही होती है । और इन कुलघातकोंके पितर भी, वेद द्वारा बताये हुए पिण्ड-

कुलनाशकांश्च । अथच श्रुत्युक्तपिण्डदानादिक्रियाकलापनाशादेव तेषां हन्तॄणां पितरो नरके पतन्ति ॥ ४२ ॥

दान और तर्पण आदि क्रियाओंसे रहित होनेसे नरकमें गिरते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

कुलघातिनामेतैर्वर्णसंकरोत्पादकैर्दोषैः सनातनाः जातिगतधर्माः शौर्यादयः कुलधर्माश्च विनाश्यन्ते ॥ ४३ ॥

कुलघातियोंके, वर्णसंकर करनेवाले इन दोषोंसे, सनातन, जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन ! वासुदेव ! येषां पुरुषाणां कुलधर्मा विलुप्ताः अभवन् । तेषामेतादृशानां मानवानां वासो नरके भवति । इति पूर्वाचार्येभ्यो व्यासादिभ्यः श्रुतमस्माभिः ॥ ४४ ॥

जिनके कुलधर्म नष्ट हो गये हैं ऐसे मनुष्योंका, नरकमें वास निश्चयही होता है । ऐसा हमने, पूर्वाचार्य व्यासादिकोंसे सुना है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो आश्चर्यम् २,यद्वयं शास्त्रज्ञा अपि शास्त्रोक्तं विधिं जानाना, महत् (यस्य शास्त्रे प्रायश्चित्तं नास्ति) पापं विधातुं सन्नद्धाः स्म । यत्तुच्छस्य राज्यस्य लोभेन स्वजनं मातृपितृवंशजं कुलं हन्तुं शस्त्राणि गृहीत्वोद्युक्ताः स्मः ॥ ४५ ॥

अहो आश्चर्यकी बात है कि हमलोग बडे भारी पाप करनेको प्रस्तुत (तैयार) हुये हैं । जो कि, तुच्छ राज्यसुखके लोभसे अपने ही बन्धु बान्धवोंको हनन करने के लिये उद्यत हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

T

यदिच शस्त्रधारिणो दुर्योधनादयःश-स्त्ररहितमप्रतिकारिणं मामर्जुनं रणेऽस्मि-न्हन्युस्तर्हि ममातिकल्याणं स्यात् ॥४६॥

यदि शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिक, शस्त्ररहित प्रतीकार न करनेवाले मुझे, रणमें मारें तो मेरा अतिकल्याण होवे ॥ ४६ ॥

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

शोकसंविग्नमानसो व्यलीकपीडितांतः-करणोऽर्जुन एवमाभाष्य, संग्रामे सबाणं धनुस्त्यक्त्वा, रथस्यान्तिमे भागे समुपा-विशत् ॥ ४७ ॥

शोकसे पीडित हृदयवाला अर्जुन, संग्राममें इस प्रकार कहकर, तीरसहित धनुषको छोड़-कर, रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥

अध्यायसमाप्ति-मंगलाचरणम् ।

मेघश्यामोऽवदातः स्मितमधुरमुखस्तोत्रवेत्रैकपाणि-,
र्बीभत्सोः सम्मुखेऽजः श्रुतिसुरभिपयोदोहनार्थं प्रवृत्तः ।
लोकानुद्धर्तुकामः श्रुतिविशदयशा भक्तिवश्योऽमलात्मा,
स्वामी सर्वस्य कृष्णो वसतु मम मतौ ब्रह्मविद्याश्रितोऽसौ १॥

सान्वय-मेघश्यामः, अवदातः, स्मित-मधुरमुखः, तोत्रवेत्रैकपाणिः, बीभत्सोः (अर्जुनस्य) सम्मुखे, श्रुतिसुरभिपयो-दोहनार्थं प्रवृत्तः, लोकान् उद्धर्तुकामः, श्रुतिविशदयशाः, भक्तिवश्यः,अमलात्मा, सर्वस्य स्वामी, ब्रह्मविद्याश्रितः, असौ, अजः, कृष्णः, मम मतौ वसतु ॥ १ ॥

अर्थ-मेघके समान श्याम, पवित्र, मुस्कु-राहटसे मधुर मुखवाले, हाथमें चाबुक लेने-वाले, कायर अर्जुनके सामने वेदरूपी गौके, अमृतरूपी दूधके दोहनके लिये उद्यत हुये और लोगोंके उद्धारकी अभिलाषावाले, वेदोंमें विशद कीर्तिवाले, भक्तिके वशमें होने योग्य, पवित्रात्मा,ब्रह्मविद्याके आधारभूत,सबके स्वामी, अजन्मा, वे श्रीकृष्ण,मेरी बुद्धिमें वास करें।१।

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्य पूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य-स्वामी निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत-अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायामर्जुन-विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

T

ॐ वासुदेवाय नमः ।

सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

अध्याय–मंगलाचरणम् ।

पीतं वासो दधानं विजयरथगतं ब्रह्मरुद्रादिवन्द्यम्,
भूमेर्भारं जिहीर्षुं नवजलदरुचं शंखचक्राब्जहस्तम् ॥
पार्थव्याजेन लोकं निगममतसृतौ योजयन्तं महेशम्,
ध्यायेन्नित्यं सुसेव्यं सुजनमतिगृहं कृष्णमानन्दकन्दम् ॥ १ ॥

पदार्थः–पीतं वासो दधानम्, विजयरथगतम्, ब्रह्मरुद्रादिवंद्यम्, भूमेर्भारं जिहीर्षुम्, नवजलदरुचम्, शंखचक्राब्जहस्तम्, पार्थव्याजेन निगममतसृतौ, लोकम् योजयन्तम्, महेशम्, सुसेव्यम्, सुजनमतिगृहम्, आनन्दकन्दम्, कृष्णम् नित्यं ध्यायेत् ॥

अर्थ–पीतवस्त्रको धारण करनेवाले, विजयरथपर बैठे हुये, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, आदि देवताओंसे वन्दनीय, पृथ्वीके भारको हरनेकी इच्छा करनेवाले, नवीन मेघकी कान्तिवाले, शंख, चक्र और पद्मको हाथमें लेनेवाले, अर्जुनके निमित्तसे, वैदिक मार्गमें संसारको नियुक्त करनेवाले, सज्जनोंकी बुद्धिमें रहनेवाले, भलीभांति सेवनीय, आनन्दके कन्द (मूल) श्रीकृष्ण भगवान्का सदा ध्यान करें ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजयोऽवदत् । अये राजन् धृतराष्ट्र ! मधुसुदनो भगवान् श्रीकृष्णो, विषादं कुर्वाणं तथापूर्वोक्तभावदर्शनेन समुत्पन्नया महत्या कृपयाऽऽविष्टं युक्तमश्रुभिः व्याप्ते, आकुले ईक्षणे यस्य, तमर्जुनमवोचत् ॥ १ ॥

संजय बोले । हे धृतराष्ट्र ! ऐसी कृपासे भरे हुये, अश्रुओंसे पूर्ण और व्याकुल नेत्रवाले तथा विषाद करनेवाले उस अर्जुनसे, मधुदैत्यके हन्ता भगवान्वासुदेवने यह कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

भगवान् समस्तैश्वर्यादिषड्गुणसम्पन्नो वासुदेवोऽभ्यधात् । अये अर्जुन ! अस्मिन्रणसंकटे विषमकाले अनार्योचितम्, अस्वर्ग्यम्-स्वर्गफलविरोधि, अपकीर्तिक्षमं मोहाख्यं पापं, कुतो हेतोस्त्वामर्जुनमुपातिष्ठत् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले—हे अर्जुन ! अनार्यों (अज्ञानी) के योग्य, स्वर्गका विरोधी, अपकीर्ति करनेवाला, यह मोह, इस रणक्षेत्ररूपी संकट विषमावस्थामें, तुझे कहांसे प्राप्त हुआ ॥ २ ॥
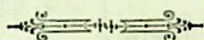
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे कुन्तीनन्दन पार्थ ! त्वं लब्धयशाः, कातराख्यं नपुंसकत्वं, मा गच्छ, मा कुरु । नैतत्त्वयिते शोभनमयशस्कारित्वात् । अये शत्रुसन्तापक परंतप, अर्जुन ! हृदयस्येमां क्षुद्रामप्रशस्तां, दुर्बलतां त्यक्त्वा, योद्धुमुत्तिष्ठ ॥ ३ ॥

हे कुन्तीनन्दन पार्थ ! तू, कायरतारूपी नपुंसकताको प्राप्त मत हो। यह तेरे लिये शोभा नहीं देती । हे शत्रुओंको संतापित करनेवाले अर्जुन ! इस तुच्छ, हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर, युद्धार्थ उठ खडा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधु-सूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनोऽब्रूत। अये मधुसूदन, वासुदेव ! अहमिमौ पूज्यौ—पितामहं भीष्मं, गुरुवर्यं द्रोणं च, कथं बाणप्रहारैः प्रहरेयम् । अर्थात् केन प्रकारेण पूज्येषु भीष्मादिषु बाणान्क्षिपेयम् ॥ ४ ॥

हे शत्रुओंके नाश करनेवाले मधुसूदन, भगवन् कृष्ण ! मैं, पूजनीय भीष्मपितामह और गुरु द्रोणाचार्यको, युद्धमें, बाणोंसे किस-प्रकार छेदूंगा ? ॥ ४ ॥

**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामाँस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥**

यतो हि, महानुभावान्पूज्यान् नानाशास्त्रकलाकौशलान्, वन्दनीयान्गुरून्, न हिंसित्वाऽस्मिञ्जीवलोके भिक्षया, लब्धं भैक्ष्यं, भोक्तुं श्रेयस्करमस्ति ॥ यदि च ते धनेच्छवोऽर्थकामाः सन्ति, तथापि तान् गुरून् हत्वा, तेषां रुधिरैः प्लावितान्भोगान् कथमनुभवेयम् ॥

यथाच वार्तिके—

"त्रयाणां वर्णानां संन्यासो विद्यते नात्र संशयः । शिक्षायज्ञोपवीतानां त्यागपूर्वकदण्डयुक्" ॥

"त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" । गृह्यसूत्रे ॥ ५ ॥

क्योंकि-पूज्य गुरुलोगोंको न मारकर, इस लोकमें भीख मांग खाना श्रेयस्कर है । और वे, यदि अर्थ लोलुप हों तोभी, गुरुलोगोंको मारकर मैं, इस लोकमें, उनके रुधिरसे सने हुये राज्य भोगोंको कैसे भोगूं ?

जैसा वार्तिकमें कहा है—" ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णोंको ही संन्यासका अधिकार है । ये शिक्षा यज्ञोपवीतादिका त्यागकर, दण्ड धारण कर सकते हैं । "

" तीनों ही वर्णोंको, चारों आश्रमोंका अधिकार है " ॥ ५ ॥

**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ६**

वयम् प्रजापालका राजानो, भिक्षायुद्धयोर्मध्ये किं श्रेष्ठमस्तीति न विजानीमहे । अथ च वयं जेष्यामस्तांस्तेऽस्मान्कौरवा वा जयेयुरित्यपि न बोधामः । यांश्च महानुभावानभिहत्य वयं जीवितुकामा न स्मः । ते धृतराष्ट्रपुत्रेण सह कृतसंबन्धा भीष्मद्रोणादयो रणेऽवस्थिताः सन्त्येव ॥ ६ ॥

और हमें—प्रजापालक राजाओंको, भिक्षा और युद्धमें कौन श्रेष्ठ है ? इस बातको, हम नहीं जान सकते । क्या युद्धमें हम जीतेंगे ? अथवा हमको ये कौरव जीतेंगे । जिनको मारकर हम, जीवित रहनेकी इच्छा नहीं रखते हैं वे ही, धृतराष्ट्रसे संबंध रखनेवाले भीष्म द्रोणादिक, हमारे सन्मुख युद्धमें खडे हैं ॥ ६ ॥

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ७**

अविद्यया जातया कृपणतया (सारासारविवेकाभावेन) कार्पण्यदोषेण, मदीयो वीरभावो विलीनतां यातस्तथा च,धर्मेऽपि कार्ये विषये, मूढतामापन्नोऽहमर्जुनस्त्वां भगवन्तं सर्वार्थदर्शिनं पृच्छामि तत्त्वनिर्णयेच्छया। यन्मे, नियतं नूनं यशस्करं भवेत्, तन्मेऽर्जुनायाचक्ष्व। अर्थात् जिज्ञासवेऽर्जुनाय मोक्षोपायं ब्रूहि। यतो हि तवाहं शिष्यः सन्त्वां शरणमुपागतोऽस्मि ॥ ७ ॥

अविद्याजन्य कृपणताके दोषसे, मेरा स्वभाव नष्ट होगया है. और धर्म विषयमें मोहको प्राप्तचित्तवाला मैं, आपसे पूंछता हूं कि—जो निश्चय पूर्वक श्रेयस्कर हो वह मुझसे कहो। अर्थात् जिज्ञासु अर्जुनको मोक्षमार्गका उपदेश करो। मैं, आपका शिष्य हूं। और आपकी शरणमें प्राप्त हुआ हूं. मुझे शिक्षा दो ॥ ७ ॥

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

यत्कल्याणमिन्द्रियाणां शोषकं शोकमपनयेत्। तत्कल्याणमहं, पृथिव्यां शत्रुरहितं राज्यमासाद्यापि, तथा च देवेषु स्वामित्वं लब्ध्वापि, नैकान्ततः प्रपश्यामि ॥ ८ ॥

क्योंकि जो श्रेय, इन्द्रियोंको शुष्क करनेवाले मेरे शोकको दूर करे, उसे मैं, भूमण्डलपर शत्रुरहित और समृद्धिवाले राज्य, तथा देवताओंके आधिपत्यको पाकरके भी नहीं देखता हूं ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥

हे धृतराष्ट्र ! शत्रु-
ुडाकेशो जितनिद्रो-
ुदेवायेत्थमाभाष्य, हे
वरिष्यामीति, उक्त्वा
।

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र ! शत्रुओंको संताप करनेवाला,(गुडाकेश) अविद्याजनित निद्राको जय करनेवाला अर्जुन, इन्द्रियोंके प्रेरक भगवान् श्रीकृष्णसे, ऐसा कह और "हे गोविन्द ! मैं न लडूंगा" ऐसा कहकर चुप होगया ॥ ९ ॥

T
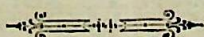
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

अये भरतकुलोत्पन्न, धृतराष्ट्र ! हृषीकेशो भगवान् वासुदेवः, सेनामध्येऽवस्थाय विषादमाचरन्तमर्जुनमुपहसन्निदं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

हे भरतकुलउत्पन्न धृतराष्ट्र ! हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णने, दोनों सेनाओंके बीचमें विषाद करनेवाले अर्जुनसे उपहास× करते हुए, ये (आगे कहे) वचन कहे ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

भगवान्वासुदेवोऽवदत्। हे अर्जुन ! ये जनाः शोच्या न सन्ति, तेषां भाविमरणं विचार्य्य तान् शोचसि। अथच पण्डितानां सारासारविवेकवतां तत्त्वज्ञानानां वादान् वचनानि ब्रूषे। हि पण्डिता ब्रह्मवेत्तारो ब्रह्मनिष्ठा ज्ञानिनः पुरुषाः, मृतान् जीवतो वापि जनान्नो शोचन्ति ॥

तथाच श्रुतौ–" तरति शोकमात्मवित् जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते" ॥ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले–कि हे अर्जुन ! तूं, जो शोक करने योग्य नहीं हैं उनका शोक करता है। और बुद्धिमानोंकी सी बातें करता है। पण्डित-अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, मरे हुये और जीवित पुरुषोंका शोक नहीं करते हैं। जैसा श्रुतिमें कहा है–

"आत्मवेत्ता पुरुष शोकातीत होता है, जीवरहित शरीरका नाश होता है, जीव नहीं मरता। जो सर्व भूतोंमें रहता हुआ सर्वभूतोंसे पृथक् है, जिसे सम्पूर्ण भूत नहीं जानते, जिसका सम्पूर्ण भूत शरीर है, जो सर्वभूतोंको, अन्तस्थित होकर नियंत्रित करता है वही तेरी आत्मा अमृतरूप है ॥ ११ ॥

× इस उपहाससे भगवान्का यह तात्पर्य है कि, वेदशास्त्रवेत्ता होनेपर भी महामनीषी मतिमान् अर्जुन, ब्रह्मज्ञानके न होनेसे कैसे व्यामोहको प्राप्त होता है तो, अन्य जीवोंकी विना आत्मज्ञानके क्या गति होगी ?

नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतःपरम् ॥ १२ ॥

नचेदमस्ति यदहं परब्रह्म, सर्वभुवनाधिष्ठाता श्रीकृष्णः, प्राक्कदाचिन्नाभवम् । अथवा त्वमपि नासीस्तथा चेमे राजानो नो आसन् । नचेदं भावि, यद् वयं सर्वेऽग्रे न भविष्यामः । तथाहि श्रुतौ—
"अविनाशी वाऽरे अयमात्मा, अनुच्छित्तिधर्मा" ॥ १२ ॥

और ऐसा नहीं है कि-मैं, श्रीकृष्ण परब्रह्म सर्वभुवनोंका आधार, इस जन्मके पहले कभी नहीं था । या तुम नहीं थे । या ये राजालोग नहीं थे । और न ऐसा है कि, हम सब लोग आगे नहीं होंगे । जैसा श्रुतिमें कहा है-
"यह आत्मा अविनाशी है, नाश होना इसका धर्म नहीं है" ॥ १२ ॥
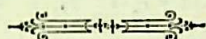
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

यथा दृश्यमानेऽस्मिन्देहे देहाभिमानिनो जीवस्य, कुमारावस्था, यौवनं, जरा च भवति । तथैव तस्यैवान्यदेहस्य प्राप्तिर्जायते । धीरो जितेन्द्रियो विद्वान् ब्रह्मात्मनिष्ठः पुरुषः, तत्र देहे एकान्तविध्वंसिनि पिण्डे मोहं न प्राप्नोति ॥ १३ ॥

जैसे, इस देहमें, देही अर्थात् देहाभिमानी जीवको, कुमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही, दूसरी देहकी प्राप्ति होती है । धीर जितेन्द्रिय ब्रह्मात्मनिष्ठ विद्वान् पुरुष, उसमें (देहमें) मोहको प्राप्त नहीं होता है ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

हे कुन्तीतनय अर्जुन ! मीयन्ते विषया आभिस्ता मात्राः, इन्द्रियाणि, तेषां स्पर्शाः संयोगसमवायादिविशेषसंबंधास्ते च मात्रास्पर्शाः शीतोष्णसुखदुःखदाः, प्रतिकूलानुकूलविषयज्ञानद्वारा सुखदुःखदायिनो भवन्ति । ते च स्पर्शा अनित्या गमागमिनश्च सन्ति । भा ब्रह्मविद्या, तस्यां

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मात्राओं (इन्द्रियों) के संबंध तो, शीत उष्ण और सुख दुःखके देनेवाले हैं, वे सब, आने जानेवाले अनित्य हैं । हे ब्रह्मविद्याके श्रवणमें प्रीति रखनेवाले अर्जुन ! तू उनको सहन कर ॥

जैसा श्रुतिमें कहा—

T

रतो भारतस्तत्संबुद्धौ हे भारत, ब्रह्मविद्यारतार्जुन ! त्वं, तान् स्पर्शान् सहस्व ॥
यथाच श्रुतौ—
"वृक्ष इव तिष्ठासे च्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत। उपल इव तिष्ठासे च्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत" ॥१४॥

वृक्षके समान स्थिर रहे, और छेदन होनेपर भी, न कुपित न कम्पित होवे, तथैव पत्थरके समान स्थिर रहे, छेदने और काटनेसे कुपित न होवे । अर्थात् सांसारिक भावोंसे उद्विग्न नहीं होवे !! १४ ॥
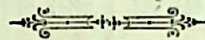
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, कुन्तीतनय अर्जुन ! सुखेषु दुःखेषु च समं यं जितेन्द्रियं, पुरिशयानं पुरुषं, मुमुक्षुं जनम्, एते मात्रास्पर्शा न व्यथयन्ति, स एव मोक्षलाभाय योग्यो भवति। तेनैव लभ्यो मोक्षः ॥

तथाच श्रुतौ—पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छदावृत्य चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥ १५ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! सुखदुःखमें समान रहनेवाले, जिस, मुमुक्षु धैर्यवान् विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुषको, ये मात्राओंके स्पर्श, अर्थात् इन्द्रिय विषयोंका संबंध व्यथित नहीं करते हैं । वह मोक्षप्राप्तिके योग्य होता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा—"परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया । इसीसे वे, बाह्य जगतकी ओर दौडती हैं और आत्माको नहीं देखतीं, कोई एक धीर पुरुष, इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी कर, अमृत (मोक्ष)की इच्छा करता हुआ, आत्मदर्शन करता है" ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

असतो वस्तुनो देहादेः, सत्ताऽविनाशित्वं न भवति । सतश्चात्मनोऽभावोऽसत्त्वं न विद्यते । ब्रह्मसाक्षात्कारं कुर्वाणास्तत्त्वदर्शिनो जना अनयोः सदसतोरन्तं पूर्वोक्तयथार्थभावं प्रापश्यन् ॥

असत् देहादिक वस्तुओंकी, सत्ता नहीं है । और सत् वस्तु आत्माका अभाव नहीं होता । ब्रह्म साक्षात्कारवान् तत्त्वदर्शियोंने, इन दोनों सत्-असत् का, अन्त (सीमा) तो देखा है ।

यथा च श्रुतौ–

यत्किंचिद्दृश्यते लोके यत्किंचन भाष्यते जनैः। यत्किंचिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमनृतमेव हि ॥

कर्तृभेदं क्रियाभेदं गुणभेदं रसादिकम्। लिंगभेदमिदं सर्वमसदेव सदाऽसुखम् ॥–

असदन्तःकरणमसदेवेन्द्रियादिकम्, असत्प्राणादिकं सर्वं संघातमसदात्मकम्, असत्यं पंचकोशाख्यमसत्यं सर्वमेव हि॥–

यद्वैतन्न पश्यति पश्यन्वै तन्नपश्यति नाहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् " ॥ १६ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"संसारमें जो दीखता है, बोलाजाता है, खाया जाता है, वह सभी मिथ्या है, असत् है।

क्रिया कर्ता और गुणादिक भेद, तथा काल भेद, देशभेद, जय पराजय, ये सब, असत् हैं।

अन्तःकरण भी असत् है, इन्द्रियादिक सर्व असत् हैं, प्राणादिक पंच और देहत्रयका संघात, तथा पंचकोश, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय, जिसमें–अन्नमयकोश-स्थूल शरीर रूप है। और प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये सूक्ष्मशरीररूप हैं। और आनन्दमय, कारण शरीररूप है। ये सब असत् हैं।

जो सत् रूप ब्रह्म है वह, चर्मचक्षुओंको दीखता नहीं, सर्व क्रियाओंसे रहित है, ज्ञानरूप है, उस द्रष्टाका, लोप नहीं है, न उससे अन्य कोई वस्तु है, जिसे देखे, वह, मनोवाचातीत है " ॥ १६ ॥
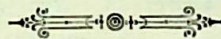
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

येन सद्रूपेण, परब्रह्मणेदं, दृश्यमानं मायिकं सर्वं प्रपंचं, व्याप्तं विद्यते। त्वं, तत्सद्ब्रह्म, अविनाशि जानीहि। अविकारिणोऽविनाशिनोऽव्ययस्यस्यब्रह्मणो, नाशं कर्तुं न कोऽपि शक्नोति देवादिः।

तथाच श्रुतौ–"सच्चिदानन्दोऽहमनुत्पन्नो निर्विकारी सदाऽक्रियः, आत्मैवाहं परं सत्यं नान्यथा संसारदृष्टयः " ॥ १७ ॥

जिस, सत्तारूप परब्रह्मसे, मायिक प्रपंच व्याप्त है तूं अर्जुन, उसको विनाश रहित ही जान। इस, अव्यय-अर्थात् निर्विकार ब्रह्मात्माका, नाश करनेमें, कोई देवादिक भी, समर्थ नहीं हैं। जैसा श्रुतिमें कहा है–

"मैं, सत् चित् आनंद रूप हूं। सदा अविक्रिय हूं। आत्मा ही पर सत्य है और सर्व संसार दृष्टि, मिथ्या है" ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

हे भारत अर्जुन ! अस्य—पूर्वोक्तस्यात्मनोऽविनाशिनः, अप्रमेयस्य—प्रमाणादिभिरग्राह्यस्य, नित्यस्य त्रिकालाबाधितस्य, शरीरिणः, इमे दृश्यमाना देहा अन्तवन्तो नाशिनः सन्ति । तस्मात्त्वं युद्धयस्व योद्धुमुत्तिष्ठ ॥ तथाच श्रुतौ—

"एतदप्रमेयं ध्रुवम्, विज्ञातमरे केन विजानीयात्, यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" ॥ १८ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! इस, अविनाशी, शरीर उपाधिवाले, नाशरहित, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, आत्माके ही, ये नाशवान् सब देह कहे हैं । इस कारण तूं युद्ध कर ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"यह आत्मा—अप्रमेय है, ध्रुव और नित्य है. सर्व इन्द्रियोंका ज्ञाता होनेसे किसीके द्वारा नहीं जाना जाता है । जो कि साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है वही सर्वान्तर्यामी आत्मा है" ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

योऽज्ञानी जन, एनमात्मानं हन्तारं नाशयितारमवगच्छति । तथाचेममात्मानं हतं नष्टं यो जानीते । तौ द्वावपि पुरुषाविममात्मानं न जानीतः । यतो ह्ययमात्मा न च हन्ता, न च हन्यमानो भवति । अनेन क्रियायाः कर्तारं कर्मविषयं च निवारितवान् ॥

तथाच श्रुतौ—

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" ॥ १९ ॥

जो अज्ञानी जन, इस आत्माको, हनन करनेवाला जानता है तथा जो, इस आत्माको, हत हुआ मानता है वे दोनों, इस आत्माको नहीं जानते हैं । क्योंकि—यह आत्मा, न हनन करता है. और न हनन किया जाता है । इस वचनसे, आत्माको, हनन क्रियाका कर्ता और कर्म, दोनोंका निवारण किया ।

जैसा श्रुतिमें कहा—

"जो मारनेवाला पुरुष, इसको मारनेका विषय (कर्म) जानता है. और मरा हुआ पुरुष, आत्माको, मरा हुआ, समझे । ये दोनों, आत्माको नहीं जानते । क्योंकि—आत्मा न मारनेवाला, न मारा जाता है" ॥ १९ ॥
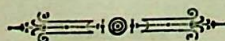
न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वाऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अयं ब्रह्मात्मा, नच जन्मभावं लभते, न च म्रियते । अथच नायमात्मा, कदाचिदपि शरीरमिव प्रागभूत्वा पुनर्नो जायते । यतो ह्ययमात्मा, जन्मादिषड्विकारविहीनो, नित्यः, शाश्वतो, त्रिकालाबाधितो, ध्रुवः, पुराणो, विद्यते । नच शरीरे नाशिते सति, हन्यते । शरीरमिवास्यात्मनो नाशो भवितुं शक्यत इत्यर्थः ॥ यथा नष्टे घटे घटाकाशो न नश्यति तस्य महाकाशस्वरूपत्वात् । तथाच श्रुतौ—

'नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः । अविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' २०

यह ब्रह्मरूप, आत्मा, न जन्मता है, न, मरता है अथवा न, यह कभी, शरीरके समान, पूर्वमें विद्यमान न होकर, पुनः होनेवाला नहीं है । यह, अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अर्थात् निरन्तर एकरस और पुराण अर्थात् पुरातन है. यह आत्मा, शरीरके मारे जानेपर, मारा जाता नहीं है. जिसप्रकार, घटके ध्वंस होनेपर घटाकाशका नाश नहीं होता है । क्योंकि, घटाकाश महाकाश स्वरूप है,—

जैसा कि श्रुतिमें कहा—

" इस ब्रह्मात्माका, कोई पैदा करनेवाला नहीं है, न कोई, इसका स्वामी है, यह आत्मा अविनाशी धर्मवाला है" ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

अये पृथापुत्र, पार्थ ! यो मानव, इममात्मानमविनाशिनं नित्यमजन्मानं च वेत्ति । स मानवः, कं केन शस्त्रादिना नाशयति । कंच केनापि द्वारेण घातयति । अर्थात् महाकाशवदलेपी निर्लिप्तो जन्मादिषड्विकारविहीनोऽयमात्मा, कमपि मानवं केनापि प्रकोरण न हन्ति, नच प्रेरको भूत्वा कमपि घातयति, कर्तृत्वाभावात् ।

तथाच भाष्यकारेणोक्तम्—

'न नभो घटयोगेन सुरागंधेन लिप्यते। तथाऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैणैव लिप्यते' २१

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष, इस आत्माको, अविनाशी, नित्य, अजन्मा और निर्विकार रूप जानता है । वह पुरुष, किसको हनन करता है । तथा किसको हनन कराता है । अर्थात् महाकाशवत्, जन्मादि षड्विकाररूप क्रिया रहित होनेसे, यह ब्रह्मात्मा, किसी भी प्रकारसे न हनन करता है और न प्रेरक बनकर, हनन कराता है ॥ भाष्यकारने कहा है—

"जैसे आकाश, घटमें भरी हुई शराबकी गन्धसे दूषित नहीं होता, वैसे ही साक्षी आत्मा, देह और देहोंके धर्मोंसे दूषित नहीं होता" ॥ २१ ॥

T

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

यथाच—मानवो जीर्णानि वस्त्राणि परित्यज्य, नवतराणि वस्त्राणि परिदधाति। तथैवायं देहाभिमान्यात्मा, जीर्णमुपभुक्तकर्मफलभोगं शरीरं प्रहायान्यन्नवतरं शरीरं,कर्माणि कर्तुं तत्फलानि च, भोक्तुमुपादत्ते ।

यथा चोक्तं—

"कुर्वते कर्मभोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते । नद्यां कीट इवावर्तादावर्तान्तरमाशु च ॥ स कर्मभिर्जायते तत्र तत्र" ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य, जीर्णवस्त्रोंको परित्याग कर नवीन वस्त्रोंको धारण करता है। वैसे ही यह देही, अर्थात् देहाभिमानी आत्मा भी, कर्मवश जीर्ण शरीरोंको परित्याग कर, दूसरे नवीन शरीरोंको कर्मफलभोगार्थ प्राप्त होता है ।

जैसा कि कहा है—

"कर्म, भोग करनेके लिये करते हैं और कर्म करनेके लिये, भोगानुभव करते हैं । जिसतरह कीट, एक भवँरसे निकल कर दूसरेमें गिरता है । इसी तरह यह आत्मा भी,सकामी बनकर अन्यअन्यशरीर ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

न चैनमविनाशिनमात्मानं, शस्त्राणि छेत्तुं प्रभवन्ति, न चैनमात्मानमग्निरपि दग्धुं शक्तो भवेत् । न चात्मानं, जलमपि क्लिन्नं कर्तुं समर्थमस्ति । न चैनमात्मानमाशुशुक्षणिर्वायुरपि, शोषयितुं प्रभवति । यतो हि निरवयवश्चेतनोऽयमात्माआकाशवदस्ति । यथाच श्रुतौ—'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' ॥ २३ ॥

न, इस अविनाशी आत्माको, शस्त्र छेदन कर सकते हैं, न,इस आत्माको, अग्नि जलाती है, न, इसको जल गीला करता है और न वायु सुखाता है । यह निरवयवचेतन आत्मा, आकाशवत् है । जैसा श्रुतिमें कहा है—

"यह आत्मा,आकाशके समान सर्वव्यापक और नित्य है" ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

आकाशवन्निरवयवत्वाद्धि, आत्माऽयं नच शस्त्रादिना छेत्तुं भेत्तुं शक्योऽस्ति। नचार्द्रीभवितुं शक्यते। नच तृणादिवद्दग्धुं योग्योऽस्ति। नच शुष्कतां याति। वस्तुतस्तु–अयमात्मा, नित्यः सर्वव्यापी, स्थिरोऽचलस्त्रिगुणात्मिकायाः क्रियायाः संबंधेन रहितः, सनातनोऽनन्तोऽनादिश्च विद्यते। तथाच श्रुतौ–

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ २४ ॥

आकाशके समान निरवयव होनेसे, यह आत्मा,–न कटने योग्य है, न, जलनेके योग्य है, न, भीजनेके योग्य है, और न तृणादिकोंके समान सूखनेके योग्य ही है, यह आत्मा, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर और त्रिगुणात्मक क्रिया रहित होनेसे, अचल, सनातन, अर्थात् अनंत और अनादि है–जैसा कि श्रुतिमें कहा है– सत्य, ज्ञान, और अनन्तस्वरूप आत्मा है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अयमात्मा, रूपादिपंचविशेषगुणवत्त्वाभावादिन्द्रियजन्यज्ञानस्याविषयत्वादव्यक्तोऽप्रत्यक्षोऽस्ति ज्ञानविहीनानां पुरुषाणाम्। तथाचानुमानादिप्रमाणजन्यज्ञानागोचरत्वादचिन्त्यो भवति। निरवयवत्वेन निर्विकारः। इत्थं, वेदैः प्रतिपादितमात्मस्वरूपम्। अतो हे अर्जुन! इममात्मानं प्रोक्तरूपं ज्ञात्वा, शोकं कर्तुं न योग्योऽसि।

यथा च श्रुतौ–

"अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा, धीरो न शोचति" ॥ २५ ॥

यह आत्मा, रूपादिक गुणोंसे रहित होनेसे, नेत्रादिक इन्द्रियोंके ज्ञानका, विषय न होनेके कारण, शास्त्रज्ञानहीन पुरुषोंको, अव्यक्त अर्थात् अप्रत्यक्ष है, और अनुमानादि प्रमाणजन्य ज्ञानका विषय न होनेसे, यह आत्मा, अचिन्त्य है। तथा यह आत्मा, निरवयव होनेसे विकार रहित है। ऐसा, वेदोंने कथन किया है। इस कारण हे अर्जुन! इस आत्माको, इस (उक्त) प्रकारसे जानकर, तूं, शोक करनेके योग्य नहीं है।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है–"जो, शरीरत्रयसे रहित है और अनित्य सर्व देहमें, साक्षीरूपसे स्थित है, इस विभु आत्माको, जानकर, विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुष, शोक नहीं करते हैं" ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

T

यदि च वेदविरुद्धं पक्षान्तरमाश्रित्य, त्वमिममात्मानं, नित्यं सदैव जायमानं, मृतं च, मन्यसे । तथापि हे विशालबाहो! वीर, अर्जुन ! त्वमित्थं शोकं विधातुं, न शक्नोषि ॥ २६ ॥

और यदि, तूं, वेद विरुद्ध अन्य पक्षसे, इस अविनाशी आत्माको नित्य ही जन्मता हुआ, और नित्यही, मरता मानता है । तोभी, हे विशाल भुजाओंवाले वीर, अर्जुन ! तूं शोक करनेके योग्य, नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जातस्योत्पन्नस्य वस्तुनो, मृत्युर्नाशो ध्रुव एकान्ततो भवति । अथ मृत्युभावं गतस्य, पुनरुत्पत्तिर्जन्म जायते । अतस्त्वमस्मिन्ननिवार्ये विषये—नाशजनने, शोकं कर्तुं न योग्योऽसि ।

यथाच भारते—"अद्य वापि शताब्दे वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः" ॥ २७ ॥

क्योंकि, जन्मनेवालेकी, मृत्यु अवश्यंभावी है । और मरनेवालेका, जन्म निश्चित है । इस कारण, इस अनिवार्य, निवारण न होसकनेवाले कार्य (जननमरण) में, तुम, शोकको करनेके योग्य, नहीं हो ।

जैसा कि महाभारतमें कहा है—

आज, या सौवर्षके बाद भी, प्राणियोंकी मृत्यु (नाश) है ही ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

हे ब्रह्मविद्यारत, अर्जुन ! एतानि शरीराणि भूतानि, अव्यक्तानि—जन्मनः प्रागादौ—अपरोक्षाणि विद्यन्ते, मध्ये च कार्यावस्थायां, प्रत्यक्षतां यान्ति । अन्ते च, पुनरप्रत्यक्षतां गच्छन्ति । ईदृशे शरीरे, तवार्जुनस्य, शोको विलापः कथं भवति । यतो हि, यानि चोत्पत्तेः प्रागदृश्यानि भवन्ति, विनाशकालेऽन्तेऽप्यदृश्यानि भवंति तेषु, मध्यान्हकाले मरुभूमौ प्रतीयमानेषु

हे ब्रह्मविद्याप्रेमी अर्जुन ! ये शरीर अव्यक्त अर्थात् अप्रत्यक्ष या परोक्ष आदिवाले हैं । अर्थात्, जन्मके पहले, ये अप्रत्यक्ष हैं । प्रत्यक्ष मध्यवाले । और अप्रत्यक्ष, अंतवाले हैं । अर्थात् उत्पत्ति अवस्थामें दीखते हैं और अंतमें भी, अव्यक्त अप्रत्यक्ष होजाते हैं। ऐसे शरीरोंके विषयमें, दुःखजनित प्रलाप कैसा ? अर्थात् जो, उत्पन्न होनेसे पहले अदृश्य थे, और अंतमें भी, अदृश्य होजाते हैं, उन,

जलेष्विव प्राणिषु, शरीरेषु विषयेषु ते कीदृशः शोक आक्रोशो वा, किमर्थं भवति । तथाचोक्तं भारते—

"अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना" ॥ २८ ॥

मरूभूमिमें मध्याह्नके मृगजलके समान, केवल बीच बीचमें प्रतीत होनेवाले, प्राणियों या शरीरोंके लिये, रोना धोना कैसा ॥ महाभारतमें कहा है—"यह भूतसंघात (शरीरादिक), अव्यक्तरूपसे आया और फिर अदृश्य होगया, यह न तेरा है, और न तूं उसका है, उसमें शोक करना व्यर्थ है" ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् २९

कोऽपि विद्वानाचार्यः, एतमात्मानमदृश्यत्वादाश्चर्यमिव पश्यति। तथा चान्योऽपि, अनिर्वचनीयत्वादेनमाश्चर्यवत् कथयति । अथच केचन नैयायिकादयः, स्वतः वेदान्तज्ञानरहितत्वेन, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशेषभावाभाविनमेनमात्मानं,निर्गुणत्वादव्यक्तत्वाच्चाश्चर्यवच्छृण्वन्ति । कश्चनातिमलनान्तःकरणत्वादेनमात्मानं, श्रुत्वापि दुर्ज्ञेयमात्मतत्त्वं न वेत्ति । यथा च श्रुतौ— "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ २९ ॥

कोई आचार्य, इस आत्माको,अदृश्य होनेके कारण आश्चर्यके समान देखता है और वैसे ही दूसरा कोई, इसको अनिर्वचनीय होनेके कारण, आश्चर्यके समान कहता है । कोई नैयायिकादि, स्वतः ज्ञानरहित होनेसे, इस आत्माको, कर्तृत्व और भोक्तृत्वहीन निर्गुण होनेके कारण, आश्चर्यके समान सुनता है और कोई, अतिमलिनचित्त-पुरुष, सुनकर भी कष्टसे जाननेके योग्य दुर्ज्ञेय इस आत्माको, जानता नहीं है । जैसा श्रुतिमें कहा है"—जो अविनाशी आत्मा है, वह तत्त्व, सुननेके लिये भी बहुत जनोंको नहीं मिलता, क्योंकि, वे अज्ञानी जन, मलविक्षेप और आवरण दोनोंसे युक्त हैं । और बहुत जन सुनकरके भी, इसे यथार्थरूपसे नहीं जानते । क्योंकि, इसको कहनेवाला ब्रह्मवेत्ता, दुर्लभ है और साक्षात्कार करनेवाले कुशल आचार्यके द्वारा, शिक्षित साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी, श्रवण मनन निदिध्यासन-रूप साधनोंद्वारा, ब्रह्मात्माका साक्षात्करनेवाला भी, दुर्लभ है ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अये भरतकुलोत्पन्न, पृथातनय ! सर्वेषां देहाभिमानिनां प्राणिनां, देहेऽवस्थितोऽयमात्मा देही, नित्यमवध्यः केनापि छेत्तुं नाशयितुं योग्यो, न भवति । अतस्त्वं, सर्वेषां जीवानां युद्धे चावास्थितानां, शोकं कर्तुं न योग्योऽसि ॥ ३० ॥

हे भरतकुल उत्पन्न, अर्जुन ! सर्वदेहाभिमानी प्राणियोंके देहमें स्थित यह देही, अर्थात् आत्मा, नित्य अवध्य-मारेजानेके योग्य नहीं है । इसकारण तूं, सर्वभूतों प्राणियोंका शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

तथाच युष्मदीयं क्षात्रं धर्मं दृष्ट्वाऽपि, त्वं युद्धात्पदमेकं गन्तुं न शक्नोषि । यतः क्षत्रियधर्मवतो वीरस्य क्षत्रियस्य धर्मादनपेताद्युद्धादन्यत्कल्याणसाधनं नास्ति॥

तथा चोक्तं–

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः" ॥ ३१ ॥

और, अपने वेदोक्त क्षत्रिय धर्मको देखकर भी, तूं, युद्धसे चलायमान होनेके योग्य, नहीं है । क्योंकि, क्षत्रियको, धर्मयुक्त युद्धसे अन्य कोई, श्रेय अर्थात् कल्याणका साधन विद्यमान नहीं है, जैसा-कहा है–"सूर्यभेदन करके ब्रह्मलोकको जानेवाले, दोही पुरुष हैं–एक तो आत्मज्ञानहीन योगयुक्त संन्यासी । और दूसरा, जो युद्धमें सन्मुख होकर, शूरवीर मरा है" ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! प्रयत्नं विनापि, स्वत आगतं युद्धं, स्वर्गस्यापिहितं द्वारमास्ति । एतादृशं, स्वर्गद्वारीभूतं युद्धं, केचन महान्तो जितेन्द्रिया ब्रह्मनिष्ठाः क्षत्रियाः, प्राप्नुवन्ति ॥ ३२ ॥

और, हे पार्थ ! विना प्रयत्नके अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध, स्वर्गका खुला हुआ द्वार है । इसप्रकारके युद्धको, बडे भाग्यवान् जितेन्द्रिय, ब्रह्मनिष्ठ क्षत्रियलोग, पाते हैं ॥ ३२ ॥

T

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

यदि च त्वमिमं धर्मयुक्तं धर्म्यं युद्धं नाचरिष्यसि । तर्हि, स्वीयं क्षात्रं धर्मं स्वकीर्तिं च हित्वा, पापं प्रयास्यसि त्वम् ॥ ३३ ॥

और यदि, तू, इस धर्मरूप संग्रामको, नहीं करेगा । तो, अपने क्षत्रियधर्म और कीर्तिको परित्याग करके, पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

धर्मात्मानो वीरा मानवाश्च, ते तवार्जुनस्य, यावत्प्रलयमपकीर्तिं वदिष्यन्ति । यतः सा, प्रख्यातस्य माननीयस्य पुरुषस्यापकीर्तिः, मरणादप्यधिका दुःखदात्री भवति ॥ ३४ ॥

और, धर्मात्मा, वीर दीर्घकाल पर्यन्त तुम्हारी अपकीर्ति भी कथन, करेंगे । और माननीय पुरुषकी अकीर्ति, मरणसे भी अधिक दुःखप्रद है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

वीराश्च महारथिनो दुर्योधनादयः, त्वां भयात् युद्धान्निवृत्तं, ज्ञास्यन्ते। येषां ब्रह्मविदाश्च, त्वं सन्मानार्ह आसीः । तेषामग्रे त्वं, लघुतां यास्यसि ॥ ३५ ॥

शूरवीर महारथी, दुर्योधनादिक, तुझे भयके कारण, संग्रामसे निवृत्त हुआ मानेंगे । और जिनका, तू बहुत माननीय मान्यवर था । उनके आगे, तू, लघुताको प्राप्त होगा ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

अथच तवाहितकर्तारो दुर्योधनादयः ते सामर्थ्यमप्रतिमं प्रभावं निन्दिष्यन्तः, प्रचुरानवाच्यवादान्, अश्रवणीयान्, कथयिष्यन्ति । एतस्मादधिकं दुःखं किं जायेत ॥ ३६ ॥

और, तेरे अहितकर्त्ता दुर्योधनादिक, तेरे सामर्थ्यकी निन्दाकरते हुये, बहुतसे अयोग्यवचनोंको कहेंगे । इससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥
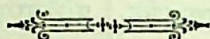
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हे कौन्तेय ! यदि च, त्वं, युद्धे हतोऽपि भवेः, तर्हि स्वर्गं गमिष्यसि । अथवा, जितयुद्धो भवेस्तर्हि, पृथ्वीराज्यभोगाननुभविष्यसि । अत, उभयफलदायित्वाद्योद्धुं दृढनिश्चयो भूत्वोत्तिष्ठ ॥

तथाच भारते-"जये च लभते लक्ष्मीं मृतो वापि सुरांगनाम् । क्षणे विध्वंसने काये का चिन्ता मरणे रणे" ॥ ३७ ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! यदि तू, युद्धमें मारा जायगा, तो, स्वर्गको प्राप्त होगा । और यदि जीत गया, तो, पृथ्वीके राज्यसुखको भोगेगा । इसलिये, युद्धके अर्थ दृढनिश्चयवाला होकर उठ ।

महाभारतमें कहा है—कि, जय होनेपर, राज्यलक्ष्मी प्राप्त होती है । और मृत्यु होजानेपर, अप्सरायें मिलती हैं । तथा स्वप्नके समान क्षणभरमें नाश होनेवाले शरीरकी, रणमें क्या चिन्ता करता है ? ॥ ३७ ॥

—०—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

सुखं च दुःखम्, लाभं हानिं च, जयं पराजयं च, सर्वमेतत्समं विधाय(ज्ञात्वा), योद्धुं प्रस्तुतो भव । यतो ह्येवं युद्धमाचरंस्त्वं, साक्षीव स्वप्नस्य कुलक्षयादिजातं पापं नाधिगमिष्यसि ॥ तथाच श्रुतौ—

"यथा स्वप्नप्रपंचोऽयं मयि मायावि-

सुख दुःख, लाभ हानि, और जीत हारको, समान समझकर, युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत हो । इस प्रकार युद्ध करता हुआ, स्वप्नसाक्षीवत् कुलक्षयादिके पापको प्राप्त नहीं होगा ।

"जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

जिसतरह "स्वप्न प्रपंच" मायाके द्वारा मुझ (आत्मा) में, कल्पित है, उसीतरह यह

जृम्भितः ॥ तथा जाग्रत्प्रपंचोऽपि मयि-मायाविजृम्भितः" ॥ ३८ ॥

दृश्यमान मायारचित जाग्रत् जगद्भी आत्मामें कल्पित है ऐसा निश्चय कर ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अये पार्थ ! एषा पूर्वोक्ता आत्मनि सांख्ये विषये ते बुद्धिरुपदेशो ज्ञानं साक्षात् शोकमोहादिसंसारहेतुदोषनिवृत्तिकारणम् कथिता । अर्थात् आत्मस्वरूपवर्णनमुपदिष्टमस्ति । अतःपरं त्वम्, कामनाविरहिते कर्मात्मके योगे विषये वक्ष्यमाणामिमां बुद्धिं शृणु । यया बुद्ध्या युक्तः सन् त्वं कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! संसारके हेतु शोक मोहादि कारणोंको निवृत्त करनेवाला, आत्मविषयक ज्ञानका उपदेश किया । अब तू निष्काम कर्मयोगमें बुद्धिको श्रवण कर । जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मबन्धनोंका परित्याग करेगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! इहास्मिन्कर्मयोगे, निष्कामभावनया कर्मयोगे (कृते सति), कर्मफलस्य नाशो नास्ति कृष्यादेरिव । तथाच प्रत्यवायः सकामविधेरुल्लंघनात्मकं कर्मवैगुण्यं पापमपि न जायते । अस्य-निष्कामकर्मणः स्वल्पमप्यनुष्ठानं कृतं, महतो भयात्संसारात्त्रायते निष्कामकर्मणः कर्तारम् ॥ ४० ॥

हे अर्जुन ! इस निष्काम कर्म योगमें, कर्मके फलका नाश नहीं होता, कृषी आदिके समान । तथा प्रत्यवाय अर्थात् सकाम विधिवाक्यके उल्लंघनका पाप भी नहीं होता है । इस निष्काम कर्म योगरूप धर्मका, थोडा अनुष्ठान किया हुआ अंश भी, महान् जन्म मरणादिक भयसे रक्षा करता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कौन्तेय, अर्जुन ! इह श्रेयोमार्गेऽस्मिन्नात्मविषयिणी, कामादिसंकल्पादिहीना, "अहं ब्रह्मास्मीत्याकारा," बुद्धिर्व्यवसायात्मिका, निश्चयात्मिका खलु एकैवास्ति । सत्यासत्यविवेकशून्यान्तःकरणानामज्ञानां पुरुषाणां तु नानाभोगकामनाख्याभिः शाखाभिर्युक्ताः अनेका अनन्ता बुद्धयः प्रेयोमार्गे भवन्ति ॥ ४१ ॥

हे कुन्तीनन्दन,अर्जुन ! इस श्रेयके मार्गमें आत्मतत्त्वको अवगाहन करनेवाली, काम कर्म आदि संकल्पोंसे रहित, निश्चयात्मक "अहं ब्रह्मास्मि" रूप बुद्धि एक ही है । और सत्यासत्यके विवेकसे शून्यचित्तवाले, अज्ञानीपुरुषोंकी बुद्धि, नानाप्रकारकी भोग कामनाओंसे युक्त, अनंत शाखावाली होती है ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! ये—आत्मज्ञानविहीनाः पण्डिताः पुरुषाः, यां-कर्मकाण्डविधानात्मिकां वाणीं वाचं वदन्ति । सा वाणी, यथार्थात्मज्ञानस्य, अप्रतिपादकत्वाद्रमणीया मनोहरा जनानां भवति । तथाच सा वाग्जन्मकर्मफलानि, ददातिप्रयच्छति लोकाय । अथच भोगैश्वर्यादीनां प्राप्तये सकामनानि यज्ञादीन्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि, विस्तारेण प्रतिपादयति । अनुष्ठेयत्वेन विधत्ते ॥ एतादृशीमतिरमणीयां पुष्पितां वाचं कथयन्तो, मानवा यथात्मतत्त्वविचारहीनाः, वेदे तदंगार्थवादे च प्रीतिं मनसोऽभिनिवेशं

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! वे विचारहीन पण्डित पुरुष, जिस प्रसिद्ध कर्मकाण्डरूप वाणीको कहते हैं । वह वाणी अविचारसे रमणीक है । और जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली है । तथा भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये सकाम अग्निहोत्रादिक कर्मोंको विस्तारसे प्रतिपादन करनेवाली है । ऐसी वाणीका कथन करनेवाले वे ब्रह्मविचारहीनपुरुष, वेदके अर्थवादमें प्रीति करनेवाले हैं । और कर्मके फलसे भिन्न कोई दूसरा ज्ञानका फल (मोक्ष) नहीं है । इसप्रकारका कथन करनेवाले हैं ।

कुर्वंतीतथाच कर्मफलात्स्वर्गादेरन्यज्ज्ञानफलं किमपि नास्तीति वादिनः सन्ति । ते च पण्डिताः, ब्रह्मविचारज्ञानशून्याः प्रबलभोगेच्छाक्रान्तचित्ताः कामरूपाः विद्यन्ते। तथा स्वर्गैकफलोत्कृष्टाभिमानानां,भोगैश्वर्यादिफलेषु रतचित्तानां पुषितया वाचाच्छादितान्तःकरणानां, विषयेषु लम्पटत्वं भजमानानां बहिर्मुखानां (पुरुषाणां) समाधौ "समाधीयन्ते विषयाः यस्मिन् तस्मिन्" मनस्यन्तःकरणे, ब्रह्मविषयाऽहंब्रह्मास्मीत्याकारा व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नोपजायते ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

तथा प्रबल भोगेच्छायुक्त कामरूप हैं । और स्वर्ग ही उत्कृष्टफल जिनको, तथा भोगैश्वर्यादिमें ही आसक्ति है, जिन्होंकी, और उस वाणीसे आच्छादित है चित्त जिन्होंका ऐसे, विषय लम्पट बहिर्मुख पण्डित पुरुषोंके अन्तःकरणमें वह व्यवसायात्मिका अर्थात् ब्रह्मविषयक अहंब्रह्मास्मिरूप बुद्धि नहीं होती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

कर्मकाण्डात्मको वेदः, सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं लौकिकं पारलौकिकं च विषयसुखमेव प्रकाशयति । त्वं तु सत्त्वादिगुणत्रयान्निवृत्तो भव। अथच परस्परविरोधिभ्यः सुखदुःखादिद्वन्द्वधर्मेभ्यः पृथग् भव अर्थात् द्वंद्वातीतो भव। तथाच सत्त्वजे धैर्ये स्थितो भव। अप्राप्तस्य वस्तुनः प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः, इमौ द्वावपि योगक्षेमौ विहाय ब्रह्मात्मनि स्थिरचित्तो भव। तथाच श्रुता–

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परिय-

मंत्रभागरूप वेद, सत, रज और तमोगुणरूप, त्रिलोक रूप संसारके जो विषयसुख हैं, उनको प्रकाश करनेवाले हैं ।

हे अर्जुन ! तू, उन सत्, रज और तमरूप तीनों गुणोंसे रहित हो । तथा परस्पर विरोधी सुख दुःख, शीत उष्ण, और मान, अपमान, राग द्वेष आदि द्वन्द्व धर्मोंसे रहित हो । तथा सर्वदा सत्त्व गुणके कार्य धैर्यमें स्थित हो । और योग (यह वस्तु हमें कैसे मिलेगी) क्षेम (यह वस्तु हमारे पास कैसे रहेगी) इन दोनों चिन्ताओंको छोड, आत्मवान् ब्रह्मात्मामें निश्चल चित्तवाला हो ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—अविद्या—माया—के कार्योंमें अभिमान पूर्वक व्यवहार करनेवाले, लौकिक बुद्धियुक्त, अपनेको पण्डित समझने-

न्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्, अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनःपुनर्वशमापद्यते मे" ॥४५॥

वाले, अत्यन्त कुटिल मार्गसे चक्कर लगाने-वाले, मूढ अविवेकी पुरुष, अनर्थोंको प्राप्त होते हैं, जिसतरह कि अन्धोंको लेकर चलने-वाला अन्धापुरुष।

यह मुक्तिका मार्ग, विवेकरहित धनादिमें मोहित,प्रमाद करनेवाले पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकता। जो पुरुष ऐसा समझता है कि, इस लोकको छोड़कर अन्य कोई दूसरा लोक नहीं है, वह मानी पुरुष, मृत्युके वशमें पड़कर जन्म मरणके फलोंको वारंवार पाता है ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

यथाचाल्पोदकवति जलाशये स्नान-पानादिरूपं प्रयोजनं सिद्ध्यति क्रियते। तावदेव सर्वतः परिपूर्णे जलाशये भवति। तथैव सर्वेषु वैदिक-काम्य-कर्मसु कृतेषु, यावन्तो हिरण्यगर्भलोकान्ता आनन्दाः प्राप्यन्ते। तावन्त एवानंदा ब्रह्मसाक्षा-त्कारं कृतवतो ब्रह्मविदोऽपि संन्यासिनो जायन्ते। तथाच श्रुतौ—

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा। ये ते शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥४६॥

जैसे कि, अल्पजलवाले स्थानोंमें जितना स्नानपानादिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। उतना, सर्व ओरसे परिपूर्ण जलवाले एकही मीठे जलके भारी जलाशयमें सिद्ध होजाता है। वैसेही सर्व वेदोक्त काम्य कर्मोंमें, जितने हिरण्यगर्भ लोकपर्यन्त आनन्द प्राप्त होते हैं, उतने सब, ब्रह्म साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मवेत्ता संन्यासीको प्राप्त हो जाते हैं। जैसा कि श्रुतिमें कहा है—वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष, मोक्षा-नंदको पाकर आनन्दित होता है।

जो प्रजापतिके सैकड़ों आनन्द हैं वे सब, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय विद्वान्को स्वयं प्राप्त होते हैं। क्योंकि वह सर्वात्मरूप है ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! तव, जनकादिवत् स्वकर्मण्येवाधिकारो विद्यते । कर्मफलेषु च कदापि नास्ति । अर्थात् कर्मफलगृध्नुः मा भव । अतस्त्वं कर्मफलहेतुः कर्मफलाकाङ्क्षी नो भव । अथवाऽकर्मणि कर्मपरित्यागे तव स्पृहापि न जायताम् ।

यथाच श्रुतौ–

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"॥ ४७ ॥

हे अर्जुन ! तेरा, जनकादिकोंके समान केवल निष्काम कर्ममें ही अधिकार है । कर्मफलमें कदापि नहीं है । तू, कर्मफलोंका हेतु अर्थात् कर्मोंके फलोंकी अपेक्षा करनेवाला मत हो । तथा कर्मके न करनेमें, तेरी प्रवृत्ति न हो । जैसा श्रुतिमें कहा है–

इस कर्माधिकारवाले लोकमें निष्काम वर्णाश्रमोचित वेदोक्त कर्मोंका आचरण करता हुआ सैकडों वर्षोंतक जीनेकी इच्छा करे । इस तरह निष्काम बुद्धिसे कर्म करते हुए तुझे, कर्मोंका बन्धन नहीं होवेगा ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे रिपुधनविजयिन्, अर्जुन ! ब्रह्मात्मनिष्ठात्मके योगे स्थितो भूत्वा त्वं, फलेच्छात्मकं संगं विहाय, फलानां च प्राप्त्यप्राप्त्योः समो हर्षविषादाभ्यां वियुक्तो भूतः सन्, स्वधर्माख्यानि युद्धादीनि कर्माणि विधेहि । समत्वं हि, हर्षविषादादिद्वन्द्वेषु समबुद्धिरेव योगशब्देन भण्यते ॥ ४८ ॥

हे रिपुधनविजयी अर्जुन ! ब्रह्मात्मनिष्ठारूप योगमें स्थित हुआ तू, फलेच्छारूप संगको परित्यागकर तथा फलकी प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंमें सम अर्थात् हर्षविषादसे रहित होकर स्वधर्मरूप कर्मोंको कर । उक्त समत्व (अर्थात् हर्ष विषाद आदि द्वन्द्वोंमें समबुद्धिको ही योग कहते हैं) ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

हे अर्जुन ! यतो हि बुद्धियोगाज्ज्ञानयोगात् दृष्टः सकामं कर्मात्यन्तं निकृष्टं तुच्छं भवति । अतस्त्वं ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कामनाविरहितं कर्मयोगं चिकीर्षुर्भव ।

हे रिपुधनविजयी, अर्जुन ! क्योंकि ज्ञानयोग-दृष्टिसे, सकाम कर्म अत्यन्त निकृष्ट है । इसलिये तू, ब्रह्मार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मयोग करनेकी इच्छा कर । जो पुरुष, फलकी

ये च पुरुषाः कर्मफलाभिसंधायिनो विद्यन्ते त एव कृपणाः । कृपणवल्लोके दुःखभाजो भवन्ति ॥

तथाच श्रुतिः–

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः ॥ ४९ ॥

कामनावाले हैं वे कृपण हैं । अर्थात् कृपणके समान दोनों लोकोंमें केवल दुःखके भागी हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–हे गार्गि ! जो, अक्षर आत्मधनका अनुसंधान न करके इस लोकसे जाता है वह कृपण है ॥ ४९ ॥
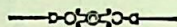
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

ज्ञाननिष्ठावान्, समत्वबुद्धिमापन्नो मानवोऽस्मिँल्लोके पुण्यं पापमुभयमपि परित्यजति सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण । कर्मसु यत्कौशलयम्, समत्वबुद्धिज्ञानयोगः, स एव योगः। अतस्त्वं तस्यास्यै योगलाभाय यतस्व । समत्वबुद्धिपूर्वकमीश्वरार्पणमेव योगः, बन्धनस्वभावानि कर्माणि निवर्तयति । इदमेव कौशलम् ॥ ५० ॥

ज्ञाननिष्ठासे युक्त समत्व बुद्धिवाला पुरुष, इस लोकमें पुण्य और पाप दोनोंका परित्याग करता है, चित्तशुद्धि पूर्वक ज्ञानद्वारा । और कर्मोंमें जो कौशल है, अर्थात् समत्वबुद्धि ईश्वरार्पणता, वह योग है–क्योंकि, यह कर्मोंमें ईश्वरार्पणरूप समताबुद्धिवाला कौशल बन्धनोंसे मुक्त करता है । इस लिये इस योगकी प्राप्तिके अर्थ तू यत्न कर ॥ ५० ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

तदेवाह कर्मजमिति-यतो हि ते समत्वबुद्ध्या योगेन युक्ताः कर्मजन्यं फलं विहाय मनीषिणः स्वात्मज्ञा भवन्ति । अथच ते, जन्ममरणरूपाद्बन्धनान्मुक्ता भूत्वा अविद्याख्यरोगविरहितं कैवल्यमोक्षपदं प्रयान्ति ॥ ५१ ॥

क्योंकि, समत्वबुद्धियुक्त पुरुष, कर्मजन्य फलको त्यागकर आत्मसाक्षात्कारवान् मनीषी होता है । और जन्ममरणरूप बन्धनसे छूटकर, अविद्यादिरोगरहित कैवल्य (मोक्ष) पदको प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

T

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा काले, त्वदीयमन्तःकरणमविवेकात्मकलुषितां मोहकललमतिक्रमिष्यसि हास्यसि। तदैव श्रोतव्यस्य श्रोतुं योग्यस्य कर्मफलस्य, श्रुतस्य कर्मफलस्य च, निर्वेदं निर्विण्णतां यास्यसि।

तथाच श्रुतौ—

" यदिदं मनसा वाचा, चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणं च, विद्धि मायामनोमयम् " ॥ ५२॥

जिस समय तुम्हारा बुद्धिस्वरूप अन्तःकरण, अविवेक (मोह) से उत्पन्न हुए कलुषताको परित्याग करेगा, उस समय श्रवण करने योग्य कर्मफलों, तथा श्रवण किये हुए कर्मफलोंमें वैराग्यको प्राप्त होवेगा।

जैसाकि श्रुतिमें—कहा है—

" जो मन, वाणी, नेत्र और श्रवणसे ग्रहण किया जाता है, वह सब मायामय नश्वर है " ॥ ५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

नानाविधवेदवचनानां श्रवणेन भ्रान्ता, श्रुतिविप्रतिपन्ना तव बुद्धिः, यदा समाधौ, समाधीयते जगदस्मिन् समाधिस्वरूपे, सर्वेषामाधिष्ठाने प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि निश्चला अचला च स्यात्तदेव काले, ब्रह्मणः परमात्मनः आत्मनो (जीवस्य) चानयोरेकत्वाभिन्नत्वेन साक्षात्कारात्मकमेव ज्ञानयोगं लप्स्यसे। अर्थात् तस्मिन्नेव काले स्थिरप्रज्ञः स्याः॥ ५३॥

अनेक भांतिके फल विधायक वेद वाक्योंके सुननेसे भ्रान्त हुई तुम्हारी बुद्धि, जिससमय, समाधिरूप सब जगतके अधिष्ठान प्रत्यगभिन्न परमात्मदेवमें निश्चल हुई तथा अचल होकर स्थित होगी। उस समय तू, ब्रह्म और आत्माकी, एकतारूप ज्ञानयोगको प्राप्त होगा। अर्थात् स्थितप्रज्ञ होगा॥५३॥

अर्जुन उवाच।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुनः स्थितप्रज्ञस्वरूपं प्रष्टुकामोऽवदत् । हे केशव भगवन् ! वासुदेव ! समाधौ स्थितस्य निश्चलबुद्धेस्तत्त्वज्ञानिनो लक्षणं किमस्ति । कथं स, च स्थितप्रज्ञो ज्ञानी समाधेरुत्थितो भाषणमाचराति । कथंच लोके तिष्ठति । केन प्रकारेण च शास्त्रविहिते देहनिर्वाहके भोजनाच्छादनादिविषये प्रवर्तते ॥ ५४ ॥

अर्जुन बोला—हे केशव भगवन् ! वासुदेव ! समाधिमें स्थित, स्थितप्रज्ञ, निश्चल बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानीका लक्षण क्या है ? वह स्थितप्रज्ञ, समाधिसे उत्थान पाकर किसप्रकार भाषण करता है कैसे स्थित होता है ? और किसप्रकार शास्त्रविहित देहनिर्वाहक भोजनादि विषयोंमें गमन करता है अर्थात् प्रवृत्त होता है ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

उत्तरं विवक्षुर्भगवानवदत् । हे पृथापुत्र, अर्जुन ! यदा समये समाधिस्थः परमात्मस्थो ज्ञानी, मनसि बुद्धौ वर्तमानाः सर्वाः कामनाः वासनाः परित्यजति । अथच स्वात्मन्येव स्वयमात्मना संतुष्यति संतुष्टो भवति । अर्थादात्मनि स्वात्मनैव तृप्तो भवति । तदैव काले स समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः कथ्यते ।

तथाचोक्तं श्रुतौ—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्, चित्तगतान्मुने । मयि सर्वात्मके तुष्टः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १ ॥ इदं जगदहं सोऽयं, दृश्यजातमवास्तवम् । यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २ ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले—कि हे पृथापुत्र अर्जुन ! जिस समय वह समाधिस्थ पुरुष, अपने मनमें स्थित सर्व लौकिक—वैदिक सब कामनाओंका परित्याग करता है तथा अपने स्वरूपमें आप ही संतुष्ट होता है । अर्थात् आत्मामें आत्मासे ही तृप्त होता है, उस समय वह समाधिस्थ पुरुष, स्थितप्रज्ञ कहलाता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

हे मुने ! जिस समय आत्मज्ञानी पुरुष, मानसिक सर्व कामनाओंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह जीवन्मुक्त कहाता है ॥ १ ॥

"यह संसार है, यह मैं हूं ये सब मिथ्या हैं" ये भाव जिसके चित्तमें स्फुरित नहीं होते हैं, वही जीवन्मुक्त कहाता है ॥ २ ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

सत्स्वपि दुःखेषु, यस्य मनो नोद्विजते । अथच विषयभोगात्मके सुखे च यस्येच्छा न प्रवर्तते । तथाच यस्माद्यस्य रागद्वेषभयानि च व्यपगतानि भवन्ति । स एव मुनिर्ब्रह्मात्मनिष्ठः मननशीलः संन्यासी स्थितप्रज्ञः कथ्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंमें, जिसका मन उद्विग्न नहीं होता तथा विषयभोगरूपी सुखोंमें जिसकी इच्छा नहीं है । और राग, भय और क्रोध जिसके निवृत्त हो गये हैं । वह मुनि—अर्थात् ब्रह्मात्मनिष्ठ संन्यासी स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यश्च प्रियमोदनीयेषु देहादिषु वस्तुषु निस्पृहस्तथा च प्रारब्धकर्मवशादागतेषु शुभाशुभेषु, पदार्थजातेषु, तेषु चानुकूलत्वेन न रमते, नच प्रातिकूल्येन द्वेषं विधत्ते । तस्यैवंविधस्य योगिनो बुद्धिः स्वस्वरूपेऽवस्थिता । स एव च स्थितप्रज्ञो भवति ॥ ५७ ॥

जो पुरुष, देहादिक सर्व वस्तुओंमें स्नेहसे रहित है । तथा जो जो शुभ अशुभ पदार्थ, प्रारब्धवश यदृच्छासे प्राप्त होते हैं । उन उनमें अनुकूल पदार्थ पाकर, न तो आनन्द युक्त होकर प्रशंसा करता है । और न प्रतिकूल पदार्थ पाकर द्वेष करता है । उसकी प्रज्ञा स्वस्वरूप स्थित है । वह पुरुष स्थितप्रज्ञ है ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

यथाच कमठः, स्वान्यङ्गानि संहरति संकोचयति । तथैवायमात्मनिष्ठः स्थितप्रज्ञो ज्ञानी, यस्मिन्काले, स्वेन्द्रियाणि स्वविषयेभ्यः शब्दादिभ्यो निवर्तयति, संहराति । तदैवास्य प्रज्ञा बुद्धिरात्मस्वरूपे स्थिरा जायते । तदैव स ज्ञानी स्थितप्रज्ञो भवति ॥ ५८ ॥

जैसे कच्छप, अपने सब अंगोंको समेटलेता है । वैसे ही यह पुरुष जिससमय, अपनी सर्व इन्द्रियोंको शब्दादिक विषयोंसे संकोच करलेता है. उस समय, उस यत्नशील पुरुषकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि, आत्मस्वरूपमें स्थित होती है । अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ होता है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

निराहारस्य, इन्द्रियैश्चक्षुरादिभिर्विषयज्ञानं कर्तुमसमर्थस्य रोगिणो, देहाभिमानवतः पुरुषस्य, विषयाः शब्दादयो निवृत्ता भवन्ति । ग्रहणाभावात् । किन्तु तेषु विषयेषु तस्य रोगिणो निराहारस्य पुरुषस्याभिलाषो स्पृहा भवत्येव । सवासनत्वात् । स्थितप्रज्ञस्य तु परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारादेव सापि विषयाभिस्पृहा नश्यति निवर्तते । कृतकृत्यत्वात् वासनाशून्यत्वाच्च ॥ ५९ ॥

इन्द्रियोंसे विषयोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ, रोगग्रस्त देहाभिमानी पुरुषके, विषय तो निवृत्त हो जाते हैं। परंतु उनमें, उसकी अभिलाषा बनी रहती है। और स्थितप्रज्ञ पुरुषका, तो परब्रह्मका साक्षात्कार होनेसे वह राग भी निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन! यत्नं विदधतो विवेकवतः पुरुषस्य मुमुक्षोः मनोऽन्तःकरणमपि, व्याकुलयन्तीमानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि हठात्तन्मनो हरन्ति । विषयं प्रति मनो नयन्तीत्यर्थः ॥

यथा च मनुस्मृतौ—"बलवानिंद्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति" ॥ ६० ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! यत्न करनेवाले विवेकी मुमुक्षु पुरुषके मनको भी, व्याकुल करनेवाली ये श्रोत्रादिक इन्द्रियें, बलात्कारसे हरण करती हैं ॥

जैसा कि मनुने कहा है—इन्द्रियोंका समुदाय बडा बलवान् है विद्वान्‌को भी अपनी ओर खींचलेता है ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अतएव ब्रह्मात्मदर्शी ममानन्यभक्तस्तानि सर्वाणि मनःसहितानि सर्वेन्द्रियाणि संयम्य युक्त्योपायेन चावरुध्य, निगृहीत-

इस कारण, ब्रह्मात्मदर्शी मेरा भक्त, उन सब इन्द्रियोंका संयम करके, निगृहीत मनवाला होकर स्थित होता है, क्योंकि जिस

चेता भवन्नवतिष्ठेत। यतो हि यस्य पुरुषस्येन्द्रियाणि वशे वर्तन्ते, तस्यैव बुद्धिर्निश्चला भवति ॥ ६१ ॥

पुरुषकी इन्द्रियें वशवर्ती हैं, उसकी बुद्धि निश्चल है ॥ ६१ ॥
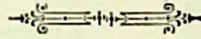
ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयाणां शब्दादीनां चिन्तनात्मकं ध्यानं कुर्वतः कामिनो रागवतः पुरुषस्य, तेषु विषयेषु सुखसाधनत्वेन संगः प्रीत्यात्मिका वृत्तिरुदेति। तथाच संगात्प्रीत्युत्पत्तौ सत्यां, कामो विषयाभिलाषो भवति। कामादिच्छायाः प्रतिबन्धे जाते क्रोधः समुत्पद्यते ॥ ६२ ॥

विषयोंका चिन्तनरूप, ध्यान करनेवाले कामी पुरुषकी, उन विषयोंमें, "ये सुखके साधन हैं" ऐसी वृत्तिरूप प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति होनेसे, इच्छावृत्तिरूप काम उत्पन्न होता है। और कामसे इच्छाके प्रतिबंध होनेपर क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥
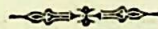
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

क्रोधे समुत्पन्ने कार्याकार्यविवेकात्मको भ्रमस्वरूपसंमोहो भवति। संमोहादविवेकात् शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजातायाः स्मृतेर्नाशोऽभिजायते। यस्याः स्मृतेः नाशात् बुद्धिर्नश्यति। बुद्धिनाशाच्च नाशं प्राप्नोति। अर्थात् पुरुषार्थं कर्तुं न शक्नोति ॥ ६३ ॥

क्रोधसे, कार्य और अकार्यके अविवेकमय भ्रमरूपसंमोह होता है। संमोह अर्थात् अविवेकसे गुरुशास्त्रोपदिष्ट स्मृतिका नाश होता है। और स्मृतिके नाश हो जानेसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। जिस बुद्धिके नाश होनेसे नाशको प्राप्त होता है। अर्थात् पुरुषार्थके अयोग्य होता है ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

निगृहीतचेताः पुरुषस्तु, रागद्वेषादिदोषैर्मुक्तैरात्माख्यमनोवशवर्तिभिरेवेन्द्रियैरज्ञो बाल इव विषयं भुंजानोऽपि, चेतसः प्रसन्नतां प्रसादं ब्रह्मानुभूतिं, प्राप्नोति ।

यथाच श्रुतौ–

"उत्पद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना । यदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम्" ॥ ६४ ॥

मनोनिग्रहवाला पुरुष तो, रागद्वेषसे रहित स्ववशीभूत मनकी वशवर्ती इन्द्रियोंसे, अज्ञ बालककी नाईं विषयोंका सेवन करता हुआ भी, चित्त की प्रसन्नतारूप प्रसाद (ब्रह्मात्मरूप अनुभूति) को प्राप्त होता है–

जैसा कि श्रुतिमें कहा है--

"विवेकरूपी अग्निसे जब रागादिकोंका नाश होजाता है, तब कहांसे वे अंकुरित हो सकते हैं" ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

एवमुक्तप्रसादे ब्रह्मानन्दात्मके प्रसादे प्राप्ते सति, पुरुषस्यास्य सर्वाणि त्रिविधानि दुःखानि, सूर्यतेजासि तिमिरवत् नश्यन्ति । यतो हि, प्रसादं निर्मलचित्ततामधिगतस्य, प्रसादवतः पुरुषस्य बुद्धिराशु स्वात्मनि स्थिरा भवति ॥ ६५ ॥

उक्त प्रसाद-अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप प्रसन्नताके प्राप्त होनेपर, इस अभ्यासी पुरुषके, सर्व दुःखोंका, सूर्य तेज तिमिरवत् शीघ्र नाश हो जाता है । क्योंकि, उस प्रसन्न (निर्मल) चित्तवालेकी बुद्धि शीघ्रही आत्मामें स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

श्रवणमननयोरनासक्तस्यायुक्तस्य पुरुषस्य, बुद्धिर्ब्रह्मात्मैकत्वनिश्चयो नास्ति । यतो हि, तस्यायुक्तस्य, प्रमाणप्रमेयविषयकसंशयस्य विद्यमानत्वात् ॥ यश्चायुक्तो भवति, तस्य भावना ब्रह्माकाराकारितान्तःकरणवृत्तिप्रवाहो नोदेति । यतो मनसश्चञ्चलत्वात् । अभावयतोध्यानमनाचरतो मानवस्य, सर्वदुःखो-

जो,महावाक्योंके श्रवण मननमें आसक्त नहीं है, उसे ब्रह्मात्माकी एकता रूप निश्चय बुद्धि नहीं होती है । क्योंकि, उस अयुक्त पुरुषको, प्रमाण प्रमेय विषयोंमें संशय वना रहता है । और उस अयुक्त पुरुषको, ब्रह्मात्माकाररूप अंतःकरणकी वृत्तिप्रवाहरूप भावना भी, नहीं होती । मनके चंचल होनेसे । और ब्रह्मात्मध्यान न होनेसे, उसे सर्व दुःखोंकी निवृत्तिरूप

पनिवृत्तिः शान्तिर्नास्ति। अनुपरतदुःखस्य प्रत्यगात्मभिन्नब्रह्मानन्दात्मकं सुखं कुतः स्यात्।

यथाच श्रुतौ—

"अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा तथा। भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम्" ॥ ६६ ॥

शान्तिभी नहीं होती। और शान्तिके न होनेसे, अद्वैत ब्रह्मानन्दरूप सुख भी, कहांसे होगा

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"जो, अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानते हैं, वे सर्व भ्रान्त हैं, उन्हें मुक्ति कहां? और सुखभी कहां है"? ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥

यतो हि, स्वे स्वे विषये वर्तमानेषु चक्षुरादीन्द्रियेष्वेकमपीन्द्रियं लक्ष्यीकृत्योपादायेदं मनः प्रवर्तते। तदेकमिन्द्रियम्, अस्य यत्नवतः पुरुषस्य, बुद्धिमात्मानात्मविवेकजां मनीषां, हरति तथैव। यथा समुद्रे स्थितां नौकां, प्रतिकूलो वायुः ॥ ६७ ॥

क्योंकि-अपने अपने विषयोंमें लगीहुई इन्द्रियोंमेंसे, जिस एक इन्द्रियको लक्ष्य बनाकर, यह मन, प्रवृत्त होता है। वह एक इन्द्रिय ही, इस पुरुषकी आत्मा और अनात्माका विवेक करनेवाली बुद्धिको, हरण करती है। जिसप्रकार समुद्रमें स्थित नौकाको, प्रतिकूल वायु इधर उधर भ्रमाती हुई हरण करती है अर्थात् विध्वंस करती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

अतश्च हे विशालबाहो, अर्जुन! यस्य ब्रह्मात्मनि स्थितस्य यतेः, सर्वेन्द्रियाणि स्वविषयेभ्यो निवृत्तानि विद्यन्ते। तस्यैव ब्रह्मविदः स्वरूपस्थायिनी प्रज्ञा ॥ ६८ ॥

इस कारण हे विशालबाहो, अर्जुन! जिस यति पुरुषकी, सर्व इन्द्रियें अपने शब्दादिक विषयोंसे निवृत्त हुई हैं, उसीकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि, स्वरूपमें स्थित है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

या–ब्रह्मात्मानुभवकारिणी प्रज्ञा, सा सर्वेषामज्ञानवतां जनानां रात्रिरिव रात्रिरस्ति। तस्यामेव प्रज्ञाख्यायां रात्रौ, संयतेन्द्रियोऽपरोक्षज्ञानी पुरुषो जागर्ति,आत्मानुभवमाधत्ते। अथच, यस्यामविद्याख्यायां निशायां, येऽज्ञानिनो जना जाग्रति सा, कार्यसहचारिणी मायाऽविद्या,परब्रह्मसाक्षात्कारं कुर्वतो मननशीलस्य मुनेः रात्रिरेवास्ति ॥ ६९ ॥

जो ब्रह्म साक्षात्कार करनेवाली प्रज्ञा है, वह सर्वभूत अर्थात् अज्ञानी जनोंकी रात्रि है । उस प्रज्ञारूपी रात्रिमें, इन्द्रियसंयम करनेवाला पुरुष जागता है । और जिस अविद्यातत्कार्यरूप संसारनिशामें, सब अज्ञानी जागते हैं, वह अविद्या, परब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले, मननशील मुनिकी रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

यथा च सर्वतः स्वीयजलैः परिपूर्णाभोगमचलप्रतिष्ठं समुद्रं सर्वा अपि गंगाद्या नद्यो यान्ति, प्रविशन्ति च । स स्वमर्यादां नैव त्यजति, आक्रामति च। तथैवात्मानन्दानुभवेन परिपूर्णस्य ब्रह्मात्मज्ञानिनो यस्य विदुषः, प्रारब्धकर्मवशतः प्राप्तेषु सर्ववस्तुषु भोगेषु, हर्षदुःखादिविकारो नोपजायते । स एव सर्वदुःखनिवृत्तिरूपां परमानन्दप्राप्तिस्वरूपां मुक्तिं शान्तिं लभते, न चान्ये ये कामान् कामयन्ते ।

तथा च श्रुतौ–

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ७० ॥

जिस प्रकार, चारों ओरसे अपने ही जलसे परिपूर्ण, अचल मर्यादावाले समुद्रमें, गंगादिनदियोंके जल प्रविष्ट होते हैं । तो भी वह, अपनी मर्यादाका उलंघन नहीं करता । उसी प्रकार, आत्मानन्दमें परिपूर्ण जिस ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुषको, प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले सर्व भोग, यदृच्छासे प्राप्त होते हैं । पर विकार उत्पन्न नहीं कर सकते । वह पुरुष, सर्व दुःखोंकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप शान्तिको, प्राप्त होता है । और विषयोंकी कामनावाला पुरुष, शान्ति नहीं पाता ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है–

जो जितेन्द्रिय धीर पुरुष, बुद्धिस्थ साक्षी आत्माको देखते हैं,उन्हींको शान्ति है ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

यश्च ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा ब्रह्मनिष्ठः पुरुषः, स्वशरीरनिर्वाहातिरिक्तं सर्वं विषयं परित्यज्य, निरीहो निश्चेष्टो निरहंकारः सन्न विचरति । स ब्रह्मवित्सं-न्यासी, निर्वाणाख्यां शान्तिं लभते ॥७१॥

जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, शरीर निर्वाहसे अति-रिक्त अन्य सर्व विषयोंका परित्याग करके, निरीह निर्मोह, और अहंकार रहित, विच-रता है । वह ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी, निर्वाणरूप परम शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥
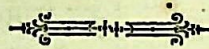
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! इमां ब्रह्माश्रयां स्थितिमासाद्य, कोऽपि विदितवेद्यो ज्ञानी श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्तः पुरुषो, मिथ्याहंकाराख्यं मोहं नाधिगच्छति । अस्यां ब्रह्मस्थितौ, मरणकालेऽपि स्थित्वा पुरुषो, ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षं प्रयाति ॥७२॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! यह जो ब्रह्मविष-यक स्थिति है, इसको प्राप्त होकर, कोई भी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त पुरुष, मिथ्या-हंकाररूप मोहको प्राप्त नहीं होता । इस ब्राह्मी स्थितिमें, देह प्राणवियोगरूप अंत-कालमें भी स्थित हुआ पुरुष, ब्रह्मनिर्वाण पदको प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

बन्धोच्छेदात्मबोधं तदनुमतिमलोच्छेदनार्थं स्वधर्मम्,
तज्जां शुद्धिं ततोऽद्धाऽखिलकरणफलां ज्ञाननिष्ठां परेष्टाम् ।
यो भक्ताय प्रियायाऽवददमलयशाः श्रीपतिर्धर्मगोप्ता,
स श्रीकृष्णोऽखिलस्य भ्रमतिमिरहरो भातु भास्वान्ममांतः ॥१॥

सा० अर्थ—यः श्रीपतिः अमलयशाः धर्मगोप्ता, श्रीकृष्णः, प्रियाय भक्ताय (अर्जुनाय), बन्धोच्छेदमात्मबोधम्, तदनु मतिमलोच्छेदनार्थं, स्वधर्मं चावदत् । ततस्तज्जां शुद्धिम् अखिलकरणफलां ज्ञाननिष्ठां, परेष्टाम्, च अवदत् । सः श्रीकृष्णः—अखिलस्य (लोकस्य) भ्रमतिमिरहरो भास्वान्ममांतः हृदये भातु ॥ १.॥

जिस विमलकीर्तिमान् लक्ष्मीके पति, धर्मकी रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णने, प्यारे भक्त अर्जुनको, बन्धनोंका तोडनेवाला आत्मज्ञान कहा। और तत्पश्चात् बुद्धिके मलको दूर करनेके लिये, अपना धर्म बताया। उस आत्मज्ञान और धर्मसे उत्पन्न शुद्धि, और तदनन्तर तत्त्वसे, सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा अंतःकरणकी शुद्धिका फल बताया। तथा परम इष्ट ज्ञानकी निष्ठा बताई। वह, सबके भ्रम-रूपी अंधकारको हरनेवाला सूर्य श्रीकृष्ण भगवान् मेरे अंतःकरणमें प्रकाशित हो ॥ १ ॥
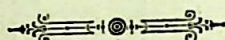
श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

ॐ

योगविदे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

महीभारोद्धारं सुजन-परिवारं सुरगुरुम्,
गुणाधारं सारं निरवधिविहारं रसरसम् ।
परप्रेमागारं व्रजभुवि सुचारं कलपदम्,
हरिं वारंवारं हृदिगतमुदारं सुकलये ॥ १ ॥

सान्वय-महीभारोद्धारम्, सुजनपरिवारम्, सुरगुरुम्, गुणाधारम्, सारम्, निरवधिविहारम्, रसरसम्, परप्रेमागारम्, व्रजभुवि सुचारं, कलपदम्, हृदिगतम्, उदारम्, हरिं वारंवारं कलये ॥ १ ॥

अर्थ-पृथ्वीके भारको हरनेवाले, श्रेष्ठ मनुष्योंको ही परिवार (कुटुम्ब) माननेवाले, देवोंके गुरु, सम्पूर्ण औदार्यादि तथा सत्त्वादि गुणोंके आश्रय, सर्व रसोंमें रसरूप, अपरिमित लीला करनेवाले परमप्रेमके घर, व्रजभूमिमें अच्छीतरह भक्ति और ज्ञानका उपदेश करते हुये विचरनेवाले, मंगल चरणवाले, हृदयमें स्थित, परम उदार, श्रीकृष्ण भगवानूका, मैं, वारंवार नमस्कारपूर्वक स्मरण करता हूं ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच। जनैराराध्यमानो जनार्दन-स्तत्संबुद्धौ हे जर्नादन ! ते भवतो निष्कामकर्मणः आत्मविषयिणी बुद्धिरेव श्रेष्ठत्वेन प्रशस्तत्वेन सम्मता (ज्ञाता)-ऽस्तिचेत्। तर्हितु, हे केशव ! हिंसाप्रधाने-ऽस्मिन्घोरे युद्धकर्मणि, मां कथं प्रेरयसि॥

तथा चोक्तम्–

(१) व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(२) तस्मात्संन्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः–

(३) न्यास एवात्यरेचयत्।

(४) त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। येन त्यजसि तत्त्यज।

(५) कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु विमुच्यते, तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥ १॥

अर्जुनने कहा–हे जनसमूहसे आराधन किये जाने योग्य जनार्दन ! आपको, जब निष्काम कर्मसे, आत्मविषयक बुद्धि (ज्ञानमार्ग) श्रेष्ठ समंत है। तब, हे केशव ! हिंसारूप घोर युद्धकर्ममें,मुझे क्यों लगाते हो ?

जैसा कहा है–

(१) सर्वभोगोंका त्याग कर भिक्षावृत्तिका आलम्बन करते हैं।

(२) इसलिये इन सब तपोंमें संन्यासको ही श्रेष्ठ कहते हैं।

(३) संन्यासको ही श्रेष्ठ बताया है।

(४) धर्म और अधर्म छोडो, सत्य और झूंठको छोड, जिस अहंकारसे इनको छोडता है उसे भी त्याग कर।

(५) कर्मोंसे जीव (आत्मा) का बन्धन होता है। विद्या (आत्मज्ञान) से मुक्त होता है। इसलिये तत्त्वदर्शी संन्यासी कर्म नहीं करते॥ १॥

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

संयुक्तयोर्नीरक्षीरयोरिव समुच्चितज्ञानकर्मणोरुपदेशवाक्येन, मे ममार्जुनस्य बुद्धिमन्तःकरणं मोहयसीव त्वम्। अतस्त्वं, तदेकं निश्चित्य-सम्यग्विचार्य, साधनं ब्रूहि। येन साधनेनाहं, मोक्षं प्राप्नुयाम्॥ २॥

क्षीरनीरके समान ज्ञान और कर्मके उपदेशसे मिश्रित वाक्योंद्वारा, आप, मेरी बुद्धिको, मानो मोहित (भ्रान्त) कर रहे हो। अब–हेभगवन् ! आप, उस एक साधनको निश्चय करके कहो, जिससे मैं, मोक्षरूप श्रेयको प्राप्त होऊँ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच । हे पापनिर्मुक्त, पृथातनय ! लोकेऽस्मिन् शुद्धाऽशुद्धात्मकान्तःकरणानां मानवानां कृते, मया, द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा पुरा-पूर्वाध्याये प्रतिपादिता । सांख्यानां, ज्ञानभूमिकारूढानां पुरुषाणां तु, ज्ञानात्मकेनैव योगेन, ज्ञानपरत्वस्थितिर्निष्ठा प्रोक्ता । कर्माधिकारवतां योगिनां तु कर्मस्वरूपात्मकेन योगेन चित्तशुद्धिद्वारा सा ज्ञानपरत्वनिष्ठा विहिता ।

तथाचोक्तं श्रुतौ—तमेवैकमात्मानं विजानथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ ॥ १ ॥

उक्तं च वाशिष्ठे—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ २ ॥

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव। योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः" ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले—हे पापरहित अर्जुन ! इस लोकमें, शुद्ध और अशुद्ध मनवाले अधिकारियोंके लिये, मैंने, दो प्रकारकी निष्ठा पूर्व अध्यायमें कहीं । सांख्यवालोंको ज्ञानयोगसे । और कर्मकरनेवालोंको कर्मयोगसे ।

जैसा श्रुतिमें कहा—

(१) उस परब्रह्मरूप आत्माको जानो । और तदतिरिक्त कर्मोंका त्याग करो ॥

(२) कर्मोंको करते हुये सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहो ॥

वाशिष्ठमें भी कहा है—चित्तके नाशके उपाय, योग (निष्काम कर्मयोग) और ज्ञानयोग (ब्रह्मनिष्ठा) ये दोनों ही हैं । निष्कामकर्मके आचरणसे राजसिक, और तामसिक वृत्तियोंका निरोध ही योग कहा है । और सम्यग् ब्रह्मात्माके साक्षात्कारको ज्ञान कहते हैं । किसीको, योग असाध्य है । किसीको ज्ञान असाध्य है । इस लिये दो प्रकारकी निष्ठा, श्रीभगवान्ने कही ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! अयमधिकारी पुरुषो, निष्कामभावेन कर्मणामनाचरणान्नैष्कर्म्यं

हे अर्जुन ! अधिकारी पुरुष, निष्काम कर्मोंको न करके, निष्कामभावको प्राप्त नहीं

निष्कामतां नाधिप्रयाति । तथा च मलविक्षेपात्मकदोषदूषितान्तःकरणत्वात्सोऽपि, संन्यासादपि ज्ञाननिष्ठां सिद्धिं न लभते ॥ ४ ॥

होता । तथा मलविक्षेपरूप दोष युक्त चित्तवाला होनेके कारण, संन्याससे भी ज्ञाननिष्ठारूप सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥
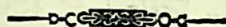
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

यतो हि, कश्चिदपि अविदितवेद्योऽज्ञानी पुरुषः, क्षणमपि कर्माण्यकुर्वन्न तिष्ठति । यतोऽविद्यापाशबद्धाः परतंत्राः सर्वे जनाः प्रकृतिजातैः सत्त्वरजस्तमोगुणैर्लौकिके वैदिके च कर्मणि प्रवर्त्यन्ते ॥५॥

क्योंकि, कोई भी अज्ञानी पुरुष, कभी क्षणमात्र भी, कर्मोंको न करता हुआ नहीं रहता । क्योंकि, अविद्याजालमें फसे हुए अस्वतन्त्रजन, प्रकृतिसे ही उत्पन्न होनेवाले सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंसे, लौकिक या वैदिक कर्ममें प्रवृत्त किये जाते हैं ॥ ५ ॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

योऽज्ञानावृतचित्तो मूढः पुरुषः, कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि निरुद्ध्य मनसा विषयानभिध्यायन्नवतिष्ठते । स मिथ्याचारचारी दांभिक उच्यते ।

तथाच श्रुतौ—

"तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा " ॥ ६ ॥

जो—अज्ञानसे ढका हुआ चित्तवाला, मूर्ख पुरुष, कर्मेन्द्रिय—हस्तपादादिकोंको रोक कर, मनसे विषयोंका चिन्तवन करता हुआ स्थित है, वह मिथ्याचारवाला दाम्भिक कहा जाता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य और शमादिगुणोंसे रहित होकर, जो केवल भिक्षासे जीवित यति है, वह पापी है और संन्यासवृत्तिका नाश करनेवाला है" ॥ ६ ॥

T

यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! यश्च, विवेकिनान्तःकरणेन श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, स्वविषयेभ्यो निवर्त्य समाकृष्य, फलेच्छानुसंधानरहितः कर्मेन्द्रियैर्वागादिभिः कर्मयोगमारभमाणो भवति। सः एवंभूतः कर्मयोगी पुरुषोऽशुद्धान्तःकरणात् वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिविधिरहितात्संन्यासिनः श्रेष्ठः प्रशस्तोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन! जो, विवेकयुक्त अन्तःकरणसे श्रोत्रादिक ज्ञानेंद्रियोंको उनके विषयोंसे निरोध करके, फलेच्छासे रहित होकर, वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे, कर्मयोगको आरंभ करता है वह कर्मयोगी, वेदान्तश्रवण, मनन-हीन अशुद्ध चित्तवाले संन्यासीसे, श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! त्वं तु शास्त्रनियतानि, नित्यानि, नैमित्तिकानि, वैदिकानि कर्माणि समाचर। यतोहि, शास्त्रविधिविहितानां वर्णाश्रमोचितकर्मणामनारंभान्निष्कामकर्मयोगाचरणं श्रेयस्करं जायते। अथ च, कर्मरहितत्वेन ते तवार्जुनस्य, शरीरयात्रापि कथमपि न सिद्ध्येत् ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! तू, नियमित, नित्य, नैमित्तिक, वैदिक कर्मोंको ही कर। क्योंकि, शास्त्रविहित वर्णाश्रमानुसार कर्मोंके न करनेसे, निष्काम कर्मयोगका करना, श्रेष्ठ है। क्योंकि, कर्मोंसे रहित होनेपर तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः।
तदर्थं कर्म कौंतेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन! अयं हि लोकः, यज्ञार्थादीश्वरप्रीत्यर्थात्कृतात्कर्मणोऽन्यत्र, कर्मभिर्बध्यते। अर्थात् ईश्वरप्रीत्यर्थं विना अन्यार्थं कृतैः कर्मभिर्बध्यते।

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन! यह लोक, विष्णुदेवके अर्थ किये कर्मोंसे अन्य, अतिरिक्त भोग फलार्थ कर्मोंके करनेसे, कर्मके बन्धनोंको प्राप्त होता है। इस कारण, तू, फलकी इच्छासे

अतस्त्वं, फलेच्छावर्जं तस्येश्वरस्य प्रीत्यै कर्माणि सम्यग्विधानेन विधेहि । तथाच श्रुतौ-यज्ञो वै विष्णुः ॥ ९ ॥

रहित होकर, उस ईश्वरके आराधनार्थ कर्मोंको सम्यग् रीतिसे कर । श्रुतिमें कहा है—विष्णुही यज्ञस्वरूप है ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

कल्पादौ, ब्रह्मा, सयज्ञाः प्रजाः निर्मायावदत् । यूयं मदीयाः त्रयो वर्णाः प्रजाः, अनेन स्वाभ्युदयं वृद्धिं निश्रेयससिद्धिं लभध्वम् । अयं हि यज्ञो मनःसंकल्पितान्कामान्दोग्धि ॥ १० ॥

कल्पके आदिमें, ब्रह्माने, यज्ञसहित तीनवर्णवाली प्रजाओंको उत्पन्न करके, कहा । इस यज्ञसे, तुम, वृद्धिको प्राप्त होओ । यह यज्ञ, तुमको मनोवाञ्छित फलको देनेवाली कामधेनु है ॥ १० ॥

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयंतु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

हे प्रजाः ! यूयम्, यज्ञेनानेन देवानिन्द्रादीन् संतोषयत । यतोहि ते परितृप्तात्मानो, युष्मानपि वृष्टिफलादिभिः संतोषयेयुः । इत्थं परस्परं संतोषयन्तो देवादयो, यूयंच, ज्ञानद्वारा श्रेयः-स्वर्गं मोक्षं कल्याणमधिगमिष्यथ ॥ ११ ॥

हे प्रजाओ ! तुम इस यज्ञसे विधिपूर्वक इन्द्रादिक देवताओंको सन्तुष्ट करो । जिससे, कि—वे इन्द्रादिक देवता, तुमको वृष्टि आदिद्वारा सन्तुष्ट करें । इसप्रकार, परस्पर एक दूसरेको सन्तुष्ट करते हुये तुम दोनों, परमश्रेयको प्राप्त होओगे । अर्थात् ज्ञान प्राप्तिके क्रमसे स्वर्ग या मोक्षको प्राप्त होओगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यतो हि, यज्ञेन संतुष्टा देवा इन्द्रादयो युष्मभ्यं मनोऽभीष्टानि स्त्रीपुत्रादीनि

क्योंकि, यज्ञसे संतुष्ट हुये ये देवता, तुम्हें, मनवाञ्छित स्त्री पुत्रादिक भोगोंको देवेंगे । इसलिये, उन देवताओंके दिये हुये

फलानि प्रदास्यन्ति। अतस्तैर्देवैर्दत्तान्भोगान् तेभ्यो न निवेद्य अर्पणं न कृत्वा,यो मानवो भुंक्ते, स देवानां तस्करो भवति १२

भोगोंको, उनको अर्पण किये विना जो पुरुष, भोगता है, वह उन देवताओंका चोर ही है॥ १२॥

यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः। भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात्॥ १३॥

यज्ञस्यावशिष्टमन्नं ये भक्षयन्ति, ते यज्ञशिष्टाशिनः सत्पुरुषाः सर्वेभ्यः पापराशिभ्यो मुक्तात्मानो भवन्ति। अथच ये पापात्मानः पुरुषाः स्वात्म–संरक्षणार्थमन्नं पचन्ति, ते केवलमघमेवाश्नन्ति।

तथाच मनौ–

"कुण्डनी, पेषणं, चुल्ली, उदकुंभश्च, मार्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात्प्रणश्यति"॥ १३॥

यज्ञसे शेष बचे हुये अन्नका भोजन करनेवाले सत्पुरुष, सर्व पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। और जो पापात्मा पुरुष, अपने ही लिये अन्नको पकाते हैं, वे मानों पापको ही खाते हैं॥

मनुने कहा है कि–ऊखली,चक्की, चूला, लेपन और बुहारना ये पांच स्थान गृहस्थको पापके हैं। अतः इन पापोंको दूर करनेके लिये पंचयज्ञोंका विधान है १३॥

अन्नाद्भवंति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ १४॥

अन्नादन्नरसात् रजोवीर्यभागात्प्राणिन उत्पद्यन्ते। तस्यान्नस्य संभूतिश्च मेघाज्जायते। मेघाश्च यज्ञात्समुद्भवन्ति। यज्ञाश्चैते, वैदिककर्मभ्यः समुत्पद्यन्ते।

तथाच स्मृतौ–

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"॥ १४॥

अन्नसे रजवीर्यद्वारा प्राणी उत्पन्न होते हैं। उस अन्नकी उत्पत्ति मेघोंसे होती है। मेघ, यज्ञसे पैदा होते हैं। और यज्ञ, वैदिककर्मसे उत्पन्न होता है।

जैसाकि स्मृतिमें कहा है–

"अग्निमें विधिविहित डालीहुई आहुति, सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न, पैदा होता है और उससे प्रजाकी उत्पत्ति होती है"॥ १४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तानि कर्माणि चातुर्मास्याग्निहोत्रादीनि, वेदात्प्रादुर्भवन्तीति विद्धि त्वम् । वेदाख्यं ब्रह्म तु अक्षरात्परमात्मनः सकाशादुत्पद्यमानमेवावधारय । अतश्च सर्वगतं सर्वार्थप्रकाशकं नित्यं (कल्पान्तरेऽपि यथानुपूर्वेण स्थितम्) वेदाख्यम्, ब्रह्म, यज्ञे धर्मेऽवतिष्ठते ।

तथाच श्रुतौ—

" अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" ॥ १५ ॥

तू, उन अग्निहोत्रादिक यज्ञ कर्मोंको, वेदसे उत्पन्न हुआ, जान । ब्रह्म-अर्थात् वेदको, अक्षर अर्थात् अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान । इस कारण, सर्वगत अर्थात् सर्व अर्थका प्रकाशक और नित्य (कल्प और दूसरे कल्पोंमें भी, जैसा प्रथम कल्पमें था उसी तरह दूसरेमें भी है इस आनुपूर्वीसे) है ब्रह्म अर्थात् वेद, उस धर्मरूपी यज्ञमें स्थित है । जैसा श्रुतिमें कहा—

" इस महान् अक्षररूप परमात्माके निश्वासरूप ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हैं " ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! इहास्मिन् कर्मप्रधाने मनुष्यलोके, योऽधिकारी पुरुषः एवं पूर्वोक्तरीत्येश्वरप्रेरितं चक्रं (यज्ञाख्यं) नानुसरति । स पापात्मा पापायुरिन्द्रियसुखारामी, निष्फलमेव जीवति । तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ १६ ॥

हे पुत्र, अर्जुन ! इस कर्मभूमिरूप मनुष्यलोकमें जो पुरुष, इसप्रकार ईश्वरसे प्रवृत्त किये चक्रका अनुसरण नहीं करता है । वह पापमय जीवनरूपी आयुवाला, और इन्द्रियोंके सुखमें रमा हुआ पुरुष, व्यर्थ जीता है । अर्थात् उसका जन्म निरर्थक है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

अथ च यः पुरुषः, आत्मनि प्रीतिं विधत्ते, तथैव नित्य आनन्दरूपेऽप्यात्मनि

जो मनुष्य, आत्मामें ही प्रीतिशाला होता है । और नित्य आनन्दरूप आत्मामें

तृप्तो भवति । अथ च यो ज्ञानवान् मानवो नित्ये निरतिशयेऽभिन्ने ब्रह्मात्मानन्दे स्वात्मन्येव कृतकृत्यत्वात् संतुष्टो भवति । तस्य साक्षात्कार कुर्वतः पुरुषस्य, नित्यत्वेनानुष्ठीयमानं कार्यं न विद्यते ।

तथाच श्रुतौ—

"आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः " ॥ १७ ॥

ही तृप्त होता है । तथा जो ज्ञानी नित्य, निरतिशय, आनन्दरूप ब्रह्मसे अभिन्न आत्मामें ही सन्तुष्ट होता है । उस ज्ञानी पुरुषको कोई कर्तव्य कार्य शेष नहीं रहता है ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"जो आत्मामें खेलता है, आत्मामें रत है, वही क्रियावान् है, वही ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है"॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! एवंभूतस्य ब्रह्मविदो मानवस्य, कर्मानुष्ठानेन किमपि प्रयोजनं नास्ति । तथैव कर्मणामनुष्ठानेनापि, विध्युल्लंघनजन्यप्रत्यवायात्मकोऽनर्थो, ज्ञानदार्ढ्यं प्रयोजनं वा न विद्यते । यतो हि, ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं कुर्वतो ज्ञानिनः पुरुषस्य, आब्रह्मणः कीटावधिषु प्राणिवर्गेषु किमपि प्रयोजनापेक्षं वस्तु न विद्यते ॥ १८ ॥

हे अर्जुन ! उस ब्रह्मवित् ज्ञानी पुरुषको, कर्मानुष्ठानसे कोई भी प्रयोजन नहीं है । किंवा—अनुष्ठान न करनेसे, इस लोकमें, विधिके उल्लंघनसे, कृत पापादिरूप कोई अनर्थ, अथवा ज्ञानकी दृढ़तारूप कोई अर्थ, अर्थात् प्रयोजन नहीं है । और इस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुषको, ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त सर्वप्राणियोंमेंसे कोई भी वस्तु प्रयोजनके अर्थ आश्रयणीय (अपेक्षित जरूरी) नहीं है ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अतस्त्वमर्जुन !, फलेषु संगमासक्तिं विहायासक्तो भूत्वा, सततं नित्यमनुष्ठीयमानं नित्यं नैमित्तिकं कर्म, सम्यग्विधिविधानेन विधेहि । यतो हि, फलकामना-

इस लिये तू, फलासक्तिसे रहित होकर, सर्वदा अवश्य करने योग्य नित्य, नैमित्तिक कर्मोंको सम्यक् रीतिसे कर । क्योंकि, अधिकारी पुरुष फलकी कामनासे रहित होकर कर्मोंका

हीनः पुरुषः कर्माणि कुर्वन्नपि मनोऽन्तः-करणशुद्धिद्वारा ज्ञानं व्यापारीकृत्य मोक्षं लभते ॥ १९ ॥

आचरण करता हुआ चित्त शुद्धि होनेपर ज्ञान द्वारा मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥
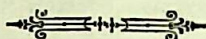
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

यतो हि, जनकादयः प्रवरक्षत्रियाः श्रौतस्मार्तकर्मणामनुष्ठानेनैव ज्ञाननिष्ठां सिद्धिमलभन्त । अतस्त्वमपि कर्माणि कर्तुं युज्यसे । अथवा लोकानां मानवानां धर्मरहितमार्गात्प्रतिनिवर्त्य स्वधर्मे प्रवर्तनमेव लोकसंग्रहस्तामिमं पश्यन्नपि कर्माणि कर्तुं शक्नोषि ॥ २० ॥

क्योंकि, जनकादिक क्षत्रिय राजा, श्रौत और स्मार्तादिक कर्मोंको करके ही ज्ञाननिष्ठा-रूप सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिये तू भी, कर्म करनेके योग्य है। और लोकसंग्रह अर्थात् लोकोंको अधर्मसे निवृत्त करके स्वधर्ममें प्रवृत्त करनेके उत्तम कार्यको देखकर भी तू कर्म करनेके ही योग्य है ॥ २० ॥
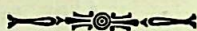
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

ब्रह्मनिष्ठो हि पुरुषो यानि कर्माणि विदधाति, अन्येऽपि तान्येव कर्माणि समाचरन्ति। अथ च स एव ज्ञानी यत्प्रमाणं करोति, इतरेऽपि मानवास्तदेव प्रमाणं मन्यन्ते ॥ २१ ॥

ब्रह्मनिष्ठ श्रेष्ठ पुरुष जिस जिस कर्मको करता है उस उस कर्मको ही, दूसरे लोग करते हैं। और वह श्रेष्ठ पुरुष जिस बातको प्रमाण करता है, उसका ही दूसरे लोग अनुकरण करते हैं ॥ २१ ॥
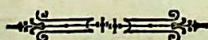
न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पृथातनय-अर्जुन ! मम सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्यास्यां त्रिलोक्यामनुष्ठीयमानं कर्म किमपि न विद्यते । अपरंच कृत-

हे पृथापुत्र अर्जुन ! मुक्त सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको, तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य, अर्थात् करनेके योग्य कर्म नहीं है और

कृत्यत्वादपि ममानासादितमासादितव्यं वापि किञ्चन नास्ति। यद्यपि नास्ति भुवि, स्वर्गे, पाताले वा एतादृशं प्रयोजनापेक्षितं वस्तु यन्मया न लब्धं लप्स्यमानं वा स्यात्। तथापि लोकसंग्रहार्थैव कर्मसु वर्तेऽहं कर्माणि विदधे ॥ २२ ॥

स्वयं कृतकृत्य होनेसे मुझे पूर्व अप्राप्त फल किंचिन्मात्र भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं है। अर्थात् ऐसी कोई वस्तु तीनों लोकोंमें नहीं है, जो मुझे स्वतः,प्राप्त नहीं हो। अथवा प्राप्त करनेको होवे। तो भी, लोक संग्रहके अर्थ, कर्मोंमें वर्तता हूँ, अर्थात् कर्म करता हूं ॥ २२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! यतोऽहं कृष्णाभिधानः परमात्मा, आलस्यं त्यक्त्वा यदि शुभानि कर्माणि न कुर्याम् तेषु कर्मसु न वर्तेय, तर्हि, कर्माधिकारिणस्तेऽन्यपुरुषाः, मदीयमेव मार्गं स्वीकरिष्यन्ति। अर्थात् येऽलब्धज्ञाननिष्ठत्वात्कर्मसु विधिनाऽधिकृतास्ते मामकर्त्तारं कर्मणां वीक्ष्य कर्माणि सन्त्यज्यालसा भूत्वा पतिष्यन्ति ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! यदि, मैं कृष्ण परमात्मा आलस्यसे रहित होकर, शुभ कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ तो, कर्मके अधिकारी पुरुष हमारे ही मार्गको सर्वप्रकारसे अंगीकार करेंगे। अर्थात् जो पुरुष, ज्ञाननिष्ठामें अधिकारी न होनेसे विधिवाक्य द्वारा कर्ममें नियुक्त किये गये वे मुझे कर्म रहित देखकर, स्वतः कर्मको छोडकर आलसी बन पतित होवेंगे ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

यदि चाहं सर्वान्तर्यामी परमात्मा शुभानि कर्मजातानि नानुतिष्ठेयम्, तर्हि, सर्वेऽपि लोका नश्येयुः। किंचाधर्माभिवृद्ध्या वर्णानां संकरस्य कर्ताऽहमेव स्याम्। इमाः प्रजाश्चापि हनिष्याम्यहम् ॥ २४ ॥

कदाचित् मैं सर्वान्तर्यामी ईश्वर, शुभ कर्मोंको न करूंगा तो, ये सर्वलोक, नष्ट होजावेंगे। और मैं ही, अधर्मके बढ़जानेके कारण वर्णसंकरका कर्ता होऊंगा। तथा इस सर्वप्रजाको मैं ही हनन करूंगा ॥ २४ ॥

T

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भरतवंशभूषण अर्जुन यथाऽज्ञानिनो जनाः कर्मफलाऽभिसन्धिं कुर्वाणाः कर्माणि समनुतिष्ठन्ति, तथैव लोकसंग्रहं कर्तुकामो ब्रह्मात्मदर्शी ज्ञानी पुरुषोऽपि कर्मफलासक्तः सन्कर्माणि विदधीत॥२५॥

हे भरतकुलसंभूत अर्जुन ! जिस प्रकार अज्ञानी पुरुष कर्मफलमें आसक्त होकर कर्मको करते हैं । इसी प्रकार लोक संग्रहकी इच्छावाला ब्रह्मात्मदर्शी ज्ञानी भी कर्मफलमें अनासक्त हुआ कर्मको करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

ज्ञानी ब्रह्मवित्, कर्मफलाशया कर्मकर्तॄणामज्ञानिनां मतिं न विचालयेत्, अपितु स्वयं सावहितो भूत्वा कर्माणि समाचरन्नपि तान् कर्मसु योजयेत् ॥२६॥

ज्ञानी पुरुष, कर्मफलकी आशासे कर्म करनेवाले अज्ञानी जनोंकी बुद्धिको चंचल न करे, किन्तु सावधान हो, सर्व कर्मोंको करता हुआ उनको भी कर्ममें लगावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्राकृतैः सत्त्वरजस्तमोगुणैर्विधीयमानानि प्रेर्यमाणानि कर्मजातानि भवन्ति। किन्तु अहंकाराक्रान्तमूढचित्तो मानवस्तु तेषां सर्वेषां कर्मणां कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥

प्रकृतिके सत्त्व, रज और तमरूपी गुणोंसे किये जानेवाले सर्व कर्मोंको, अहंकारसे मूढ़ चित्तवाला मनुष्य, मैं कर्ता हूं ऐसा मानता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्त्तंत इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे विशालबाहो पृथातनय ! गुणानां कर्मणां च विभागस्य, तथैव तेषां साक्षिण

हे विशाल बाहुवाले अर्जुन ! गुणोंके और कर्मोंके विभागोंका और उनके साक्षीरूप

T

आत्मनश्च तत्त्वतो वेत्ता ज्ञानी पुरुषस्तु चक्षुरादीनीन्द्रियाणि गुणेषु गुणपरिणामात्मकेषु शब्दादिषु वर्तन्ते तानेव गृह्णन्तीत्यर्थः । आत्मा तु तेषां शब्दादीनां ज्ञानस्य साक्षी द्रष्टा निर्लेपो निरासक्त इत्येवंरूपेणास्तीति मत्वा तेषु गुणागुणपरिणामेषु नासक्तिं करोति । अर्थात् ज्ञानवानात्मवित्तु कर्मकर्तृत्वादिसंगे तेषां शुभाशुभात्मकेषु फलेषु च सक्तिं न विधत्ते ॥ २८ ॥

आत्माके यथार्थ स्वभावरूप तत्त्वका वेत्ता ज्ञानी पुरुष तो, "गुण अर्थात् इन्द्रियां, गुणोंमें अर्थात् गुणोंके परिणामरूप शब्दादिक विषयोंमें वर्तती हैं अर्थात् उन्हींको ग्रहण करती हैं और आत्मा सदा असंग निर्लेप और उनका साक्षी है" ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता । अर्थात् ज्ञानवान् पुरुष, कर्मकर्तृत्वादिक संगमें तथा उसके फलाफलमें आसक्ति नहीं रखता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

मायाजन्येषु देहादिकार्येषु गुणेष्वहमिति बुद्ध्या विमूढा अविद्वांसो जना गुणानां देहेन्द्रियान्तःकरणानां शब्दश्रवणादिषु कर्मव्यापारेषु फलकामनया सक्तिं कुर्वन्ति ।ताननात्मविदो मंदमतीञ्जनान् कृत्स्नाविदात्मवेत्ता न चालयेत् । वैदिककर्मस्वाधिक्रियमाणत्वात् । तेषां संशयविक्षेपाभ्यां मतिं न व्याकुलयेत् विवेकवार्तया ॥ २९ ॥

प्रकृतिके देहादिक कार्यरूप गुणोंमें, अहंबुद्धिसे संमूढ हुए अज्ञानी, इन्द्रियादिकरूप गुणोंके और शब्द—श्रवणादिरूप कर्मोंमें फलकी कामनासे आसक्त होते हैं । उन अनात्मवेत्ता, अर्थात् आत्माको न जाननेवाले मन्दमति पुरुषोंको, आत्मवेत्ता पुरुष, वैदिक कर्मोंसे चलायमान न करे, अर्थात् उनकी बुद्धिको विवेक वार्तासे भ्रान्त और विक्षेपयुक्त न करे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

हे पार्थ ! परब्रह्मणि मयि अध्यात्मचेतसा ब्रह्मात्मज्ञानेन सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य त्यक्त्वा (अर्थात् ईश्वरप्रेरितो-

हे अर्जुन ! तू मुझ पर ब्रह्ममें आत्मज्ञान द्वारा सर्व कर्मोंको अर्पण करके, निष्काम

ऽहं कर्म कुर्वे । इति ज्ञानेन) निष्कामो निर्ममो विशोको भूत्वा, त्वं स्वधर्मानुष्ठानाख्यं युद्धमातिष्ठ ॥ ३० ॥

ममतारहित और शोकरहित होकर, युद्धरूप स्वधर्मका अनुष्ठान कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठंति मानवाः ।
श्रद्धावंतोऽनसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

ये मानवाः श्रद्धालवो (मम) गुणेषु च दोषाविष्करणरूपामसूयामविदधतः सन्तो मम ब्रह्मणोऽनुज्ञानात्मकं वेदमतमिदमाचरन्ति, तेऽपि निष्कामकर्माचरणादपगतान्तःकरणकल्मषा ब्रह्मज्ञानेन कर्मबन्धान्मुक्ता भविष्यन्ति ॥ ३१ ॥

जो मनुष्य श्रद्धावान्, गुरुरूप वासुदेवमें असूयाको न करते हुए हमारे इस आज्ञारूपी वेदमतका सदैव आचरण करते हैं, वे भी कर्मों द्वारा शुद्धचित्त होकर ब्रह्मज्ञान-द्वारा मुक्त होते हैं ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठंति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

ये तु असूयातिशयेन मे वेदमतमसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति, तानविवेकिनो ज्ञानहीनान्, मूढानेव जानीहि ॥ ३२ ॥

उनके अतिरिक्त, जो अत्यंत असूया करते हुए, मेरे इस वेदमतका आचरण नहीं करते हैं, उन अविवेकी पुरुषोंको सर्वज्ञानोंसे विमूढ तथा नष्ट हुआ ही जान ॥ ३२ ॥
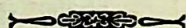
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

यदा अवगततत्त्वज्ञो मानवोऽपि, स्वशुभाशुभात्मककर्मज्ञानजसंस्कारात्मकप्रारब्धपूर्ववासनामय्याः प्रकृतेरेव सदृशमेव व्यवस्यति । तर्हि तु ज्ञानविहीनेषु जनेषु

ज्ञानवान् भी, अपनी शुभ और अशुभ बलवान् प्रारब्धयुक्त पूर्ववासनारूप प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करते हैं । तब अन्य अज्ञानी जनोंका क्या पूछना ? सर्वे

का कथा। अतएव सर्वे प्राणिनः स्वप्रकृतिमेवानुसरन्ति। तदा तु मम वान्यस्य कृतो निग्रहो निरोधः किं करिष्यति। न कश्चित्कंचन स्वभावान्निवर्तयितुं शक्नोति ॥ ३३ ॥

प्राणी अपनी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं। तब मेरा या अन्य राजादिकका निरोध क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥

इन्द्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रियस्य, ज्ञानेन्द्रियाणां, कर्मेन्द्रियाणां च स्वस्वविषयेषु शब्दादिषु वक्तव्यादिषु च, नियतं रागद्वेषौ व्यवतिष्ठेते। अतस्तयोरर्थेन्द्रिययोः वश्यतां न गच्छेत् विवेकी पुरुषः। यतः तौ मानवस्यास्य प्रतिपक्षिणौ स्तः, तौ च रागद्वेषौ मोक्षमार्गात्प्रच्यावयतः।

यथाच श्रुतौ–

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ॥ ३४ ॥

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका शब्दादि श्रवण और वक्तव्यादि विषयोंमें, राग और द्वेष दोनों नियमपूर्वक स्थित हैं। उन दोनोंके वशमें विवेकी पुरुष न आवे। क्योंकि, वे दोनों इस विवेकी पुरुषके चोर हैं। अर्थात् मोक्षमार्गमें शत्रु हैं।

जैसा कि श्रुतिमें कहा–

"परमात्मा देवने सर्व इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया है, इस लिये वे सूक्ष्म सर्वान्तरात्माको नहीं देखती हैं, कोई जितेन्द्रिय धीर पुरुष मोक्षकी इच्छा करता हुआ इन्द्रियोंको अन्तर्मुखीकर प्रत्यगात्माका दर्शन करता है" ३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

विधिविधानेन विहितात्परधर्मादपि विगुणोऽपि विध्यविहितोऽपि स्वस्ववर्णाश्रमीयः शास्त्रप्रतिपादितो धर्मोऽतिप्रशस्योऽस्ति स्वनुष्ठेयत्वात्। स्वधर्मे मरणमपि श्रेयस्करं विद्यते। परधर्मस्तु केवलं भयमेवावहति ॥ ३५ ॥

सम्यक् अनुष्ठान किये हुए पराये धर्मसे, विगुण अर्थात् असम्यक् अनुष्ठान किया हुआ अपने अपने वर्णाश्रमके योग्य शास्त्रोक्त धर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है। और अपने धर्ममें मरण भी श्रेष्ठ है। क्योंकि, पराया धर्म भयकारक है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुनोऽब्रवीत् । हे वृष्णिकुलोत्पन्न, श्रीकृष्ण ! अयं हि पुरुषः पापमचिकीर्षुरपि केनाज्ञातस्वरूपेण प्रेर्यमाणः पापात्मके कर्मणि बलादिव नियुज्यते ॥

तथोक्तं महाभारते—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः । केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि" ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला—हे कृष्णिकुलोत्पन्न भगवन् श्रीकृष्ण ! यह पुरुष, पाप करनेकी इच्छा न करता हुआ भी, बलात्कारसे प्रवृत्त किये गये पुरुषके समान किससे प्रवृत्त किया हुआ, पापकर्मको करता है ॥

जैसा महाभारतमें कहा है—

मैं धर्मको जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती । और मैं अधर्मको जानता हूँ परन्तु मेरी निवृत्ति उससे नहीं होती, किन्तु ऐसा कौन देव मेरे हृदयमें स्थित है । जिसके द्वारा मैं धर्माधर्ममें नियुक्त किया जाता हूँ ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

भगवानुवाच । पुरुषाणां महानर्थके मार्गे प्रवर्तयिता काम एवास्ति स एवायं रजोगुणेन लब्धस्वरूपात्मकः क्रोध एवास्ति । अयं चाकाशमिवापूर्यमाणत्वान्महाहारी, महापापानां कारणं मूलमस्ति । अतोऽस्मिँल्लोके मोक्षे चेमं शत्रुमेवावेहि ॥ ३७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पुरुषको अनर्थ मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला यह काम ही है । यह काम ही क्रोधरूप है जो रजोगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, तथा आकाशवत् पूरित होनेसे महान् आहारवाला है । और महान् पापोंका कारणभूत है । इसलिये इस संसारमें अथवा मोक्षमार्गमें, तू इसको शत्रु जान ॥ ३७ ॥

T

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

यथा च धूमेनाग्निराच्छाद्यते । मलेन च दर्पणमपि धीयते । उल्बेन गर्भचर्मणा च गर्भ आवृतो भवति । तथैवानेनाज्ञानात्मकेन कामेनेदमात्मज्ञानमाव्रियते ३८

जैसे धुआंसे अग्नि, और मैलसे दर्पण ढक जाता है, या जैसे झिल्लीसे गर्भ ढका होता है, वैसेही उस अज्ञानरूप कामसे, यह आत्मज्ञान ढका हुआ है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौंतेय दुःपूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कुन्तीकुमारार्जुन ! परोक्षापरोक्षज्ञानवतां पुरुषाणां सततं वैरिणा दुस्तृप्यमाणेन कामात्मकेनाग्निना, इदमात्मविज्ञानमावृतमस्ति ॥ ३९ ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! अपरोक्ष और परोक्ष ज्ञानी पुरुषोंके, इस नित्यवैरी और कठिनतासे तृप्त होने वाले, कामरूप अग्निसे यह आत्मज्ञान आवृत है ॥ ३९ ॥

इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याऽधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाणि, मनो, बुद्धिरेतत्त्रयमस्य कामस्य राज्ञोऽमात्य इवाधिष्ठानमाश्रयो भवत्युच्यते शास्त्रे।एतैरेव साधनैरयं कामो वैरी, ज्ञानमाच्छाद्यैनं जीवात्मानं भूयोभूयो विमोहयति ॥ ४० ॥

इन्द्रियें, मन और बुद्धि ये तीनों इस कामके, राजाके मंत्री आदिकके समान अधिष्ठान अर्थात् आश्रय कहे जाते हैं, इन तीनोंसे ही यह काम ज्ञानको आवृत करके जीवको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हे भरतकुलभूषण पार्थ ! तस्मादेव त्वं पूर्वमादावेवेमानीन्द्रियाणि वशीकृ-

हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! इस कारण तू, प्रथम इन इन्द्रियोंको वश करके सर्व

त्येमं सर्वविधपापानां मूलं ज्ञानविज्ञानना-शिनं कामं शत्रुं नाशय ॥ ४१ ॥

पापके मूलभूत तथा ज्ञान और विज्ञानके नाश करने वाले इस कामरूप शत्रुको ही नाश कर ॥ ४१ ॥

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि देहादिभ्यः पराणि, प्रकाशत्वात् व्यापकत्वाच्च श्रेष्ठानीति कथ्यन्ते । इन्द्रियेभ्यो मनः सूक्ष्मत्वाच्छ्रेष्ठमुच्यते । मनसोऽपि सर्वार्थकारिणी बुद्धिः श्रेष्ठा प्रतिपाद्यते । यश्चास्या बुद्धेरपि परो देहीति पदवाच्यः स साक्षी चिदात्मास्ति ॥ तथा च श्रुतौ–

"इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" ॥ ४२ ॥

इन्द्रियोंको, देहादिसे पर अर्थात् श्रेष्ठ अन्तर प्रकाशक और व्यापक कहते हैं । इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है और मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है वह देही शब्दका वाच्य साक्षी आत्मा है । जैसा कि श्रुतिमें कहा है–इन्द्रियोंसे परे अर्थ है और अर्थ–विषयोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे महत्तत्व परे है और महतत्त्वरूप समष्टि बुद्धिसे माया रूप अव्यक्त है और अव्यक्तसे पुरुष परिपूर्ण व्यापक साक्षी ब्रह्म पर है । उससे परे उत्कृष्ट कोई नहीं है, वही अंतिम सीमा है और वही परमगति है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

विशालबाहो, अर्जुन ! एवमुक्तरीत्या बुद्धेः परमिममात्मानं साक्षिणं बुद्ध्वा बुद्ध्वाऽपरोक्षीकृत्य मनोऽन्तःकरणं च व्यवसायात्मिकयाऽहं ब्रह्मास्मीति बुद्ध्या स्थिरीकृत्येमं कामात्मानमजेयं शत्रुं द्रुतमेव जहि ॥ ४३ ॥

हे विशालबाहो, विवेक वैराग्य युक्त अर्जुन ! इस प्रकार बुद्धिसे परे साक्षी आत्माको श्रेष्ठ जान कर, मन को 'ब्रह्माहमस्मि' इस निश्चलरूप बुद्धिद्वारा आत्मामें स्थिर करके इस कामनारूप दुर्जेय शत्रुका नाश कर ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां सांख्ययोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

यं योगी श्रद्दधानः क्रतुभिरपि यजँश्चित्तशुद्धयैति मोक्षं,
सांख्यो यन्निष्ठयाप्तापरिमितपदधीर्मज्जति स्वे सुखाब्धौ ।
यत्स्मृत्या कामशत्रुं ह्यपनयति सुधीः साक्षिणं संविविच्य,
स्वान्ते तं दीनबन्धुं गुरुमतिसुहृदं संस्थितं कृष्णमीडे ॥ १ ॥

श्रद्दधानो योगी कर्मयोगी, यं क्रतुभिरपि यजन् चित्तशुद्धया मोक्षमेति । यन्निष्ठया, आप्तापरिमितपदधीः सांख्यः, स्वे सुखाब्धौ मज्जति । यत्स्मृत्या हि सुधीः साक्षिणमात्मानं संविविच्य ज्ञात्वा, कामशत्रुमपनयति । तं स्वान्ते संस्थितं दीनबन्धुमतिसुहृदं तं कृष्णम् ईडे ॥ १ ॥

विश्वास रखता हुआ कर्मयोगी जिसको यज्ञों द्वारा भी पूजता हुआ चित्तकी शुद्धिसे मुक्तिको पाता है । जिस श्रीकृष्णकी निष्ठासे अपरिमित ब्रह्मपदकी बुद्धि पाकर, ज्ञानी पुरुष अपने सुखके समुद्रमें डूब जाता है । और निश्चयही जिसके स्मरण करनेसे बुद्धिमान् मनुष्य जिसको साक्षी आत्मा समझ कर सम्पूर्ण कामनाओंको दूर करदेता है । उन गुरुरूप अत्यन्त मित्र अपने चित्तमें सम्यक् प्रकारसे स्थित, दीनोंके बन्धु श्री भगवान् कृष्णकी मैं स्तुति करता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां सांख्ययोगो नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

ॐ

योगविदे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

यमाराध्यानन्तं रविमनुमुखा ब्रह्मपदवीं,
विदित्वा त्रैलोक्ये सुजनमणितामापुरमिताम् ॥
श्रुतीनां सिद्धान्तं प्रथितमहिमा देशिकवपुः,
स्वभक्तायाहेशस्तमहममलं नौमि शतशः ॥ १ ॥

रविमनुमुखाः, यमनन्तं (ब्रह्मदेवम्) आराध्य, ब्रह्मपदवीम्, विदित्वा, त्रैलोक्ये अमितां सुजनमणिताम्, आपुः । प्रथित-महिमा देशिकवपुः ईशः, स्वभक्ताय (अर्जुनाय) श्रुतीनाम् सिद्धान्तम्, आह । अहम् तममलं श्रीकृष्णं शतशः नौमि॥१।

वैवस्वतमनु आदि जिस अनन्त परब्रह्म श्रीकृष्णकी आराधना कर,ब्रह्मपदवीको जान-कर, तीनों लोकोंमें अतुल सज्जनोंके शिरो-मणि भावको प्राप्त हुये । और प्रसिद्धमहि-मावाले, जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णने, अपने भक्त अर्जुनको वेदोंका सिद्धान्त कहा । मैं—उन मायादि दोषोंसे रहित श्रीकृष्णभग-वानको सैकडों बार प्रणाम करता हूं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भगवानब्रवीत् । मया आदौ सृष्टिकाले-ऽध्यायद्वये प्रोक्तःसनातनोऽविनाश्येषयोगः

श्रीभगवान् वासुदेव बोले—हे अर्जुन ! मैंने दोनों अध्यायोंमें कथन किया हुआ इस

T

सूर्याय कथितः । सहस्ररश्मिः सूर्योऽपि मनवे चोपादिशत् । मनुश्चेक्ष्वाकवे राज्ञे प्रोक्तवान् ॥ १ ॥

अविनाशी अर्थात् सनातन ज्ञानयोगको सूर्यसे कहा, सूर्यने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकुराजासे कहा ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

हे कामादिषड्रिपुसन्तापकार्जुन ! इत्थं परंपरया प्राप्तम् सम्प्रदायादागतमिमं ज्ञानात्मकं योगं राजर्षयोऽविदुर्ज्ञातवन्तः ॥ स ज्ञानयोगोऽस्मिँल्लोके चिरात्कालान्नष्टतां यातः सम्प्रदायस्य विच्छिन्नत्वात् ॥ २ ॥

हे कामक्रोधादि शत्रुओंको सन्तापित करने वाले अर्जुन ! इस प्रकार सम्प्रदाय परम्परासे प्राप्त इस ज्ञानयोगको राजर्षियोंने जाना है। वह ज्ञानयोग इस लोकमें बहुत समयसे लुप्त होरहा है, क्योंकि इसका सम्प्रदाय विच्छिन्न होगया है ॥ २ ॥

स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

स एव वेदप्रतिपादितत्वादनादिरयं योगस्तुभ्यमुपदिष्टो मया । यतो हि ज्ञानात्मकमिदं रहस्यं, बुद्धिविरहिताय भक्तिहीनायादेयमस्ति । त्वं च मम भक्तः सन्नपि सखा । अतएव त्वामुपदिष्टवानहम् ।

तथाच श्रुतौ—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥ ३ ॥

वही ही यह, वेदोक्त अनादि ज्ञान योग, अभी मैंने तुमसे कहा है । क्योंकि यह ज्ञानरूप उत्तम रहस्य निर्बुद्धि अभक्त को देने योग्य नहीं है। परन्तु, तू मेरा भक्त और सखा है, इस कारण तुमसे कहा ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

जिसकी परम आत्मदेवमें परा भक्ति है, उसी तरह गुरुदेवमें भी हो । उसी महात्मा शुद्धान्तःकरणवालेको ज्ञानी पुरुष आत्मोपदेश करते हैं और उसीको वे फलप्रद होते हैं ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुनोऽब्रवीत्—हे वासुदेव ! भवतस्तु जन्मार्वाचीनमिदानींतनमस्ति । सूर्यस्य तु भवज्जन्मनः प्राक् सृष्टिकाले जन्माभवत् । भवता सूर्याय प्रथममुपदिष्टो योगोऽस्तीति कथं विजानीयाम् ॥ ४ ॥

अर्जुन बोला—हे भगवन् ! आपका जन्म, अभी वसुदेवके गृहमें हुआ है और सूर्यका जन्म(आपसे)पहिले सृष्टिके आदिमें हुआ है। आपने ही (इस योगको) प्रथम कहा है, इस कथनका मैं कैसे निश्चय करूँ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

तदा वासुदेवोऽवादीत् । हे परंतप पार्थ ! मम सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतो देहावच्छिन्नस्य तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि, विद्यन्ते तान्यहं सर्वज्ञत्वात्सर्वसाक्षिकत्वाच्च वेद्मि । त्वं तु नैव तादृशोऽसि । अतस्त्वं तानि वेदितुं न शक्नोषि ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे शत्रुसन्तापकारी अर्जुन ! हमारे, ईश्वरके और तेरे जीवके, बहुत जन्म व्यतीत होगये हैं । उन सर्व जन्मोंको मैं सर्वज्ञ होनेके कारण जानता हूँ । परन्तु हे अर्जुन ! तू अल्पज्ञ जीव नहीं जानता है ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

वस्तुतस्तु व्यापकत्वान्निर्विकारित्वाच्चाहम् अजन्मा, अविनाशी, सर्वेषां चराचराणां प्राणिनामीश्वरः सन्नपि, स्वीयां मायामयीं प्रकृतिमाश्रित्यैन्द्रजालिकमाययेव स्वमायया समुत्पन्न इव बुध्येऽहम् ।

मैं, सर्वव्यापक और निर्विकार होनेसे अजन्मा और अविनाशी होते हुये भी तथा सर्व प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी मायारूप प्रकृतिमें स्थित होकर,

T

स्वमायया लीलाविग्रहं धारयन्संभवामि प्रादुर्भवामीत्यर्थः ॥ ६ ॥

ऐन्द्रिजालिककी मायाकी नाईं, अपनी मायासे ही आविर्भूत होता हूँ ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भरतकुलावतंस, पृथापुत्र! यस्मिन्यस्मिन्काले, वेदप्रतिपाद्यस्य, जगन्मूलस्य धर्मस्य, हानिर्न्यूनता भवति। अथ चाधर्मस्याभ्युत्थानं भवति। तदैव कालेऽहं परमात्मा सर्वान्तर्यामी जगदीश्वरो वैष्णव्या स्वमायया स्वशरीरं गृह्णामि॥७॥

हे भरतकुलोत्पन्न, अर्जुन! जब जब वैदिक धर्मकी हानि होती है तथा अधर्म की वृद्धि होती है। तब तब मैं—परब्रह्म ही, वैष्णवी मायाद्वारा, प्रगट होता हूं ॥७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधूनां सद्व्रताचारचारिणामामरणं स्वधर्मावस्थितानां सज्जनानामभिसंरक्षणाय, दुष्टानां दुष्टकर्मरतानां प्राणिनां विनाशाय च, तथैव वैदिकधर्मपरिपालनायाहं युगे युगे भुवमवतरामि ॥ ८ ॥

सदाचारी और मरणपर्यन्त स्वधर्ममें स्थित रहनेवाले साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिये और दुष्ट कर्म करनेवाले पापियोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी सम्यक् रीतिसे स्थापना करनेके लिये, मैं युगयुगमें अवतार लेता हूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! यस्तत्त्वज्ञः पुरुषो मदीयं दिव्यं जन्म, कर्म च तत्त्वतो याथार्थ्येन वेत्ति जानाति, सोऽपीमं देहं परित्यज्य पुनर्जन्म दुःखागारं संसारं न लभते। किन्तु मामेव परमात्मानमधिगच्छति॥९॥

हे अर्ज्जुन! जो तत्त्ववेत्ता पुरुष मेरे दिव्य जन्मको और कर्मको इस प्रकार यथार्थ परमार्थ दृष्टिसे जानता है वह देहको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता। किन्तु मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है। अर्थात् मुक्त होता है ॥ ९ ॥

T

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

ब्रह्मज्ञानेन तपसा पूतात्मानः पवित्राः मां सच्चिदानन्दपरमात्मानमुपाश्रितवन्तो मयि निष्ठामधिगता रागद्वेषमलविक्षेपरहिता ब्रह्मनिष्ठा बहवो ज्ञानिनः पुरुषा महाकाशभावं प्राप्तं घटाकाशमिव, ब्रह्मात्मानमध्यगमन् ।

यथा च श्रुतौ—

"घटे नष्टे घटाकाश आकाशे लीयते यथा । देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि" ॥ १० ॥

ज्ञानरूप तप करके अर्थात् ब्रह्मज्ञान करके पवित्र हुए मुझ सच्चिदानन्दरूप आत्माके आश्रित होकर अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर राग भय और क्रोधसे मुक्त होकर, बहुतसे पुरुष, महाकाशभावको प्राप्त घटाकाशकी नाईं, मेरे भावको अर्थात् ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

घटके नष्ट होनेपर, जैसे घटाकाश महा आकाशमें लीन हो जाता है । उसी तरह देहका नाश होनेपर योगी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, मुझ चिदाकाश परब्रह्ममें तन्मय होजाता है ॥ १० ॥

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तंते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

ये आर्ता दुःखिनः अर्थिनो जिज्ञासवो ज्ञानिनश्चाधिकारिणः पुरुषाः येन प्रकारेण, सकामतया निष्कामतया वा मां परमात्मानमुपासते । अहमपि तेषु तथैवभावेनानुग्रहं करोमि । आर्त्तान् दुःखिनो जनानार्तिहरणेनानुगृह्णामि । अर्थं कामयमानानर्थदानेन, मुमुक्षूञ्जि-

हे पार्थ ! जो पुरुष जिसप्रकारसे मुझ परब्रह्मको भजते हैं उन पुरुषों पर, मैं उसी प्रकारही अनुग्रह करता हूँ । ये अधिकारी पुरुष सर्व प्रकारसे, मेरे वेदमार्गकाही अनुसरण करते हैं । अर्थात्—दुःखी अर्थी जिज्ञासु और ज्ञानी संन्यासी मुमुक्षु पुरुष, जिस निष्कामता या सकामतासे मेरी

ज्ञासून् ज्ञानदानेनाधिकारिणो मुमुक्षून् ज्ञानिनो मोक्षदानेनानुगृह्णामि ॥ यतो ये हि अधिकारिणो मानवाः सन्ति ते मम वेदमार्गमेवानुसरन्ति ॥

तथाच श्रुतौ–

"यो यदिच्छति तस्य तत्" ॥ ११ ॥

उपासना करते हैं उन भक्तोंपर मैं उसी प्रकारसे अनुग्रह करता हूँ। अर्थात् दुःखीका दुःख हरण करके, धनेच्छुको धन देकर, जिज्ञासुको ज्ञान देकर और ज्ञानीको मोक्ष देकर अनुगृहीत करता हूँ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

'जो जिस इच्छासे भजता है उसे वही फल होगा' ॥ ११ ॥

कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

इहास्मिँल्लोके कर्मजन्यफलानि प्रेप्सवो मानवा देवादीनिन्द्रादीनर्चन्ति स्वात्मभेदेन। यतो हि मानुषे लोके वर्णाश्रमविहितं कर्मफलं द्रुतमेव भवति ॥ १२ ॥

इस लोकमें कर्मोंके फलोंकी इच्छा करते हुये मनुष्य, इन्द्रादिक देवताओंका पूजन भेदबुद्धिसे करते हैं। क्योंकि इस मनुष्यलोकमें किये हुये वर्णाश्रमके कर्मोंका फल शीघ्रही प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

मयैव जगत्सेतुना जगदाधारेण परमात्मना, गुणानां शमादीनां, कर्मणामध्यापकादीनां च विभागेन, वर्णचतुष्टयस्य निर्माणं कृतमस्ति। अर्थात् सत्त्वगुणप्रधानस्य ब्राह्मणस्य शमोदमस्तप इत्यादीनि कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षात्रियस्य शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि। तमउपसर्जनस्य रजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि। रजउपसर्जनतमःप्रधानस्य

मैंने, सत्त्वादि गुणोंके और शमदमादि कर्मोंके विभाग द्वारा चारों वर्णोंका समुदाय (चतुष्टय) उत्पन्न किया है, अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मणोंका शम दम और तप यह कर्म है. सतोगुण जिनमें गौण है और रजोगुण प्रधानवाले क्षत्रियोंके शूरता तेज आदिकर्म हैं. जिनमें तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान है ऐसे वैश्योंके कृषि व्यापार आदि कर्म हैं। तथा रजोगुण जिनमें गौण

शूद्रस्य शुश्रूषा एव कर्म । तत्कर्तृत्वे सति मां परब्रह्मस्वरूपिणं कृष्णमेवाकर्तारमविनाशिनमवगच्छ ॥ १३ ॥

और तमोगुण जिनमें प्रधान है ऐसे शूद्रोंका सेवादिकर्म है । उस वर्णचतुष्टयका कर्ता होनेपर भी मुझे (परब्रह्मको) तू वास्तवमें अकर्ता औ । अविनाशी जान ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पंति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

सृष्टिस्थितिप्रलयात्मकानि कर्माणि, निरहंकारत्वेन मां परब्रह्मात्मानं शुभाशुभफलदानेन न बध्नन्ति । तथा चाप्तकामत्वान्मे कर्मफलेच्छा न जायते । यो ज्ञानवानधिकारी पुरुषः प्रत्यगभिन्नं माम् आत्मानं वेत्ति । सोऽपि कर्मभिः कर्मफलैश्च न बध्यते । तत्फलभोक्ता न भवतीत्यर्थः ।

तथा च श्रुतौ—

'ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा' ॥ १४ ॥

मुझ परब्रह्मको, सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप कर्म लिप्त नहीं करते । और मुझे, पूर्णकाम होनेसे कर्मोंके फलोंमें इच्छा नहीं है । इस प्रकार, जो ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष, मुझ ब्रह्मात्माको अपना आत्मा जानता है, वह कभी कर्मोंसे बद्ध नहीं होता । अर्थात् उसे कर्मबन्धन नहीं होता ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

'अपनेको ब्रह्मानन्दरूप जानता हुआ कर्मसे कैसे बंधन पासक्ता है' ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तरीत्या, प्रतिपादितमात्मानमकर्तारमभोक्तारं च ज्ञात्वा, पूर्वतना मुमुक्षवो वा ब्रह्मनिष्ठा जनकादयो मानवाः कर्माणि कृतवन्त एवासन् । अतस्त्वमपि पूर्वजैः कृतमनुष्ठितं सनातनं वेदोक्तं कर्मैव समाचर ॥ १५ ॥

इस प्रकार आत्माको अकर्ता और अभोक्ता जानकर, पूर्वमें हुये मुमुक्षु और ब्रह्मनिष्ठ जनकादिकोंने वेदोक्त कर्मोंको ही किया है । इसलिये पूर्वजोंके किये, अनादिकालसे प्रवृत्त वेदोक्त कर्मको ही तू कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

कर्म किम् कीदृशं च। तथाऽकर्मापि किम् एतन्मेधाविनोऽपि न विदन्ति। अथचात्र कर्माकर्मात्मके विषये मोहिता भवन्ति। अतोऽहं तेऽर्जुनाय तदेव कर्म अकर्म वच्मि। यदवगम्य भ्रमरूपात्संसारादशुभान्मुक्तो भविष्यसि ॥ १६ ॥

कर्म क्या है तथा अकर्म क्या है? इस बातमें, कवि अर्थात् बड़े २ बुद्धिमान् पुरुष भी मोहको प्राप्त होते हैं. इसलिये मैं तुमसे उस कर्म और अकर्मको कहता हूँ। जिसे जानकर तू—भ्रमरूप अशुभ संसारसे मुक्त होवेगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

वेदशास्त्रविहितस्य कर्मणस्तत्त्वं ज्ञातव्यम्, तथैव शास्त्रनिषिद्धस्य कर्मणस्तत्त्वं वेदितव्यम्, अथचाकर्मणोऽपि तत्त्वं ज्ञेयम्, मुमुक्षुणा त्वया। यतोहि कर्मणो गतिः स्वरूपात्मकं तत्त्वं दुर्ज्ञेयमस्ति ॥ १७ ॥

शास्त्रविहित कर्मका तथा शास्त्रनिषिद्ध कर्मका भी तत्त्व जानने योग्य है। और अकर्मका भी तत्त्व जानने योग्य है, क्योंकि कर्मकी गति अर्थात् स्वरूपका जानना बड़ा कठिन है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

योऽधिकारी पुरुषः कर्मणि, ब्रह्मरूपमात्मानमक्रियमकर्तारं पश्यति। अथच कर्मणि क्रियारहिते ब्रह्मात्मनि स्वे, कर्म कल्पितमेव पश्यति, स्वप्ने साक्षीव। स एव पूर्वोक्तभावदर्शी पुरुषः युक्तोऽप्रमादी जितेन्द्रियः कर्मतत्त्वदर्शी बुद्धिमत्सु मनुष्येषु बुद्धिमान्। स च स्वस्वरूपात्मनि

जो पुरुष, कर्ममें ब्रह्मरूप अक्रिय आत्माको कर्मरहित देखता है। और अकर्ममें अर्थात् क्रियारहित आत्मामें कर्मको कल्पित देखता है, साक्षी स्वप्नकी नाईं। वह अप्रमादी, मनुष्योंमें बुद्धिमान् अर्थात् तत्त्वज्ञानी है। और वह स्वस्वरूप (आत्मा)–

स्थितत्वाच्च युक्तो योगी सर्वविधकर्मणां च कर्ता भवति ॥

तथाच श्रुतौ–

"प्रमादो ब्रह्मनिष्ठानां न कर्तव्यः कदाचन । प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः" ॥ १८ ॥

में जुडनेसे योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंको प्रमाद नहीं करना चाहिये । क्योंकि, ब्रह्माके पुत्र सनकादिकोंने प्रमादको मृत्यु कहा है" ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

यस्याधिकारिणो–ज्ञानिनः पुरुषस्य, सर्वाणि विधीयमानानि कर्माणि कामनासंकल्पाभ्यां च विवर्जितानि भवन्ति। तथा येन, ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानाग्निना फलदातॄणि शुभाशुभकर्माणि दग्धानि । तमेवैतादृशं ब्रह्मभूतात्मानं मानवं पण्डितं ब्रुवन्ति बुधास्तत्त्ववेत्तारः ॥ १९ ॥

जिसके सर्व कर्म काम संकल्पसे रहित हैं । और जिसने "अहं ब्रह्मास्मि" इस ज्ञान आग्नस जन्ममरणके फलोंके देनेवाले कर्मोंको भस्म कर दिया है, उसको बुधजन पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥ २० ॥

विदितवेद्यात्मा यः पुरुषः कर्मफलाभिसंधिरूपं संगं विहाय, ब्रह्मात्मज्ञानलाभाच्च, नित्यतृप्तो निराश्रयो निरालम्बो भवति। स एव कर्मणि प्रवर्तमानोऽपि सन् किंचित् कर्म शुभमशुभं वापि न विधत्ते ॥ २० ॥

जो विद्वान्, कर्मोंके फलोंमें आसक्तिरूप संगको त्यागकर, आत्मलाभसे नित्यतृप्त और निरालम्ब है । वह कर्मोंमें प्रवृत्त होता हुआ भी किञ्चित् मात्र भी कर्म नहीं करता है॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

कर्मफलाशया रहितोऽवस्थितात्मा, जितचित्तो जितेन्द्रियः स्वात्मनिष्ठः सर्वपरिग्रहत्यागी विद्वान्, केवलं शारीरं शरीरसंपाद्यं शरीरनिर्वाहकं कर्म कुर्वाणोऽपि किल्विषं पापं नाधिगच्छति ।

तथा च श्रुतौ—

"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते" ॥ २१ ॥

फलकी आशासे रहित, जितचित्तवाला, आत्मनिष्ठ, सर्व संग्रहोंका त्यागनेवाला विद्वान्, केवल शरीर निर्वाहके उपयोगी कर्मोंको करता हुआ, किल्विष अर्थात् पापको प्राप्त नहीं होता ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"जिसतरह कमलके पत्ते पर जलका स्पर्श नहीं होता, उसीतरह आत्मवेत्ता विद्वान्को पापका स्पर्श नहीं होता है" ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

यदृच्छेति । दैवाल्लब्धेन वस्तुना सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतः सुखदुःखात्मकं लाभालाभात्मकं द्वन्द्वमतीतो मत्सरताहीनः प्राप्त्यप्राप्त्योः समो निर्विकारो य एवंभूतोऽधिकारी मुमुक्षुः सः कर्माणि विदधदपि बन्धनं न लभते ॥ २२ ॥

अप्रार्थित दैवयोगसे प्राप्त वस्तुसे ही सन्तुष्ट होनेवाला, सुख, दुःख, लाभ और हानिरूप द्वन्द्वोंसे परे, ईर्षासे रहित, तथा फलकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें—सम अर्थात् निर्विकार रहनेवाला पुरुष, कर्मोंको करता हुआ बद्ध नहीं होता—अर्थात् कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता है ॥ २२ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

कर्तृत्वाभिमानेन रहितस्य, फलकामनाशून्यस्य, ज्ञानेऽप्यात्मनि दृढस्थित-

कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलकी कामनासें मुक्त, स्वरूपज्ञानमें स्थिरस्थित-

चित्तस्य, यज्ञायाचरतः यज्ञसंरक्षणाय विष्णुप्रीतये वा कर्माणि कुर्वतो योगिनः पुरुषस्य फलसहितानि कर्माणि नश्यन्ति ।

तथाच श्रुतौ—

"तद्यथैषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते । तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन" ॥ २३ ॥

चित्तवाले, और यज्ञादिकोंके संरक्षणार्थ कर्म करनेवाले विद्वान् पुरुषके कर्म, फलसहित नाशको प्राप्त होते हैं ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

जिसतरह अग्निमें डाली हुई घासकी मूठ जलजाती है, इसी तरह आत्मवेत्ताके सर्व कर्म दग्ध होजाते हैं. और उस आत्मवेत्ताको पापादिकर्मोंका लेप नहीं होता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्मविद्स्तु क्रियात्मकमर्पणमपि ब्रह्मैवास्ति । हूयमानं हविरपि ब्रह्मात्मकम् । अग्नौ ब्रह्मात्मके, यत्ब्रह्मस्वरूपिणा यजमानेन हवनप्रक्षेपः क्रियते,सोपि ब्रह्मैवास्ति। अथच तस्माद्यज्ञाद्यत्फलं स्वर्गादि लभ्यते तदपि ब्रह्मैव । तथा कर्मणि ब्रह्मबुद्धिं विदधतो मानवस्य गन्तव्यं प्राप्तिस्थानं ब्रह्मैवास्ति ॥

तथाच श्रुतौ—

ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम् । आनन्दं परमानन्दमन्यत्किंचन न किंचन ॥ २४ ॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुषकी दृष्टिमें अर्पण भी ब्रह्म है । हविभी ब्रह्म है. ब्रह्मरूप अग्निमें हवन करनेवालाभी ब्रह्म है. हवनभी ब्रह्म है । उस हवनसे प्राप्त होने योग्य फल भी ब्रह्मरूप ही है । तथा कर्ममें ब्रह्मबुद्धिवाले पुरुषको ब्रह्मही गन्तव्य है अर्थात् प्राप्तिस्थान है.

जैसा श्रुतिमें कहा है—

सर्व दृश्यमान ब्रह्म ही है और जगत्त्रय भी ब्रह्ममात्र है । आनन्दपरमानन्दरूप ब्रह्मसे अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

अपरे कर्माधिकारिणः कर्मयोगिनो देवप्रधानं दैवं यज्ञमेवोपासते कुर्वन्ति ।

अन्य कर्मयोगी तो दैवयज्ञकी ही उपासना करते हैं । और अन्य तत्त्ववेत्ता,

अन्ये तत्त्ववेत्तारो ज्ञानिनो ब्रह्मस्वरूपिणि सच्चिदानन्दे पावकेऽग्नौ यज्ञमात्मानं यज्ञेन ब्रह्मात्मकेनात्मना जुह्वति। तत्त्वदर्शिनः संन्यासनिष्ठाः संन्यासिनो जीवब्रह्माभेद-दर्शनं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ तथाच श्रुतौ-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ २५ ॥

ब्रह्मरूप अग्निमें सोपाधिक आत्माको निरुपाधिक ब्रह्म करके ही होमते हैं । अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा निश्चय करते हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—सत्य, ज्ञान, और अनन्तरूप ब्रह्म है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विंषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्येऽधिकारिणो जनाः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि विषयेभ्यः परावर्त्य ध्यानधारणासमाधिमये संयमाग्नौ जुह्वति। संयमसमाचरति ॥ अन्ये समाधिव्युत्थिताः साधकयोगिनः शब्दादीन्विषयान्, श्रोत्रादिषु करणेषु वह्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य अधिकारीजन, श्रोत्रादिक इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके, ध्यान धारणा और समाधिमय संयमरूप अग्निमें होमते हैं । और अन्य—समाधिसे व्युत्थानको प्राप्त हुये साधक योगी शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें होमते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अन्ये निर्विकल्पसमाधिनिष्ठा योगिनः, श्रवणादीनि श्रोत्रादीन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि श्वासोच्छ्वासनिमेषोन्मेषादीनि च, ब्रह्मात्मज्ञानेन प्रदीप्ते मनोनिरोधात्मके समाधिस्वरूपे योगाग्नौ जुह्वति। आत्मलीनानि कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्य, निर्विकल्प समाधिनिष्ठ योगी, बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियोंके श्रवणादिरूप कर्मोंको और श्वास उच्छ्वास तथा निमेष उन्मेष आदि प्राणोंके कर्मोंको आत्मज्ञानसे प्रदीप्त, मन निरोधरूप समाधिमय योगाग्निमें होमते हैं। अर्थात् आत्मामें लीन करते हैं ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः शंसितव्रताः ॥ २८ ॥

T

केचन पुरुषा द्रव्यप्रधानं यज्ञमनुतिष्ठंति । केचन तपोयज्ञमाचरान्ति । कतिचन स्वाध्यायमेव यज्ञं कुर्वन्ति । केचन योगं यज्ञं विदधाति । अपरे च प्राप्ताधिकारा ज्ञानिनो ज्ञानस्वरूपं यज्ञमेव कुर्वन्ति । केचन यत्नपरायणाः पुरुषाः शास्त्रसंस्कारबलेन दृढव्रतात्मकं यज्ञं सम्यगाचरन्ति ॥ २८ ॥

इस प्रकार कई एक विद्वान् पुरुष, तीर्थोंमें द्रव्यदानरूपी द्रव्ययज्ञ, कई एक तपयज्ञ, कई एक योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, तथा कई एक ज्ञान यज्ञ, और कई एक यत्नशील पुरुष, अत्यन्त दृढ़ व्रतरूप यज्ञको शास्त्र-संस्कार वशसे करते हैं ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

हठयोगाभ्यासाभ्यासिनो जितेन्द्रिया जनाः बहिर्भागादभ्यन्तरं गच्छत्यपानवायौ, प्राणमभ्यन्तरात् बहिर्यान्तं वायुं जुह्वति । प्रणवसहितं पूरकाख्यं प्राणायाममाचरन्ति ॥ तथैवोपर्युक्तलक्षणके श्वासात्मके प्राणवायौ प्रश्वासात्मकमपानं वायुं जुह्वति । रेचकमाचरन्तीत्यर्थः ॥ अथच श्वासप्रश्वासनामधेये प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा कुंभकं विधाय प्राणायामपरायणा भवन्ति ॥ २९ ॥

हठयोगी जितेन्द्रिय पुरुष, बाहरसे भीतर आनेवाली प्रश्वासरूपी अपानवायुमें, भीतरसे बाहर आनेवाली श्वासरूप प्राणवायुको होमते हैं । अर्थात् प्रणवयुक्त पूरकरूप प्राणायाम करते हैं । उसी प्रकार भीतरसे बाहर आनेवाले श्वासरूप प्राणवायुमें प्रश्वासरूप अपानवायुको होमते हैं । अर्थात् रेचकरूप प्राणायाम करते हैं । और श्वासप्रश्वासरूप प्राण अपान दोनोंकी गतिको रोककर अर्थात् कुंभकरूप प्राणायाम करके प्राणायाममें परायण होते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

अन्ये पुरुषा नियताहारविहाराक्रिया निरुद्धेषु प्राणेषु, ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकान्प्राणान्भृशं जुह्वति । एतेऽपि सर्वे पूर्वोक्ताः यज्ञवेत्तारः सन्तो यज्ञेन स्वपापानि क्षपयन्ति क्षपितकल्मषा इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्य साधक पुरुष नियमित आहारवाले होकर निरोध किये हुए प्राणोंमें, ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रियरूप प्राणोंको होमते हैं । ये सब यज्ञोंके वेत्ता हैं और यज्ञोंद्वारा अपने पापोंको नाश करनेवाले हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टाऽमृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

हे कुरुकुलावतंस, पार्थ ! यज्ञस्यानन्तरमवशिष्टमन्नं भोक्तारो जनाश्चित्तशुद्धिद्वारा सनातनं ब्रह्म प्रयान्ति ॥ यज्ञरहितस्य पुरुषस्यायमल्पसुखोऽपि लोको नास्ति । कुतोऽन्यो विशिष्टसाधनसाध्यः परलोकः ॥ ३१ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञोंके अनन्तर शेष रहे अमृतरूप अन्नके भोक्ता, सनातन ब्रह्मको चित्तशुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं । और यज्ञसे रहित पुरुषको यह लोक नहीं है, तब परलोक कहांसे होगा ? ॥ ३१ ॥
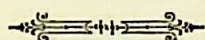
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

एवं यथोक्ता नैकविधा यज्ञा वेदस्य मुखे विस्तृताः प्रतिपादिताः सन्तीत्यर्थः ॥ तान्यज्ञान्कर्मजान्कायिकवाचिकमानसिककर्मोद्भवाञ्जानीहि ॥ एवं कर्मसिद्धान्तान्यज्ञान् ज्ञात्वा,अस्मात्कर्मबन्धनात्त्वं मोक्ष्यसे। ब्रह्मार्पणभावपुरःसरं निष्कामकर्माचारेण विहिताचित्तशुद्धिः सन्नात्मज्ञानं द्वारीकृत्य मोक्षं प्राप्स्यसि ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अनेक प्रकारके यज्ञ, वेदके मुखमें विस्तृत हैं । उन सर्वयज्ञोंको, तू कर्मजन्य ही जान । इस प्रकार जान करके तू मुक्त होगा । अर्थात् ब्रह्मार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मोंके द्वारा चित्तशुद्धिवाला होकर, आत्मज्ञान द्वारा मोक्षको प्राप्त होवेगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

कामक्रोधादिरिपुविजयिन्नर्जुन ! द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञो वरीयान् भवति । यतो हि सर्वमखिलं कर्म ज्ञाने समाप्यते ॥ अतो हि ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं कृतवतो मानवस्य समनुष्ठेयं कर्तव्यं कर्म किमपि नावशिष्यते ॥

हे कामक्रोधादि शत्रुओंको सन्तापित करनेवाले अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है । क्योंकि—हे कुन्तीनन्दन पार्थ ! ब्रह्मात्मसाक्षात्कार होने पर ही ससाधन साध्यरूप सर्व कर्म, समाप्त हो जाते हैं ।

तथाच श्रुतौ–

कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद ॥ ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति ॥ ३३ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

जिस तरह द्यूतमें बने हुये पाशके एक हिस्सेमें ४ अंक रहते हैं उस कृतयुगरूपी भागमें तीन अंक, त्रेता, द्वापर, कलियुग-रूपवाले आजाते हैं । इसी तरह जो ब्रह्मात्मस्वरूप है, उसे भी सम्पूर्ण प्रजाके द्वारा किये साधुकर्म प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि, वह साक्षात् ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मका वेत्ता ब्रह्म ही होता है ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्प्रसिद्धं ब्रह्मात्माविषयकं ज्ञानम्, ब्रह्मदर्शिनः परमदयालोः गुरोः सकाशादेव दण्डवत्प्रणम्य प्रश्नेन सेवया च विद्धि त्वम् । नूनं हि ते दयालवो ब्रह्मनिष्ठा गुरवस्त्वां तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यान्ति महावाक्य-द्वारा ॥

तथाच श्रुतौ–

“ स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ” गुरुशरणं विना ब्रह्म-ज्ञानं न जायते । यथा जात्यन्धकारस्य रूप-ज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्माद् गुरुकटाक्षलेशविशेषेण अचिरादेव तत्त्व-ज्ञानं जायते ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! तू, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता गुरुके आगे दण्डवत् प्रणाम करके नम्रभा-वसे, ब्रह्मात्मविषयक प्रश्न और गुरुसेवा-द्वारा, ब्रह्मात्मा को जान । ये तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु, तुझे महावाक्यों द्वारा ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है–

समिधा हाथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे । क्योंकि–गुरुके शरण गये विना ब्रह्मज्ञान नहीं होता है । जिस-तरह जन्मान्ध पुरुषको रूपका ज्ञान नहीं होता, उसी तरह बिना गुरुके उपदेशके कोटि जन्म में भी ज्ञान नहीं हो सक्ता है । इसकारण गुरुके पास जाना चाहिये । गुरु-की कृपाकटाक्षके लेशमात्रसे ही क्षण भरमें ज्ञानोदय हो जाता है ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

हे पांडव ! यद्ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानं विदित्वाऽधुना जातं मोहमिव पुनर्मोहं न गमिष्यसि । यतो हि त्वम्, येन ज्ञातज्ञानेन स्वात्मनि मयि च सर्वाणि दृश्यादृश्यानि भूतजातानि कात्स्न्र्येन द्रक्ष्यसि जलतरंगवत् ॥ ३५ ॥

हे पाण्डव अर्जुन ! जिस ब्रह्मात्मज्ञानको जानकर पुनः इसप्रकारके मोहको प्राप्त नहीं होवेगा । जिससे इन सर्व प्राणियोंको अपनी आत्मामें तथा ज्ञानरूप आत्माको मुझ परमात्मामें अभेद रूपसे देखेगा जलमें तरंगोंकी नाईं ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ ३६॥

यदि च त्वं, पापिष्ठेभ्यो जनेभ्योऽपि पापतरोऽस्मि मन्यसे । तर्हि पुण्यपापात्मकं सागरं ज्ञानाख्येनोडुपेनैव संतरिष्यसि । नान्योपायोऽस्ति तरणे ॥ ३६ ॥

कदाचित्, सर्वपापकारी पुरुषोंसे भी अत्यन्त पापकारी मानता है । तोभी उस सर्व पुण्य पापरूप समुद्रको ज्ञानरूपी नौकासे ही तरेगा । और दूसरा उपाय नहीं है ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

हे अर्जुन ! यथा प्रदीप्तोऽग्निर्दारूणि भस्मसात्करोति, तथैवाहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानाग्निरपि सर्वाणि पापपुण्योभयात्मकानि च कर्माणि भस्मसात्कुरुते ।

तथाच श्रुतौ—

"अहंब्रह्मास्मीति मंत्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् । सद्यो मोक्षमवाप्नोति नास्ति

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्मीभूत करती है । वैसेही 'अहंब्रह्मास्मि' रूप यह ज्ञानाग्नि, सर्व पाप पुण्यरूप कर्मोंको भस्मीभूत करती है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"अहं ब्रह्मास्मि" यह मंत्र जन्म जन्मके पापोंका नाश करता है । और इसीसे ही अधिकारी पुरुष सद्यः मोक्षको पाता है । इसमें

संदेहमण्वपि॥ यथाग्निदीप्तं शैलं हि नाश्रयन्ति मृगाद्विजाः। तद्वद्ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ति कदाचन" ॥ ३७ ॥

अणुमात्र भी संदेह नहीं है, जिस तरह मृग और पक्षी अग्निसे प्रज्वलित हुए पर्वतका आश्रय नहीं करते हैं। उसी तरह ब्रह्मज्ञानी पुरुषको कामादिदोष भी आश्रय नहीं करते हैं॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

यतो हि ज्ञानेन समं पवित्रं वस्तु-कर्मादिकं किमपि नेह विद्यते। तत् ज्ञानं कियतापि कालेन निष्कामकर्माचरणपूतचेतसा पुरुषेण स्वतोऽनायासेनान्तःकरणे लभ्यते।

तथाच श्रुतौ—

"ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते। यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम्। तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवदेसौ" ॥ ३८ ॥

क्योंकि-इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र कोई वस्तु विद्यमान नहीं है। निष्काम कर्मयोग, व समाधियोग करके शुद्धचित्तवाला पुरुष स्वयं ही अन्तःकरणमें, अल्पकालमें ही उस अभिन्न ब्रह्मात्मज्ञानको प्राप्त होता है।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

उन सर्व महर्षियोंने ज्ञानको ही पवित्र और श्रेष्ठ कहा है। योगी पुरुष, जिस कालमें स्वीय आत्माका दर्शन कर लेता है, उसी समयसे वह जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ३८॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेंद्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

तत्प्रास्त्युपायं दर्शयति—श्रद्धेति। श्रद्धालुर्गुरुसेवापरायणो जितनिद्रो जितासनो जितेन्द्रियः जितप्राणो मानवो हि मयोक्तं ब्रह्म आत्मज्ञानमाप्नोति। अथ स एव ज्ञानमासाद्य द्रुतमेव कैवल्यमुक्तिं प्रयाति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान् गुरुकी उपासनामें तत्पर, जितेन्द्रिय, अधिकारी पुरुष ही भले प्रकारसे ब्रह्मात्मज्ञानको प्राप्त होता है। और ब्रह्मात्मज्ञानकी प्राप्तिद्वारा शीघ्र ही कैवल्य मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

योऽज्ञानी श्रद्धारहितः प्रमाणप्रमेयसंशयापन्नमानसः पुरुषः स जननमरणात्मकं बन्धनं लभते । यतो हि संशयिनो जनस्य मनुष्यलोकः सिद्धः सन्नपि सुखदो न भवति । नच स्वर्गादिः परलोकः । नचेह परत्र वा सुखं भवति ॥ ४० ॥

अज्ञानी अश्रद्धालु तथा प्रमाण प्रमेयगत संशययुक्त चित्तवाला पुरुष विनाशको ही प्राप्त होता है । क्योंकि—उस संशययुक्त चित्तवाले पुरुषको न मनुष्यलोक सिद्ध होता है और न परलोक । तथा सुख भी नहीं मिलता है ॥ ४० ॥
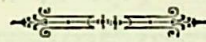
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञनसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

हे धनञ्जय ! ज्ञानेन छिन्नसंशयिनं योगाग्निदग्धकर्माणं ज्ञातात्मानं न बध्नन्ति कर्माणि । यथाधूमः खमाकाशं नाच्छादयाति । तथैव कर्माणि ज्ञानिनं न लिम्पन्ति । अत्र संशयपदं व्याख्याति ।

"संशयः कतिविध उच्यते श्रुतौ—भ्रमः पंचविधो भाति तदेवेह समुच्यते । जीवेश्वरौ भेदरूपाविति प्राथमिको भ्रमः ॥ आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकम् । शरीरत्रययुक्तजीवः संगी च तृतीयकः ॥ जगत्कारणरूपस्य विकारित्वं चतुर्थकः । कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं पञ्चमो भ्रमः ॥ पंचभ्रमनिवृत्तिश्च तदा स्फूर्तिश्च चेतसि ॥ बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनेन भेदभ्रमो निवृत्तः । स्फटिकलोहितदर्शनेन पारमार्थिकभ्रमो निवृत्तः । घटाकाशमठाकाशदर्शनेन संगीतिभ्रमो निवृत्तः ।

हे शत्रुधन विजयी अर्जुन ! इस पूर्वोक्त ज्ञानसे छिन्न संशयवाले और योगसे नष्ट कर्मवाले, आत्मवेत्ता पुरुषको कर्म नहीं बाधते । अर्थात् ब्रह्मवेत्ताको कर्म लिप्त नहीं करते । जिस प्रकार धूम आकाशको लिप्त नहीं करता ।

इस श्लोकमें जो संशयपद आया है । वह कितने प्रकारका है तथा निवृत्ति कैसे होती है ? यह सदृष्टान्त श्रुति बतलाती है—भ्रम पांच प्रकारका होता है—(१) जीव और ईश्वरका भेद भ्रम है । (२) आत्मामें कर्तृत्वपन वास्तविक है । (३) जीवात्मा तीनों शरीरोंसे युक्त है और संगी है । (४) कारणरूप ब्रह्मका विकार जगत् है । (५) कारण से भिन्न जगत् है और वह सत्य है । इन पांचों भ्रमकी निवृत्तिके पांच दृष्टान्त हैं ।

जैसे—बिम्ब (और प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे

रज्जुसर्पदर्शनेन कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वभ्रमो निवृत्तः । कनकरुचकदर्शनेन विकारित्वभ्रमो निवृत्तः ॥ ४१ ॥

प्रथम भ्रमका नाश होता है । स्फटिक और रक्तपुष्पके दृष्टान्तसे दूसरा भ्रम निवृत्त होता है। घटाकाश और मठाकाशके दृष्टान्तसे तीसरा भ्रम नष्ट होता है । सुवर्ण और कंकणके दृष्टान्तसे चौथा भ्रम निवृत्त होता है । रज्जु और सर्पके दृष्टान्तसे पाचवां भ्रम निवृत्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

हे ब्रह्मविद्यारत पृथातनय ! त्वमज्ञानजन्यं बुद्धिगतं प्रमाणप्रमेयाश्रयमिमं संशयं, ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेनासिना छित्त्वा भित्त्वा, ज्ञानयोगमाधेहि । युद्धाय चोत्तिष्ठ ॥ ४२ ॥

हे ब्रह्मविद्याप्रेमी अर्जुन ! इस कारण तू अज्ञानसे उपजे बुद्धिमें स्थित, इस प्रमाण प्रमेयगत संशयको 'अहं ब्रह्मास्मि' आत्मज्ञानरूपी खड्गसे छेदन करके, ज्ञानयोगमें स्थित हो और युद्धार्थ उठो । अर्थात् युद्ध करो ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

॥ अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ॥

स्वस्मिन्नीशत्वबोधाद्भगवति सुतनौ भक्तिरापादिताद्धा,
धीहेतुः कर्मनिष्ठा क्रतुभिरपि तथा ज्ञाननिष्ठोत्तमोक्ता ।
सत्यं ब्रह्मैक्यतत्त्वं प्रतिपदमुदितं दृश्यमिथ्यात्वमेवम्,
येन श्रीशान्तिधाम्ना तमिह मुररिपुं कृष्णमेवावलम्बे ॥१॥

सा०—येन श्रीशान्तिधाम्ना, ईशत्वबोधात्, स्वस्मिन् भगवति सुतनौ भक्तिरापादिता श्रद्धा, क्रतुभिरपि धीहेतुः कर्मनिष्ठा, तथा उत्तमा ज्ञाननिष्ठा उक्ता। प्रतिपदं सत्यं ब्रह्मैक्यतत्त्वम्, उदितम्, तथा, दृश्यमिथ्यात्वम् इह लोके प्रोक्तम्, तम् मुररिपुं कृष्णमेवावलम्बे ॥ १ ॥

अर्थ—जिस श्रीकृष्ण और शान्तिके स्थानरूप परमात्माने ' मैं ईश्वर हूं ' इस ज्ञानसे अपने ऐश्वर्यशाली दिव्य शरीरमें तत्त्वको प्राप्त करानेवाली भक्ति और यज्ञों द्वारा भी ब्रह्म बुद्धिका कारण कर्मोंकी निष्ठा, तथा उत्तम ज्ञाननिष्ठा कही (बतलाई)। और प्रतिपदमें त्रिकालाविनाशी ब्रह्मकी एकताका तत्त्व कहा। इसी प्रकार दृश्यमान जगत्का मिथ्याभाव बताया है। मैं, इस संसारमें मुर दैत्यके हन्ता श्रीकृष्ण महाराजका ही आश्रय लेता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

ॐ

निरञ्जनाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

श्रियो वासं वृन्दावनकृतनिवासं श्रुतिपदम् ।
कलावासावासं सुरनरसुखावासजलधिम् ॥
महोल्लासोल्लासं सुजनहृदि वासं गुणनिधिम् ।
प्रतिश्वासं वन्दे निरवधि विलासं मधुरिपुम् ॥ १ ॥

सा०—श्रियो वासम्, वृन्दावनकृतनिवासम्, श्रुतिपदम्, कलावासावासम्, सुरनरसुखावासजलधिम्, महोल्लासोल्लासम्, सुजनहृदि वासम्, गुणनिधिम्, निरवधिविलासम्, मधुरिपुम्, प्रतिश्वासं वन्दे ॥ १ ॥

अर्थ—लक्ष्मीके स्थान वृन्दावनके निवासी, वेदस्वरूप, सर्व कलाओंके निवास स्थान, देव, मनुष्य आदिकोंके सुखके स्थानरूपी समुद्र, महान् आनन्दके भी आनन्द स्वरूप, श्रेष्ठ भक्तजनोंके हृदयमें रहनेवाले, गुणोंके सागर, अपारलीलाकारी और मधुकैटभके हन्ता श्रीकृष्ण ब्रह्मको, श्वास श्वासमें नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुनोऽब्रूत । हे भक्तजनार्तिहारिन् कृष्ण ! त्वम् कर्मसंन्यासं कर्मयोगं च पुनरेव कथयसि, श्रुत्वा च मे संदेहो पुनरवर्धत । अतएवानयोर्यच्छ्रेष्ठं स्यात्तदेव मे तव शिष्यायार्जुनाय कथय । यतो ह्यहम् महासंशयसागरे मग्नः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे भक्तजनदुःखनाशक, सत्य आनन्दरूप श्रीकृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं । इन दोनोंमें, जो भी एक श्रेष्ठ हो, वह मुझसे भलीभांति निश्चय करके कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्रीकृष्णो भगवानवदत्—हे पार्थ ! अधिकारिभेदात्संन्यासः कर्मयोगश्च द्वावपि मोक्षसाधने स्तः। तयोरपि कर्मसंन्यासात्कर्मयोगोऽधिकारिणः श्रेयस्करो भवति । अतो हि वैदिकधर्मपरिपालनाय रामजनकादिवत्त्वया निष्कामकर्मयोगोऽनुष्ठेय एव। यतो हि स कर्मयोगाश्चित्तशुद्धिं द्वारीकृत्यैव मोक्षसाधनं भवति । अथच तपोध्यानादिना व्यपगतचित्तमलानां चित्तशुद्धिशुद्धानां त्रैवर्णिकानां मुमुक्षूणां कृते तु तत्त्वमसीति महावाक्यविचारेण, सर्वविधकर्मसंन्यासो मोक्षसाधनं विद्यते ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों अधिकारीभेदसे मोक्षके साधन हैं । उन दोनोंमेंसे अधिकारी पुरुषको कर्मके संन्याससे कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । अर्थात् वेदविहित मार्गकी रक्षाके अर्थ, श्रीराम और जनकादिकके समान तुमको निष्काम कर्मयोग ही श्रेष्ठ है । क्योंकि, चित्तकी शुद्धिद्वारा आत्मज्ञानकी प्राप्तिपूर्वक यह भी मोक्षका साधन है । और तपध्यानादियुक्त शुद्ध चित्तवाले त्रिवर्णके ही मुमुक्षुओंको, " तत्त्वमसि " महावाक्यविचारद्वारा सर्वकर्म संन्यास ही, मोक्षका परम साधन है॥२॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे आजानुबाहो,अर्जुन ! यो न कस्मैचिद्द्रुह्यति, न च कस्मैचित्फलाय स्पृहयति, तथैव सुखदुःख—लाभहानि—जय-

हे आजानुबाहु अर्जुन ! जो पुरुष न द्वेष करता है और न स्वर्गादि फलोंकी इच्छा करता है तथा सुख दुःख, लाभ-

पराजय–जन्य–रागद्वेषद्वन्द्वाभिसंधानविहीनः समदर्शनो भवति । स सदा सर्वदैव संन्यासी ज्ञातव्यः । यतो हि स सुखेन जन्ममरणात् बन्धनान्मुच्यते ॥ ३ ॥

हानि, जय पराजय, आदिके रागद्वेष द्वन्द्वोंसे रहित, अर्थात् द्वन्द्वोंमें समदृष्टिवाला है । उसे नित्य संन्यासी ही जान । क्योंकि, वह सुखपूर्वक जन्ममरणरूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

अपरिणतबुद्धयो हि जनाः संन्यासं कर्मयोगं च भिन्नं ब्रुवन्ति । ये तु ज्ञानेन परिणतबुद्धयो विचारशीलास्ते द्वयमेकं कथयन्तियतो द्वयोर्मध्यादेकमपि विधिविधानेन कुर्वन्पुरुषः संन्यासकर्मयोगोत्थं फलं मोक्षं लभते ॥ ४ ॥

विवेक ज्ञान हीन बुद्धिवाले, विचार हीन पुरुष, संन्यास और कर्मयोग दोनोंको भिन्न २ कहते हैं । और विचारशील बुद्धिमान् पंडित लोग नहीं कहते हैं, क्योंकि–दोनोंमेंसे एकको भी वेदविहित सम्यक् रीतिसे करता हुआ मनुष्य उन दोनोंके मोक्षरूपी फलको पाता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

तदेव स्पष्टयति । ब्रह्मात्माभेदज्ञानेन सांख्येन यन्मोक्षाख्यं स्थानं लभ्यते । तदेव निष्कामकर्मयोगेनापि चित्तशुद्धिद्वारैवासाद्यते । यश्च सांख्यं योगं चैकं पश्यति मन्यते । स ज्ञानी यथार्थदर्शी सम्यग्द्रष्टा कथ्यते ॥ ५ ॥

ब्रह्मात्मज्ञान रूप सांख्यसे जो मोक्षरूप स्थान मिलता है–प्राप्त होता है । वह निष्काम कर्मयोगसे भी चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है । और जो सांख्य और निष्काम कर्मयोगको एक रूप देखता है, वह ज्ञानी पुरुष यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

T

हे अर्जुन ! निष्कामकर्मयोगं विना संन्यासोऽप्यशुद्धचेतसा पुरुषेण दुःखेनासाद्यते । यश्च योगयुक्तः निष्कामकर्मयोगाचरणात् शुद्धान्तःकरणः श्रवणमननशीली मुनिर्मनीषी संन्यासी भवति । स द्रुतमेव ब्रह्ममोक्षं लभते ॥ ६ ॥

हे आजानुबाहु अर्जुन ! विना निष्काम कर्मयोगके किया संन्यास तो, अशुद्ध चित्तवालेको दुःखदायक ही है । और निष्काम कर्मयोग युक्त पुरुष, शुद्ध अन्तःकरणवाला होनेसे श्रवण मननशील संन्यासी होकर, शीघ्र ही ब्रह्म भावरूप मोक्षको प्राप्त होता है ॥६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

यः स्वधर्माचारी, योगयुक्तचित्तो मायामलादूषितान्तःकरणः विशुद्धाशयो विहितवशवर्तिमनोदेहो जितेंद्रिय आब्रह्मणः आपिपीलिकं सर्वं वस्तु आत्मानं पश्यन्समदर्शी स जनकादिवत्कर्माणि समाचरन्न तेषु लिप्तो भवति ।

तथाच शास्त्रे—

(१) "विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वन्नपि न कर्तृता । अलेपपदमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥"

(२) "श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः । न हृष्यति न ग्लायति स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ७ ॥

जो स्वधर्मका आचरण करनेवाला, कर्मयोगयुक्त, मायामलरहित, विशुद्धचित्तवाला, देह और मनको सम्यक् प्रकारसे वशीभूत करनेवाला, जितेन्द्रिय, ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त सर्वप्राणियोंको आत्मस्वरूप समझनेवाला समदर्शी है । वह जनकादिकोंके नाईं (सदृश) कर्मानुष्ठान करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता ।

जैसा शास्त्रमें कहा है—

"विवेकी पुरुष सदा मुक्त है व कार्य करता हुआ भी उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है । जैसे अलेप पदाश्रित ब्रह्मनिष्ठ जनक और श्रीकृष्ण ॥"

यही श्रुतिमें कहा है—

"विषयोंको सुनकर, स्पर्शकर, खाकर, देखकर, सूंघकर जो पुरुष हर्ष और ग्लानिसे रहित है अर्थात् अविकारी है, वही जितेन्द्रिय है" ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेषु वर्त्तंत इति धारयन् ॥ ९ ॥

समाधिनिहितचेतास्तत्त्ववेत्ता योगी पुरुषस्तु पदार्थमवलोकयन्, शब्दं शृण्वन्, गन्धं जिघ्रन्, भक्ष्यं भक्षयन्, श्वासमाददानो, वाचं ब्रुवाणस्त्यक्तव्यं त्यजन्, ग्राह्यं समुपाददानो, नेत्राणि निमीलयन्नुन्मीलयन्चक्षुरादीनि करणानि स्वविषयेषु वर्तन्त इत्येवं धारयन् मन्यमानोऽहम् साक्षी संगरहित आत्मरूपो न किमपि करोमीति मन्यते ॥

तथाच श्रुतौ—

"नाहं देहो नेन्द्रियप्राणो न मनो न बुद्ध्यहंकृतिः । न चित्तं नैव माया च नच व्योमादिकं जगत् ॥ न कर्ता नैव भोक्ता च नच भोजयिता तथा । केवलं चित्सदानन्दो ब्रह्मैवाहं जनार्दनः" ॥ ८ ॥ ९ ॥

समाधियोगयुक्त तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मसंलग्न चित्तवाला पुरुष, शास्त्रविहित विषयोंको सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता, चलता, सोता, सांस लेता, बोलता, मलमूत्रादि त्यागता, भोजनाच्छादनादि ग्रहण करता, नेत्र खोलता, और मीचता हुआ भी ये इन्द्रियें अपने अपने विषयोंमें वर्तती हैं, ऐसी धारणा करता हुआ, "मैं तो, साक्षी असंग शुद्ध आत्मा कुछ भी नहीं करता हूं" ऐसा मानता है ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि, अहंकार, चित्त, माया, सर्वपंचभूत, कर्ता, भोक्ता, भोजयिता, मैं नहीं हूं । मैं तो केवल चित्सदानन्द रूप ब्रह्म ही हूं" ॥ ८ ॥ ९ ॥
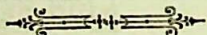
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

यो विद्वान् पुरुषो ब्रह्मणि सर्वकर्माणि समर्प्य, फलाभिलाषं कर्तृत्वं च त्यक्त्वा कर्माणि करोति । स पयसा कमलपत्रमिव तेन-कर्मणां फलेन, न लिप्यते ॥ तदासक्तो न भवतीत्यर्थः ।

तथाच वासिष्ठे—

अद्वैते स्थैर्यमायाते चित्ते च प्रशमं गते । योगिनः कर्म कुर्वन्ति पश्यन्ति स्वप्नवज्जगत् ॥ १० ॥

जो विद्वान्, ब्रह्ममें सर्व कर्मोंको समर्पण करके, फलेच्छा, या कर्तापनके अभिमानरूप संगको त्यागकर कर्मोंको करता है, वह जलसे कमलपत्रकी तरह पुण्य पापसे लिप्त नहीं होता ।

जैसा कहा है—

चित्तके शांत होनेसे ब्रह्मज्ञानकी दृढस्थिति हो जानेपर, योगीजन संसारके सर्व वैदिक लौकिक व्यवहार करते हुए स्वप्नके समान संसारको मिथ्या देखते हैं ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

कर्मयोगिनो हि जनाः फलाभिलाषं संगं त्यक्त्वा, केवलं चित्तशुद्धये केवलेन शरीरेण, मनसा, बुद्ध्या, चेन्द्रियैर्वा वेदोक्तं कर्म विदधति ॥ ११ ॥

कर्मयोगी पुरुष, फलासक्तिरूप संगको त्यागकर चित्तशुद्धिके लिये, केवल शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे तथा इन्द्रियोंसे वेदोक्त कर्म ही करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥ १२ ॥

ईश्वरार्थं कर्म कुर्वन्कर्मयोगयुक्तः पुरुषः, कर्मजफलानि संन्यस्य, कर्मनिष्ठया चित्तशुद्ध्याऽव्यवहितात्मज्ञानेन मुक्तिरूपां शान्तिमधिगच्छति । अन्योऽब्रह्मार्पणयोगेऽनासक्तान्तःकरणो मानवो नानाकामनया फलेष्वासक्तचेता बन्धनं लभते १२॥

ईश्वरार्थ कर्मयोगसे युक्त पुरुष, कर्मफलको त्यागकर, कर्मनिष्ठासे चित्तशुद्धिपूर्वक आत्मज्ञान द्वारा मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है । और ब्रह्मार्पण कर्मको न करनेवाला अयुक्त पुरुष, नाना कामनाओंके करनेसे, फलोंमें आसक्त हुआ बन्धनको पाता है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

मनसा सर्वकर्माणि संत्यज्य, देहाद्भिन्नं प्रत्यञ्चमात्मानं च पश्यन् वशी पुरुषो नवद्वारात्मके आत्मन उपलब्धिद्वाराणि सप्तार्वाग्द्वे मूत्रपुरीषविसर्गार्थे द्वे इत्थं देहे पुरे, न नित्य-नैमित्तिक–काम्य-निषिद्धानि कर्माणि कुर्वन्कारयञ्च केवलं ब्रह्मानुभूतिं सुखेनानुभवंस्तिष्ठति ॥ १३ ॥

नित्य नैमित्तिक सर्व वर्णाश्रमीय कर्मोंको मनसे त्याग करके, देहसे भिन्न आत्माका दर्शन करनेवाला वशीपुरुष, नव–"दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कान, एक मुख ये सात षणमुखी मुद्रा द्वारा आत्माकी उपलब्धिके द्वार हैं और दो मलमूत्रके त्यागार्थ, शिश्न और गुदा" द्वारवाले शरीररूपी पुरमें, न तो कार्यकर्ता हुआ और न किसीसे कार्यको कराता हुआ ब्रह्मानुभूतिरूप समाधिमें स्थित है ॥ १३ ॥

T

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

प्रभुरात्मा, शरीराख्यस्य लोकस्य, कर्तृत्वं कर्माणि च न रचयति। न च स फलसंयोगं करोति। किंतु स्वभावो माया ह्येवैतत्सर्वं कर्तुं प्रवर्तते ॥ तथा च शास्त्रे-"सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा। अहं करोमीति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः" ॥ १४ ॥

प्रभु आत्मा, इस शरीर रूप संसारके न अहंभावरूप कर्तृत्वको, न कर्मोंको और न कर्म फल संयोगको करता है। केवल माया-द्वारा ही ये सर्व व्यवहार होते हैं।

जैसा कहा है—"सुख और दुःखका देनेवाला कोई नहीं है। दूसरा कोई देता है यह कुबुद्धि है। और मैं करता हूं यह अभिमान भी व्यर्थ है, क्योंकि अपने कर्मजन्य वासनासे ही घटीयंत्रवत् बँधा हुआ है" ॥१४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥ १५ ॥

विभुर्व्यापको लोकेश्वरः परमात्मा कस्यचित्पापं पुण्यं न गृह्णाति, किन्तु, जनानां स्वाज्ञानेनावृतं ज्ञानं विद्यते। अतएव हि अज्ञानावृतत्वादिमे सर्वे प्राणिनः, अहं करोमि, ददामि, भोजयामि, पालयामीत्येवं मुह्यन्ति मोहं गच्छन्ति१५॥

विभु अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर न किसीके पापको ग्रहण करता है और न पुण्यको ही ग्रहण करता है। किन्तु अज्ञानसे ढका हुआ जीवोंका ज्ञान है, इस कारण जीव 'मैं करता हूं, खाता हूं, खिलाता हूं' इस प्रकार मोहको प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

येषां विदुषां मुमुक्षूणामेतदज्ञानमात्मज्ञानेन नष्टमजायत। तेषामेव तज्ज्ञानं, तदेव परं तत्त्वं ब्रह्मात्मानं, प्रकाशयति सूर्य इव ॥ १६ ॥

परन्तु जिन विद्वानोंका अज्ञान, आत्मज्ञानसे नष्ट हो गया है, उन विद्वानोंको, वह आत्मज्ञान, सूर्यके समान परमतत्त्व परब्रह्मको प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

T

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

तस्मिन् ब्रह्मणि स्थिरीकृतबुद्धयस्तस्मिन्नेवात्मास्थितिं लभमानाः तास्मिन्नेवाहं ब्रह्मास्मीति निष्ठां मन्यमानास्तद्ब्रह्मैवाहमिति मन्यमानास्तत्परायणा ब्रह्मपरायणा ज्ञानप्रक्षालितदूषकदोषा विद्वांसः संन्यासिनः पुनर्जन्मरहितां विदेहमुक्तिं लभन्ते१७

उस परब्रह्ममें ही बुद्धिवाले, उस परब्रह्मको आत्मस्वरूप जाननेवाले, उसी ब्रह्ममें 'अहंब्रह्मास्मि' निष्ठावाले, उसी ब्रह्ममें परायण रहनेवाले, और ज्ञानसे निवृत्त अज्ञानादि-मलवाले, विद्वान् संन्यासी अपुनर्जन्मरूपी विदेहमुक्तिको पाते हैं ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

पण्डिता ब्रह्मनिष्ठा ज्ञानिनः पुरुषाः विद्याविनयाभ्यां संपन्ने ब्राह्मणे, गवि पशुजातौ, हस्तिनि, शुनि सारमेये, तथा पापिष्ठे चाण्डालेऽपि समं एकमविक्रियं ब्रह्म पश्यन्तः समदर्शिनः भवन्ति । न तेषु समवर्तिनो भवन्ति ॥

तथा च श्रुतौ—

" अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् । आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" ॥ १८ ॥

ब्रह्मात्मनिष्ठ ज्ञानी पुरुष, विद्या विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और श्वान तथा चाण्डालमें समदर्शी-ब्रह्मदर्शी होते हैं । समवर्ती नहीं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" अस्ति भाति प्रिय नाम और रूप ये पांच अंश हैं आद्य तीन, परमात्माके सूचक हैं और दो, मायाके सूचक हैं ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

येषां समदर्शिनां ज्ञानिनां मनः साम्ये ब्रह्मस्वरूपायां समतायामवतिष्ठते, तैरेवायं द्वैतप्रपंचात्मको लोकोऽस्मिञ्जन्मन्येवाति-

जिन समदर्शी पंडितोंका मन, समस्वरूप ब्रह्मभावमें स्थित है, उन्होंने, इस लोकमें ही इस द्वैतप्रपंचका अतिक्रमण

क्रान्तो भवति । यतो हि ब्रह्म, निर्दोषं समं च विद्यते । अतस्तेऽपि समदर्शिनो निर्दोषाः पुरुषा ब्रह्मणि स्थिता एव सन्ति ।

तथा च श्रुतौ—

'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' ॥ १९ ॥

किया है । क्योंकि ब्रह्म, निर्दोष तथा सम है । इस कारण ये समदर्शी पुरुष, ब्रह्मभावमें स्थित हैं तथा निर्दोष हैं ।

जैसाकि श्रुतिमें कहा है—

ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्महीं है ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

इष्टं वस्तु प्राप्यापि हर्षातिरेकतां न गच्छति । नचाप्रियं लब्ध्वापि निर्विण्णो भवति । एवं स्वस्वरूपात्मनिष्ठितबुद्धिर्भ्रमसंशयविहीनो ब्रह्मवेत्ता संन्यासी, सदैव ब्रह्मणि तिष्ठति ॥

तथा च श्रुतौ—

"मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥ तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ॥ २० ॥

इष्ट वस्तुरूप प्रियको प्राप्त होकर न अत्यन्त हर्षको प्राप्त होता है । और न अप्रियवस्तुको प्राप्त कर दुःखरूप उद्वेगको प्राप्त होता हैं । ऐसा स्वस्वरूपमें स्थिर बुद्धिवाला और भ्रम संशयसे रहित, जो ब्रह्मवेत्ता संन्यासी है वह संन्यासी ब्रह्ममेंही स्थित रहता है ।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

यह द्वैत मायामात्र है । यथार्थमें ब्रह्मात्मा ही अद्वैतरूप है । एक ब्रह्मात्मदर्शन करनेवाले विद्वान्‌को कोई शोक मोह नहीं होता है ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्येषु शब्दादिविषयेष्वसक्तो विरक्तः पुरुषोऽन्तःकरणे वर्तमानं स्थितं सनातनं ब्रह्मात्मकं यत्सुखं लभते । स एवासक्तः पुरुषो ब्रह्मयोगासक्तचेताः ब्रह्माकारा-

बाह्यशब्दादिक विषयोंमें आसक्तिसे रहित, विरक्त विद्वान् पुरुष, जो ब्रह्मात्मरूप सुखका अनुभव करता है । वही ब्रह्मयोगमें युक्त चित्तवाला होनेसे अविनाशी सुखको पाता है । इसी

कारितान्तःकरणोऽक्षयं जीवन्मुक्तिरूपं सुखं प्राप्नोति । अतः क्षणिकविषयसुखेभ्यः परावृत्य निरोधोऽनुष्ठेयः ॥ २१ ॥

कारण क्षणिक विषय सुखोंसे वृत्तियोंका निरोध करना अत्यावश्यक है॥ २१ ॥
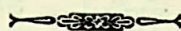
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! यतो हि विषयेन्द्रियसंयोगजा यावन्तो भोगा ऐहिकाः पारत्रिकाः सन्ति। त एव भोगा विनाशिनो दुःखस्य कारणान्येव च भवन्ति । अतो विवेकी जनस्तेषु लोकद्वयभोगेषु न रमते ॥ २२ ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! क्योंकि, जितने विषय और इन्द्रियोंके संबंधजन्य भोग हैं वे ऐहिक पारलौकिक भोग, दुःखके कारण हैं और उत्पत्ति तथा नाशवाले हैं । इस कारण विवेकी विद्वान्-पुरुष, उनमें रमता नहीं है अर्थात् प्रीति नहीं करता ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

यो विवेकी पुरुषो देहपातं यावत् कामात्क्रोधाच्च जातं वेगं, चक्षुरादीन्द्रियाणां प्रवृत्तेः प्रागेव सोढुं धारयितुं शक्नोति सामर्थ्यमाधत्ते । स एव ब्रह्मयोगी सुखी भवति ॥ २३ ॥

जो विवेकी पुरुष, देहपातपर्यन्त काम और क्रोधजन्य वेगको, बाह्य इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके पूर्व ही सहन करनेमें समर्थ होता है । वह पुरुष योगी है और सुखी है ॥२३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यो विगतमलो, विवेकी पुरुषो, नैजे स्वान्तःकरणे वर्तमानं नित्यं निजानंदरूपं सुखं लब्ध्वाऽन्तःसुखी भवति । तथैव

जो विद्वान्, नित्य निजानन्दरूप अन्तःसुखवाला है तथा अन्तरात्मामें क्रीडारूप आरामवाला है और जो अन्तरात्मामें

स्वान्तःकरणे वृत्तीनामुपरमात् विश्रांतिं लब्ध्वा रमते, स्वात्मारामो भवति । तथा च तत्रैवान्तःकरणे स्वात्मप्रकाशं ज्योतिः प्राप्यान्तर्ज्योतिर्भवति । स एव योगी भूत्वा, ब्रह्मरूपतामासाद्य ब्रह्म निर्वाणं मोक्षं समाप्नोति ॥

तथाच श्रुतौ—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" ॥ २४ ॥

आत्मप्रकाशरूपी ज्योतिर्वाला है । वह योगी ब्रह्मस्वरूप हुआ, ब्रह्मको पाता है।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"जब सम्पूर्ण हृदयस्थित कामनाओंका नाश होजाता है तभी यह प्राणी अमृतरूप हो जाता है और ब्रह्मानुभवका आनंद लेता है । जब हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका नाश होजाता है तभी अमृतरूप होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है ॥ २४ ॥
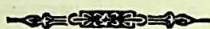
लभंते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

अपगतपापाः संछिन्नप्रमाणप्रमेयसंशयाः यतात्मानो निदिध्यासेन विपर्ययरहितां स्वब्रह्मात्मैकत्वनिष्ठतामेकचित्ततामाप्ताः सर्वेषां प्राणिनां हितावहाः पारदर्शिनः ऋषयः सम्यग्दर्शिनः संन्यासिनो ब्रह्म निर्वाणम् मोक्षं लभन्ते ॥ २५ ॥

क्षीण हुये पापोंवाले, प्रमाणप्रमेयगतसंशयसे रहित, निदिध्यासनसे विपर्यय रहित (विक्षेपशून्य) एकाग्रचित्तवाले और सर्व प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले, पारदर्शी परमात्मदर्शी ऋषि, ब्रह्म निर्वाण अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

ये कामक्रोधसंपर्कहीना निगृहीतचेतसो ज्ञातात्मस्वरूपाः संन्यासिनो भवन्ति । तेषां खलु पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानां सर्वा-

काम और क्रोधसे रहित, चित्तके निग्रहवाले, तथा आत्माके साक्षात्कारवाले,

स्ववस्थासु वर्तमानानां संन्यासिनां, सर्वदा ब्रह्मैव निर्वाणरूपं मोक्षस्वरूपं सर्वत्र लब्धात्मकं भवति ॥ २६ ॥

संन्यासियोंको सर्वथा (जीवितावस्था और मृतावस्थामें भी) ब्रह्म प्राप्त है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

संस्कारभावेनान्तःप्रविष्टान् बाह्यान् चक्षुरादीन्द्रियविषयान् शब्दादीन् प्रत्याहारशक्त्या बहिर्भूतान् कृत्वा, चक्षुश्च भ्रुवोर्मध्ये निधाय (अनेन ज्योतिर्ध्यानधारणासिद्धासनं सूचितम् । 'भ्रुवोर्मध्ये ज्योतिर्लिंगं नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः' इति श्रुतेः) चिरकालाभ्यासवशात् केवलकुंभकप्राणायामबलात्प्राणस्य वायोः प्राणापानस्वरूपां गमागमरूपां क्रियागतिं क्रियाभ्यासपटुतया नासाग्रमात्रसंचारिणीं कृत्वा अर्थात् द्वादशांगुलिमात्रां गतिं रुद्ध्वा केवलं नासाभ्यन्तरचारिणीं विधाय । निरुद्धेन्द्रियकरणबुद्धिवृत्तिकः स्पृहाभीतिक्रोधशून्यो मोक्षपरायणो (अनेनासंप्रज्ञातसमाधिः सूचितः) मननशीलो मुनिर्यो मानवो भवति । स ब्रह्मनिष्ठः संन्यासी सदा जीवितायामवस्थायां तथा देहपातेऽपि मुक्तो भवति । स सदा मुक्त एवावतिष्ठते ॥ २७ ॥ २८ ॥

संस्काररूपसे भीतर (अन्तःकरणमें) प्रविष्ट हुये बाह्य शब्दादिक विषयोंको पुनः बाहर करके (इससे प्रत्यहार कहा) और चक्षुको दोनों भ्रुवोंके मध्यमें स्थित करके (इससे ज्योति ध्यान धारणा और सिद्धासन का चिह्न सूचित किया ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

कि यति सदा भ्रूमध्यमें ज्योतिका ध्यान करे) चिरकाल केवल कुंभकके अभ्याससे, व बाहर भीतर आनेवाली प्राणकी गतिके अभ्याससे, नासिकाके भीतर विचरनेवाले— (अर्थात् द्वादश अंगुल पर्यन्त लम्बी गतिसे चलनेवाले) नासाग्रवर्ती प्राण अपानको निरुद्ध करके, मन और इन्द्रियोंका निरोधकरनेवाला, तथा सर्व भोगकी इच्छा और भय क्रोधसे रहित मोक्षमें परायण (इससे असंप्रज्ञात निर्विकल्प समाधिका लक्षण कहा है) जो मननशील मुनि है वह ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी सदा (अर्थात् जीविता अवस्थामें और देहपातानन्तर भी) मुक्त ही है ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥ २९ ॥

मां परमेश्वरं सर्वेषां यज्ञानां भोक्तारम्, तपसां फलानां च भोक्तारं तथा सर्वलोकेकेश्वरं, सर्वजनानामात्मस्वरूपिणं प्रियतमं सुहृदं ब्रह्मात्मरूपं च ज्ञात्वा, योगी ब्रह्मनिष्ठःपुरुषो मोक्षरूपां शान्तिं लभते२९

मुझ—वासुदेव परमेश्वरको सर्व यज्ञों और तपोंके फलोंका भोगने वाला, सर्व लोकोंका महान् ईश्वर, और सर्व प्राणियोंका आत्मस्वरूप प्रियतम सुहृद ब्रह्मात्मरूप जानकर, योगी ब्रह्मयोगयुक्त पुरुष, मोक्षरूप शान्तिको पाता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

निष्कामः कर्मयोगः सपदि रतिकरा येऽस्य पादारविन्दे,
ज्ञानं वैराग्ययुक्तं भवति च सुलभं यस्य भक्त्या नराणाम् ।
कामक्रोधौ निरस्य स्थिरमतिरमिते लभ्यते यत्प्रसादात्,
तं स्वाराज्यैकहेतुं नवजलदरुचं कृष्णमेवानतोऽस्मि ॥ १ ॥

येऽस्य ब्रह्मणः पादारविन्दे रतिकरा यस्य भक्त्या, तेषां नराणां सपदि निष्कामकर्मयोगो, वैराग्ययुक्तं ज्ञानं च सुलभम् भवति । यत्प्रसादात्कामक्रोधौ निरस्यामिते ब्रह्मणि स्थिरमतिर्लभ्यते । नवजलदरुचं स्वाराज्यैकहेतुं तं कृष्णमेवानतोऽस्मि ॥ १ ॥

जो पुरुष इस परमात्माके चरणारविन्दोंमें प्रेम करनेवाले हैं । जिसकी भक्तिसे उन मनुष्योंको तत्क्षण, कामनारहित, कर्मयोग और वैराग्यसे भराहुआ ज्ञान सुलभ होजाता है । और जिसकी कृपासे काम क्रोधको दूरकर उपासक मनुष्योंकी, ब्रह्ममें दृढ़ बुद्धि स्थिर होजाती है । उन, नवीन मेघके समान कान्तिवाले, आत्मानन्दके एक मात्र कारण श्रीभगवान्को ही मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी—निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

T

ॐ

योगविदे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

पदं ध्यायंध्यायं सुजनमुनिवन्द्यं मधुरिपो-,
र्गुणान्स्मारं स्मारं भवजलधिपारं गमयतः ।
रसं पायं पायं यदुपतिगिरां वेदशिरसां,
मतिर्भूयो भूयो मम हरिपदाब्जे प्रविशतु ॥ १ ॥

सा०—मधुरिपोः, सुजनमुनिवन्द्यं पदम्, ध्यायं ध्यायम्, भवजलधिपारं गमयतो गुणान्, स्मारं स्मारम्, वेदशिरसां यदुपतिगिरां रसं पायं पायम्, मम मतिर्भूयो भूयो हरिपदाब्जे प्रविशतु ॥ १ ॥

अर्थ—मधुनामक राक्षसके मारनेवाले श्रीकृष्ण भगवानके, श्रेष्ठपुरुषों और मुनियों-द्वारा वन्दना करने योग्य चरणोंका वारंवार ध्यान करके,संसाररूपी समुद्रके पार पहुँचाने-वाले गुणोंका वारंवार स्मरण करके, तथा वेदोंके सारभूत शिरोमणि श्रीकृष्ण भगवा-नूकी वाणीके अमृतरूप रसको वारंवार पीकर, मेरी बुद्धि परमात्मा श्रीकृष्णके चरण-कमलोंमें पुनः पुनः (वारंवार) प्रवेश करे ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

वासुदेवोऽब्रवीत्। यो मुमुक्षुः कर्मणां फलानि, न कामयमानः सन्नवश्यमनुष्ठेयं नित्यं, नैमित्तिकं, शुभात्मकं कर्म करोति। स पुरुषो यद्यपि निरग्निराग्निसाध्यश्रौत-स्मार्तकर्मत्यागी न भवति। न च क्रिया-रहितः। तथापि कामनापरित्यागादेव स संन्यासी योगी च विद्यते॥ १॥

जो मुमुक्षु, कर्मोंके फलोंसे निष्काम हुआ, करनेके योग्य नित्य, नैमित्तिक, शुभ कर्मोंको करता है। वह पुरुष यद्यपि अग्निसे रहित नहीं है, तोभी, वह संन्यासी और योगी है॥ १॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

हे पार्थ! श्रुतयः स्मृतयो यं सर्व-कर्मफलत्यागं संन्यासं ब्रुवन्ति। तं परमार्थसंन्यासमेव योगं कर्मानुष्ठान-लक्षणं जानीहि। यतोहि संकल्पस्या-त्यागात्कश्चन योगी भवितुं नार्हति।

तथा च श्रुतौ–

"कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्रतत्र। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥२॥

हे पाण्डवपुत्र, अर्जुन! श्रुतिस्मृतियां जिस कर्म फलत्यागको संन्यास इस नामसे कहती हैं। तू निष्काम कर्मानुष्ठानरूप योगको ही परमार्थ संन्यास जान। क्योंकि, संकल्पके त्यागसे रहित, कोई भी योगी नहीं होता है।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जो फलेच्छासे कार्य करता है वह उन कामनाओंसे तत् तत् लोकमें प्राप्त होता है। जो कामनारहित पुरुष इस आत्माकी उपासना करते हैं वे इस कर्मजन्य संसारको लांघते हैं॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥

ज्ञानात्मके योगे स्वात्मास्थितिं चिकीर्षोः संन्यासिनो मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिसापेक्षती-व्रतरदृढवैराग्यजायमानात्मतत्त्वजिज्ञासो-

ज्ञानयोगमें आरुरुक्षु अर्थात् स्थित होने-वाले, कर्मफल त्यागी संन्यासी मुमुक्षुको, चित्तशुद्धिसे उत्पन्न हुए तीव्र वैराग्य जनित

त्पत्तये, निष्कामकर्माचरणं साधनत्वेन प्रतिपादितम्। ज्ञानयोगमुपारूढस्य ज्ञानकृतस्थितेस्तु सर्वेषामपि कर्मणां त्यागात्मकः शम एव मोक्षास्यै साधनं वर्णितम्॥

तथाचोभयवाक्यम्, श्रुतौ—

मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्,तानि त्रेतायां बहुधा संततानि तान्याचरथ नियतं सत्यकामः । तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ ओमित्येवं ध्यायथ तमेव धीरो विज्ञाय।

तथा चोक्तं महाभारते—

"नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः" ॥ ३ ॥

तीव्र आत्म जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिये, निष्काम कर्मयोग कारण कहा है । और ज्ञानयोगमें आरूढ हुए जितेन्द्रिय पुरुषको तो सब कर्मोंसे निवृत्तिरूप उपशमको ही मोक्षका साधन कहा है।

जैसा श्रुतिमें दोनों विधि कहीं हैं—

विद्वान् तत्त्वदर्शियोंने, जो वेदमन्त्रोंमें कर्मविधानको देखा है । जो कि त्रेता (अग्नि) में वहुत विस्तीर्ण हुए हैं। सत्य—आत्माके इच्छुक उनको करे। यह विधि आरुरुक्षुके प्रति है—

(२) केवल उस एक आत्माको जाने- और अन्य कर्मोंको छोडे । ॐ इस पदका ही ध्यान करे, उसीको ही जाने। यह वाक्य आरूढ हुये पुरुषके प्रति है।

महाभारतमें कहा है—

जैसा, ब्राह्मणका, सर्व प्राणियोंमें एकता, समता और सत्यता, शील, स्थिरता, धीरजता, अहिंसा, सरलता, अकुटिलता और सर्वकर्मसे उपरामरूप धन है। वैसा, इससे अधिक और कोई वित्त नहीं है ॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

यतो हि यदा कालेऽयं मुमुक्षुः पुरुषश्चक्षुरादीन्द्रियविषयेषु नासक्तो भवति। नच तत्कर्मस्वासक्तिं करोति। अथ च सर्वेषां संकल्पानां त्यक्ता भवति। तदैवायं ब्रह्माकारात्मके निर्विकल्पवृत्तिस्वरूपे

क्योंकि—जब यह विद्वान् संन्यासी, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्त नहीं होता है । और कर्मोंमें भी आसक्त नहीं होता है । तथा सर्वकामनारूप संकल्पोंका त्यागी होता है । तब ब्रह्माकार निर्विकल्प वृत्तिरूप ज्ञान-

ज्ञानयोगे स्थितः सन् योगारूढ इति कथ्यते ॥

तथा च मनौ—

"संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः"। काम जानामि ते मूलं संकल्पात्त्वं हि जायसे । न त्वा संकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यति ॥ "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते । विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी आत्मनिष्ठ आत्मरतिः क्रियावान्" इति श्रुतेः ॥ ४ ॥

योगमें स्थित हुआ योगारूढ कहा जाता है—

जैसा कि—स्मृतिमें कहा है—

इच्छाओंका कारण संकल्प है और सर्व काम भी संकल्पसे होते हैं । हे काम! तुम्हारा मूल संकल्प है यह मैं जानता हूं इसलिये मैं तेरा संकल्प नहीं करूंगा जिससे ये काम न होंगे । जैसी इच्छा करता है वैसा संकल्प करता है और फिर वैसे ही कर्म करता है ॥ और आत्मवेत्ता पुरुष, शान्त आत्मामें क्रीडा करनेवाले और आत्मामें ही विश्रान्ति लेता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

मानवः स्वात्मानं विवेकसम्पन्नमनसा, संसारात्समुद्धरेत् । तमात्मानं संसारसागरे न निमज्जयेत् । यतो हि जितो मनोरूपः स्वात्माऽऽत्मनोऽन्तःकरणावच्छिन्नस्य जीवस्य बन्धुरस्ति । स एवाजितः शत्रुर्भवति ।

तथा च श्रुतौ—

" वाचं यच्छ मनो यच्छ यच्छ प्राणेन्द्रियाणि च । आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥ एतैरुपायैर्यस्तु विद्वान् यतते तस्यैवात्मा विशते ब्रह्मधाम" ॥ ५ ॥

अपनी आत्माको विवेक वैराग्ययुक्त मनसे, इस संसारसे उद्धार करे । उस आत्माको संसारसमुद्रमें नहीं डुबाये । क्योंकि, अपना मनरूप आत्मा ही आत्माका बन्धु है और यह मनरूप आत्मा ही आत्माका शत्रु है ।

श्रुतिमें कहा है—

" वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंको रोक कर आत्मासे आत्माका उद्धार करो, जिससे फिर संसारमें भटकना न पड़े "। इन पूर्वोक्त उपायोंसे यत्न करनेवाले विद्वान् पुरुषकी आत्मा ही ब्रह्म स्वरूपमें प्रविष्ट होती है ॥ ५ ॥

T

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

येन पुरुषेणेदं मनोनिर्दोषबुद्धिरूपेणात्मना जितमस्ति । तस्यैवंविधस्य मनोबुद्धिविशिष्टस्यात्मनः सहायको बन्धुर्भवति । किंतु येन मनो नैव जितम्, तस्य पुरुषस्य शत्रुत्वभावे शत्रुवन्मनो वर्तते। तदेवाजितं मनः स्वानिष्टकार्येषु योजयतीत्यर्थः ।

तथा च श्रुतौ—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः" ॥ ६ ॥

जिस पुरुषने, मनरूप आत्माको, शुद्ध बुद्धिरूप आत्माहीसे, जीता है । उसका मनरूप आत्मा बुद्धिविशिष्ट चेतनरूप आत्माका सहायक है बन्धु है । परन्तु अजित मनरूप आत्मावाले पुरुषके शत्रुभावमें, शत्रुके समान उसका विना जय किया हुआ मनरूप आत्मा ही शत्रु है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही है. जिस समय विषयोंमें आसक्त होता है तभी बन्धन करनेवाला होता है. और विषयोंसे अनासक्त हुआ वही मन मोक्षका कारण है" ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

शीतोष्णयोः सुखदुःखयोर्मानापमानयोर्विकारविरहितस्य, शमस्य शांतिं प्राप्तस्य, संन्यासिनः, जितात्मनः पुरुषस्य परमात्मा समाहितः समाधिगम्यो भवति। शान्तेनैव लभ्यः खलु स्वात्मा ॥ ७ ॥

शीत उष्ण और सुख दुःख, तथा मान और अपमानमें जितात्मा, अर्थात् विकाररहित मनवाले तथा अत्यन्त शान्त चित्तवाले संन्यासीको ही, परमात्मा समाधिसे प्राप्त होता है। शान्त पुरुषको ही स्वात्माका लाभ होता है ॥ ७ ॥
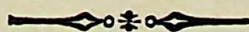
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेंद्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

ज्ञानेन-शास्त्रजन्यपरोक्षज्ञानेन, विज्ञानेन-प्रत्यक्षेण स्वात्मदर्शनेन च,संतृप्तान्तःकरणो निर्विकारो रागद्वेषशून्यः कूटस्थो जितेन्द्रियः स्वात्मवर्तीन्द्रियग्रामः, मायाजन्यत्वात् लोष्टस्वर्णपाषाणादिषु समचित्तो, ब्रह्मनिष्ठो योगी युक्तो योगारूढो भवतीत्युच्यते श्रुतिस्मृतिभिः ।

तथाच श्रुतौ—

"महत्पदं ज्ञात्वा, वृक्षमूले वसेत् कुचैलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकामः आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो, व्याघ्रे, हस्तिनि, सिंहे, दंशे, मशके, नकुले, सर्पे, यक्षे, राक्षसे, गंधर्वे, मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चन । वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत । उपल इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत । आकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कुप्येत न कम्पेत । सत्येन तिष्ठासेत् ।" "अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् । अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते " ॥ ८ ॥

ज्ञान (शास्त्रीयज्ञान), विज्ञान (अनुभवज्ञान) से संतुष्ट अन्तःकरणवाला, निर्विकार, जितेन्द्रिय और मायाका कार्य होनेसे लोह पत्थर और स्वर्णको एक बराबर समझनेवाला,ब्रह्मनिष्ठ योगी पुरुष, योगारूढ है, ऐसा श्रुतिस्मृतियोंमें कहा जाता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है कि—

" ब्रह्मपदको जानकर संन्यासी कुचैल, असहायी और अकेला, समाधिस्थ आत्मामें ही संतृप्त, सर्व कामनाओंसे तृप्त, कामनाओंसे रहित, व्याघ्र, हस्ती, सिंह, मच्छड़, नकुल, सर्प, यक्ष, राक्षस, गंधर्व इनमें मृत्युके रूपोंको देखकर भी किसीसे भयभीत नहीं होता है । वृक्षके समान अचल रहता है, छेदन करनेपर पत्थरके समान अचल रहता है, न कम्पित होता है, न कुपित होता है और आकाशके समान स्थिर रहता है, न कुपित होता न कम्पित होता है, सत्य आत्मामें ही सदा स्थित रहता है । " ज्ञान और विज्ञानकी व्याख्या श्रुतिने की है "कि,"ब्रह्म है" यह परोक्षज्ञान है और "मैं ब्रह्म हूं" यह साक्षात्कार विज्ञान अर्थात् अपरोक्ष कहा जाता है" ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

प्रत्युपकारानपेक्षया हितकर्तरि सुहृदि, स्नेहिनि मित्रेऽपकारिणि रिपौ पक्षपातदोषहीने उदासीने, उभयपक्षहितावहे मध्यस्थे, स्वस्य द्वेष्ये, प्रिये बन्धौ, साधुचाराचारेषु साधुषु, दुष्टाचारात्मकेषु पापेषु

प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके उपकार करनेवाला सुहृद, स्नेही मित्र और अपकार करनेवाला शत्रु, इनमें और पक्षपातरहित उदासीन, दोनों पक्षका हित करनेवाला मध्यस्थ, अपने आपको अप्रिय और प्रिय-

जनेषु च यः समं ब्रह्मात्मानं पश्यन्समबुद्धिः समदर्शी भवति स एव श्रेष्ठो मनीषी ॥ ९ ॥

बन्धु इनमें, तथा सदाचारी साधु और पापिष्ठ इन सबमें, जो ब्रह्मात्मदर्शी समदर्शी समबुद्धि रखनेवाला विद्वान् योगी है, वह श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ १० ॥

ध्यानाभ्यासी योगी, गिरिगुहादौ विजने पूते देशे स्थितो नियमितचित्त एकाकी निस्पृहो निराशीः सेहेन्द्रियशरीरात्मकफलाशयाहीनो धनादिपरिग्रहविमुखः संन्यासी, सदैव चित्तं स्वस्वरूपात्मनि, निश्चलैकाग्रतया योजयेत्। तत्रैव समाहितं कुर्यादित्यर्थः ॥ १० ॥

ध्यानका अभ्यास करनेवाला योगी, एकान्त देश गिरि गुहादिमें रहनेवाला, देह इन्द्रिय, अन्तःकरण इनको स्ववशमें नियमित रखनेवाला, सब कर्मोंके फलोंकी आशासे रहित और धन आदिके परिग्रहसे रहित, संन्यासी, अपने चित्तरूपी आत्माको सदैव एकाग्र करके स्वस्वरूप आत्मामें जोडे। अर्थात् समाहित करे ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

गंगादिवत्स्वतःपवित्रे जलादिना वा पवित्रीकृते देशे, नातिनीचं, नात्युच्चं, कुशमृगचर्मवस्त्रयुक्तं स्थिरमासनं स्थापयेत् ॥

तथा च श्रुतौ—

" विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः। अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य" ॥ ११ ॥

श्री गंगादि तीर्थके समान स्वाभाविक पवित्र, या जलप्रक्षालनादि संस्कारसे पवित्र किये स्थानमें, न अत्यन्त नीच, न अत्यंत ऊचे स्थानमें, कुश, मृगचर्म और ऊपर वस्त्रसे युक्त आसन बिछाकर, अपनी निश्चल आसन स्थापित करे ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"कि—पवित्र एकान्त देशमें सुखपूर्वक बैठे और पवित्र होकर, ग्रीवा शिर और शरीरको सम दण्डवत् सीधा करके, संन्यासी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम कर भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम कर ध्यानावस्थित होवे" ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

तत्र पूर्वोक्तविधया स्थापितासने समुपाविश्य, चित्तस्य स्मरणात्मिकां वृत्तिं, तथा चक्षुरादीन्द्रियजन्यदर्शनश्रवणादिक्रियाश्च जित्वा (निरुध्य) साधकपुरुषः स्वान्तःकरणं सर्वविषयेभ्यो निरुद्धय परमात्मलक्ष्यैकतानं विधाय, स्वान्तः करणशुद्धये योगं युञ्ज्यात् ॥ १२ ॥

उस योगासनपर बैठकर, चित्तकी स्मरणादिरूप और इन्द्रियोंकी शब्द श्रवणवचनादिरूप क्रियाको जय करनेवाला पुरुष, अपने मनको विषयोंसे रोककर, परमात्मदेवमें एकाग्र करके, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगको करे ॥ १२ ॥
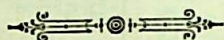
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

योगासने स्थिरो भूत्वा, स्वकायशिरोग्रीवं समं च विधाय, यथाक्रमं षट्चक्रभेदनपुरःसरं नासिकाग्रं पश्यन् दिशश्चापश्यन् सुखमवतिष्ठेत ॥ १३ ॥

योगासनपर स्थित होकर, शरीर शिर और ग्रीवाको सम करके अर्थात् षट् चक्रोंका भेदन करता हुआ, नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि रखकर, दिशाओंको न देखता हुआ स्थिर रहे ॥ १३ ॥

प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

प्रकर्षेण शान्तं मनो यस्य प्रशान्तात्मा निर्भयो, गुरुशुश्रूषाभिक्षादियुक्तेऽष्टांगमैथुनरहिते ब्रह्मचर्ये व्रते स्थितः सन्, मयि सच्चिदानन्दे ब्रह्मणि तत्परो मच्चित्तो मत्परायणो भूत्वा समाधिनाऽवतिष्ठेत ॥

अत्यन्त शांत अन्तःकरणवाला, निर्भय और स्त्रीचिंतनादि अष्टांग मैथुनसे रहित, गुरुशुश्रूषा भिक्षादिसे युक्त ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित हुआ, मनका निग्रह करके, मुझ सच्चिदानन्द परब्रह्ममें चित्त स्थापन कर मत्परायण होकर, समाधिमें स्थित होवे ।

ब्रह्मचर्य व्रतके विरोधी अष्ट मैथुनको श्रुति कहती है—

तथाच श्रुतौ–

ब्रह्मचर्यव्रतमुक्तम्–"श्रवणं स्मरणं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः"॥ १४॥

स्त्रीजनोंके रूपादि गुणोंका श्रवण करना, उनका स्मरण करना, उनके साथ द्यूतादि क्रीडा, उनको अच्छी तरह देखना, उनके साथ व्यभिचारी वार्तोंका भाषण करना, पुनः–प्राप्तिका संकल्प करना, और संभोगरूप नीचाचरण करना, इन आठ अंगयुक्त मैथुनके त्यागको ही ब्रह्मचर्य कहते हैं, वेषमात्र धारणको ब्रह्मचर्य नहीं कहते हैं॥ १४॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

एवंरीत्या सदा स्वान्तःकरणं परमात्मनि युञ्जन्, समाधौ-समादधानः, सततयोगाभ्यासी, मनोनिग्रहीता, मयि ब्रह्मणि निष्ठो योगी, परां मदधीनां, शान्तिं मोक्षमाप्नोति॥ १५॥

इस प्रकार अपने मनको समाहित करता हुआ सदैव योगाभ्यास करनेवाला, मुझ परब्रह्ममें एकताभावसे मनको स्थिर करनेवाला, मेरेमें स्थित हुआ योगी, परमशान्ति मोक्षको प्राप्त होता है॥ १५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ १६॥

हे अर्जुन! अयं पूर्वोक्तो योगोऽतिभुञ्जानस्य न भवति। नच भोजनमकुर्वतोऽपि। नातिस्वप्नशीलिनो जनस्य। नचातिजागरणं विदधतः पुरुषस्य भवति। समक्रियाहारविहारशीलेनैवायं योगोऽनुष्ठेयो भवतीत्यर्थः॥

हे अर्जुन! अति भोजन करनेवाले, और नियमसे न भोजन करनेवाले तथा अत्यन्त सोनेवाले और अति जागरण करनेवाले पुरुषसे, यह कहा हुआ योग, नहीं हो सक्ता है। अर्थात् नियमित आहारादि क्रिया सेवनेवालेको ही यह योग साध्य होता है।

तथाच शतपथे–

" यदु ह वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनास्ति । यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति ॥ १६ ॥

शतपथ ब्राह्मणमें कहा है–

जो अपने शरीरकी शक्तिके अनुसार खाया जाता है, वह रक्षा करता है, वह कष्ट नहीं देता । जो उससे अधिक होता है वह कष्ट देता है । और प्रमाणसे न्यून होनेपर रक्षा नहीं करता ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ १७ ॥

शास्त्रोक्तपरिमितिनियमिताहारस्य, शौचस्नानभिक्षादिकर्मसु नियतचेष्टस्य, व्यवस्थितनिद्राजागृतेः, दृढतीव्रवैराग्यवतो, योगाभ्यासिनो मानवस्यैवोक्तविधो योगो जननमरणदुःखहा भवति । संसारान्मोचयतीत्यर्थः ॥

तथाचोक्तं योगे–

" अर्धमशनस्य सव्यंजनस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः संचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् " ॥ १७ ॥

नियमित आहार विहारवाले, शौच स्नान और भिक्षा आदि कर्मोंमें परिमितचेष्टावाले, तथा परिमितनिद्रा और जागरणवाले, तीव्रवैराग्यवान् योगाभ्यासीका योग, जन्म मरणरूप दुःखका नाश करनेवाला होता है ।

जैसा योग शास्त्रमें कहा है–

"उदरका आधाभाग शाकपत्रादियुक्त भोजनसे पूरित करे और तीसरा भाग उदकसे पूरित करे । और चौथा भाग वायुके संचरणके लिये शेष रक्खे " ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा परिपाकाभ्यासकाले, विनियतं विशेषेण निरुद्धं चित्तमात्मन्येव स्थिरं भवति । अथच पुरुषः उभयलोकस्य सर्वकामनाभ्यो वितृष्णो भवति । तदैव स निस्पृहो निगृहीतचेताः(पुरुषो)योगी युक्त

जब, विशेष प्रयत्नसे निरुद्ध किया हुआ चित्त, केवल ब्रह्मत्मामें ही स्थित होता है । और सर्व भोग कामनाओंसे निस्पृह होता है तब योगी योगयुक्त कहलाता है अर्थात

इत्युच्यते शास्त्रविद्भिः। अर्थात् परमात्मदेवस्थितो भवति न चान्यविषये ॥१८॥

परमात्मदेवमें सम्यक्रीतिसे स्थित होता है ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

यथा-पवनचलनशून्ये देशे स्थितो दीपो नैव कम्पते, तस्मिन्स्थाने दीपज्योतिः-कलिका यथा स्थिरा भवति। तथैव तादृशी स्थिरोपमा, योगिनो निरुद्धचित्तस्य, योगं विदधतो मानवस्यान्तःकरणस्य (दीयमाना) भवति। तत्तुल्यं, शुद्धमन्तःकरणं स्थिरं भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

जैसे-पवनरहित स्थानमें दीपक नहीं हिलता है, अर्थात् जैसे दीपकज्योति स्थिर रहती है। वही उपमा निरुद्ध चित्तवाले, तथा योगका अनुष्ठान करनेवाले योगीके अन्तःकरणको दीजाती है। अर्थात् उसका, शुद्ध चित्त, दीपज्योतिके समान स्थिर और प्रकाशयुक्त रहता है ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ २० ॥

उपर्युक्तयोगाभ्यासबलेन यत्र विशेषावस्थायां, योगपाककाले, निरुद्धं चित्तं शान्ति लभते। अर्थात् संसारान्निवृत्तो भवत्युपरमते। यस्यामवस्थायां च, मलविक्षेपावरणदोषनिर्मुक्तशुद्धबुद्धरूपेणात्मना च प्रत्यगभिन्नमात्मानं वृत्तिव्याप्त्या (नतु फलव्याप्त्या), निरावृतं शुद्धं निर्विकल्पं विषयासंपृक्तं पश्यन्नलंबुद्ध्या तत्रात्मनि सुखं लभमानो मोदते।

तथाच श्रुतौ-

"स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा"॥२०॥

उक्त योगाभ्यासके करनेसे चंचलतारहित मन निरुद्ध हुआ उपशमको प्राप्त होता है। अर्थात् प्रपंचसे उपरत होता है। और जिस सात्त्विक परिणाम विशेषके होनेपर ज्योतिस्वरूप प्रत्यक् आत्माको, केवल अन्तःकरणकी "अहं ब्रह्मास्मिरूप" वृत्ति व्याप्तिद्वारा निरावरण देखता हुआ, परमानन्दरूप आत्मामें ही अलंबुद्धिरूप संतोषको प्राप्त होता है।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वह, मोदनिय वस्तु आत्माको पाकर आनन्दमग्न होता है" ॥ २० ॥

T

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

यदात्मसुखमनन्तमिन्द्रियाग्राह्यं केवलेन मनसा बुद्ध्या च ग्राह्यं विद्यते। तदेव सुखं यस्यामवस्थायां, ज्ञानयोगी स्वनुभवति । तदा तत्र स्थित्वा स्वात्मरूपान्न च्यवते नच कम्पते स ज्ञानयोगी ।

तथाच श्रुतौ—

"आकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न कम्पेत न कुप्येत" ॥ २१ ॥

जो—आत्मसुख अनन्त है, इन्द्रियोंका अविषय है, तथा केवल शुद्धबुद्धिसे ही ग्रहण करने योग्य है उस सुखको, यह-ज्ञानयोगी जिस अवस्थाविशेषमें अनुभव करता है तथा जिसमें स्थित होकर यह ज्ञानयोगी पुरुष, अपने आत्मरूपसे कभी भी चलायमान नहीं होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" आकाशके समान स्थिर रहे, न कुपित होवे, न कम्पित होवे " ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चाऽपरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥

यमात्मानन्दं प्राप्य तस्मादधिकं किमपि न मन्यते । अथ यस्मिन्नानन्दे स्थितो गुरुणा महता शस्त्रनिपातादिलक्षणेन, दुःखेनापि न विचाल्यते ॥ २२ ॥

जिस ब्रह्मानन्दको प्राप्त होकरके, अन्य किसीभी लाभको उससे अधिक नहीं मानता है । और जिस ब्रह्मानन्दमें स्थित होकर महान शस्त्रपातादि दुःखसे भी विचलित नहीं होता है ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

तं पूर्वोक्तं दुःखासंस्पर्शिनं, दुःखसंबंधयोगावियोगकरणदक्षां निरोधावस्थां ब्रह्मात्मस्थितिमेव योगं जानीहि ।

दुःखके संबंधसे रहित, निरोधावस्थारूप ब्रह्मात्मस्थितिको ही योग जान । अर्थात् जिस अवस्था विशेषको योग नामसे कहा है

एवंविधो योगस्त्वयाऽनुद्विग्नतया दृढचेतसा च नूनमनुष्ठेयः।

तथा च श्रुतौ–

"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" ॥२३॥

वह योग, दृढ निश्चयसे तथा उद्विग्नतारहित चित्तसे करनेके योग्य है। अर्थात् अवश्यही योगका अभ्यास करो।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"मनकी शान्तिरूप शमसे युक्त होकर, तथा बहिरिन्द्रियोंकी शान्तिरूप दमसे युक्त होकर, सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंसे उपरत हुआ, द्वन्द्वोंको सहन करता हुआ समाहित चित्तसे ब्रह्मात्माका साक्षात्कार करे" ॥२३॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥

संकल्पाज्जायमानाः सर्वाः सवासनाः कामनाः परित्यज्य तथैव स्वायत्तेन विवेकिना मनसा, समंततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यो चक्षुरादीन्द्रियाणि सर्वाणि निरुध्य च शनैरित्यनेन संबंधः ॥ २४ ॥

संकल्पजन्य सर्व कामनाओंको, वासनासहित परित्याग करके, तथा मनसेहीं, इन्द्रियोंके समूहको विषयोंसे रोककर ॥ २४ ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ २५ ॥

धैर्यबलेन गृहीतया बुद्ध्या, शनैःशनैर्दिव्यादिव्यादिविषयेभ्य उपरमेन्निवर्तेत। अथ च ब्रह्मणि स्वान्तःकरणं सन्निधायान्यत्किमपि न चिन्तयेन्मनसापि ॥ २५ ॥

धैर्यद्वारा वशीभूत की हुई बुद्धिसे, धीरे धीरे, दिव्य और अदिव्य विषयोंसे निवृत्तिरूप उपरतिको करे। और ब्रह्मरूप आत्मामें सम्यक् रीतिसे मनको स्थित करके अन्य किसी भी पदार्थका चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यस्माद्यस्मात्प्राप्तस्मृतात् विषयाद्(हेतोः) कारणात् चंचलं मनो बहिर्याति । दृढवैराग्येण ततस्तस्मादेव विषयादवरुध्यावकृष्यात्मनि स्थिरं कुर्यात् ॥

तथा च श्रुतौ—

" मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" ॥ २६ ॥

जिस जिस समीपमें प्राप्त, किंवा स्मरण किये विषयरूपहेतुसे, चंचल और अस्थिर हुआ मन बाहिर जाता है अर्थात् विषयाभिलाषी होता है । उस उस विषयसे दृढ़ वैराग्यद्वारा इस मनको रोक कर, ब्रह्मात्मामें ही स्थिर करे।

क्योंकि श्रुतिमें कहा है—

" मनही मनुष्योंको बंधन और मोक्षका कारण है" ॥ २६ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

एवंविधिविधानेन प्रशान्तस्य निवृत्तरजस्तमोमलस्य, फलदत्वात् धर्माधर्मात्मककल्मषरहितस्य, जीवन्मुक्तस्य योगिनो निरातिशयं ब्रह्मानन्दात्मकं सुखं जायते । तस्य योगिनो ब्रह्माभिव्यक्तिर्जायत इत्यर्थः ॥

तथा च श्रुतौ—

" एषोऽस्य परमानन्दः" ॥ "न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले। सर्वाशासंक्षये चेतः-क्षयो मोक्ष इतीर्यते" ॥ २७ ॥

प्रशान्त मनवाले, रजोगुण और तमोगुणरूपमलसे रहित, तथा धर्म और अधर्मरूप कल्मष (ये धर्म और अधर्म फलाफलदायी होनेसे बंधनदायी कल्मष कहे गये) से रहित जीवन्मुक्त योगीको निश्चयही नित्य निरतिशय ब्रह्मानंद रूप उत्तम सुख प्राप्त होता है । अर्थात् ब्रह्मानंदका आविर्भाव होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"तत्त्ववेत्ताको यही आत्मरूप परम आनंद है"। वासिष्ठमें कहा है—"हे राम ! मोक्षवस्तु आकाश वा पाताल तथा भूमिके ऊपर नहीं है किन्तु, चित्तकी समस्त आशाओंके नाशको ही श्रुति और सन्त मोक्ष कहते हैं " ॥२७॥

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

एवं सर्वदा स्वान्तःकरणमात्मनि समादधत् सर्वधर्माधर्मकल्मषपंकरहितः "यतोहि धर्माधर्मौ स्वफलदानेनात्मानं बध्नीतः।" योगी सुखेन—अनायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मस्पृक् ब्रह्मभूतमपरिच्छिन्नमत्यन्तं सुखं लभते। अर्थादहं ब्रह्मास्मीति स्वात्माऽनुभूयते ॥ २८ ॥

इस प्रकार, सर्वदा अपने मनको आत्मामें समाहित करता हुआ सर्व धर्म और अधर्मरूप कल्मषसे रहित योगी, अनायास ही सुखपूर्वक 'ब्रह्मैवाहं' इस प्रकारसे आत्मसुखका अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

योगयुक्तात्मा ब्रह्मयोगस्थितचेता योगी, सर्वत्र प्रपंचे समदृष्टिभूतः सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु स्थितं ब्रह्मरूपिणमात्मानमात्मनि च सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादीनि-स्तम्बपर्यन्तानि जले तरंगमिवाभेदेन पश्यति।

उक्तं च योगवासिष्ठे—

"येन राष्ट्रं रसं रूपं गंधं जानासि राघव। तमात्मानं परं ब्रह्म जानीहि परमेश्वरम्" ॥ २९ ॥

ब्रह्मयोगमें युक्त चित्तवाला योगी पुरुष, सर्व प्रपंचमें समदृष्टिवाला होकर, ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सर्व भूतोंमें स्थित ब्रह्मरूप आत्माको और आत्मामें सर्व भूतोंको, जलतरंगवत् अभिन्नरूपसे देखता है।

योगवासिष्ठमें कहा है—

"हे राम! जिससे राज्यको, रसको, रूपको और गंधको भी जानते हो। उसी आत्माको परब्रह्म परमेश्वर जानो" ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

यो ब्रह्मनिष्ठो योगी सर्वत्र चराचरात्मके प्रपंचे जगति, माम्—परब्रह्म-परमा-

जो ब्रह्मनिष्ठ योगी, सर्व प्रपंचमें मुझ परब्रह्मको देखता है। और मुझमें ही, सर्व

त्मानं श्रीकृष्णमेव पश्यति । तथा च सर्वं प्रपंचं मयि ब्रह्मणि पश्यति स्वात्मरूपेण । स च माम् प्रत्यक्षं पश्यति । अहं च तं प्रत्यक्षेण पश्यामि ॥ ३० ॥

प्रपंचको आत्मरूप देखता है। उसको मैं प्रत्यक्ष हूं। और वह मुझे प्रत्यक्ष ही है ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ ३१ ॥

यो ब्रह्मनिष्ठो योगी ब्रह्मात्मैकत्वेन सर्वभूतास्थितं मां भजति । स्वात्माभेदेन सर्वस्थं ब्रह्मात्मानं पश्यतीर्थः ॥ स योगी जनकशुकदत्तात्रेयादिवत् सर्वप्रकारेण वैदिकं व्यवहारं कुर्वाणोऽपि मयि ब्रह्मणि वर्तते । यतो हि तस्य स्वात्मत्वात् ॥३१॥

जो ब्रह्मनिष्ठ योगी, सर्व भूतोंमें स्थित मुझ परब्रह्मको, अपनेसे मुझको एकरूप जानकर'अहं ब्रह्मास्मि' भावसे भजता है। वह योगी, ब्रह्मनिष्ठ राजा जनकादिक और ब्रह्मनिष्ठ दिगम्बरदत्तात्रेय शुकादि अवधूतके समान, सर्वप्रकारसे वेदोक्त व्यवहार करता हुआ भी, मुझ परब्रह्ममें स्थित है ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

यो योगी विद्वान् मानवः,सर्वेषु प्राणिषु सुखं वा दुःखं स्वात्मतुल्यं पश्यति । स ब्रह्मवित्-योगी श्रेष्ठो मतो मे ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! जो विद्वान् पुरुष, सर्व प्राणियोंमें अपने समान सुख दुःखादिकोंको देखता है । वह ब्रह्मवेत्ता योगी, सर्व योगी जनोंमेंसे श्रेष्ठ माना जाता है ।यह मेरा परम निश्चय है ॥ ३२ ॥
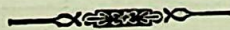
अर्जुन उवाच ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच। हे मधुसूदन! भवताऽयं मनोनिरोधात्मको यो योगः समत्वेन प्रतिपादितः। अहं मनश्चंचलत्वात्तस्य समत्वात्मकस्य योगस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि।

तथोक्तं वासिष्ठे—

"चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम्। तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः" ॥ ३३ ॥

अर्जुन बोला—हे मधुदैत्यके हनन करनेवाले श्रीकृष्ण भगवन्! जो यह मनोनिरोधरूप समभाववाला योग कहा है। मैं मनके चञ्चल होनेसे उसकी चिरस्थायिनी स्थितिको नहीं देखता हूं।

योगवासिष्ठमें कहा है—

यह चित्तही समस्त पदार्थोंका कारण है, उस मनकी सत्ता रहनेपर ही तीनों लोकोंकी प्रतीति होती है। और मनके नाश होनेपर संसारका भी क्षय होता है, इसलिये अतिप्रयत्नसे मनके निरोधन करनेका उपाय करो ॥ ३३ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे भगवन्! यतो हि मनो दृढं चंचलं चक्षुरादीन्द्रियाणि प्रसह्य प्रमथ्नाति। अतएव बलवत् प्रमाथि वर्तते। तस्यैवंभूतस्य मनसो निरोधं वायुनिरोधमिव दुष्करं मन्ये ॥

तथा चोक्तं श्रुतौ—

"क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभस्थलम्। क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे, तृष्णाहृत्षट्पदी यथा" ॥ ३४ ॥

क्योंकि, हे भगवन् श्रीकृष्ण! यह अतिचञ्चल मन, इन्द्रियोंको सब प्रकार परवश करनेवाला, क्षोभक, बलवान् और दृढ़ है। मैं उसके निरोधको वायुके निरोधके समान अत्यन्त कठिन मानता हूं।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"यह मन तृष्णाकुल हुआ, भ्रमरके समान क्षणभरमें पाताल लोकको, क्षणभरमें आकाशको और क्षणभरमें चारों दिशाओंमें दौड़ता है" ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

वासुदेवो भगवानेवमवोचत् । हे अर्जुन ! यद्यपि मनश्चञ्चलं दुःखेन ग्राह्यं दुर्निग्रहं विद्यते । नात्र संशयस्तवोक्तौ । तथापि पुनःपुनर्ब्रह्मचिन्तनाभ्यासेन, दृष्टादृष्टविषयेषु परमवैराग्येण चेदं मनोऽवश्यं गृह्यते ।

तथाच श्रुतौ–

" हस्तेन हस्तं संपीड्य, दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च । अंगान्यंगैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥ "

योगसूत्रे च–"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥"

वासिष्ठे–"नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढं बध्यते मनः। सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढं मुच्यते मनः ॥ सत्संगो वासनात्यागोऽध्यात्मविद्याविचारणम् । प्राणस्पन्दनिरोधश्चेत्युपाया मनोजये" ॥ ३५ ॥

श्रीवासुदेव भगवान् बोले–हे आजानुबाहु अर्जुन ! मन कठिनतासे निग्रह किये जानेवाला है तथा चञ्चल है, इसमें सन्देह नहीं । परंतु हे कौन्तेय ! वारंवार ब्रह्मचिन्तनरूप अभ्याससे और दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (पारलौकिक) विषयोंमें तृष्णाके अभावरूप वैराग्यसे, यह मन निग्रहको प्राप्त होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" जैसे हाथोंसे हाथोंको घोंटकर दांतोंको दांतोंसे दाबकर, भुजाओंसे भुजाओंको दबाकर कार्य करते हैं, वैसेही सर्व प्रकारके दृढ प्रयत्नोंसे मनको वशमें करे" ॥ "अभ्यास और दुःखदोषानुदर्शनरूप वैराग्यसे मनका निरोध होता है"॥"मैं ब्रह्मसे भिन्न हूं ऐसे विचारसे मनको दृढ़ बन्धन प्राप्त होता है । और दृश्यमान यह सर्व जगत् ब्रह्मरूप ही है अर्थात् वासुदेवरूप है इस दृढ संकल्पसे मनकी भले प्रकार मुक्ति हो जाती है " ॥ ब्रह्मनिष्ठ विद्वानोंका संग, तृष्णाका परित्याग, वेदान्त, विद्याका नियम पूर्वक विचार और प्राणायाम, ये चारों उपाय, मनके विजय करनेके साधन हैं । इसलिये मुमुक्षुओंको सदा इनका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अवशीकृतचेतसा जनेनायं योगो दुर्लभ्योऽस्तीति मे मतम् । किन्तु प्रयत्नं कुर्वता वशीकृतमनसा पुरुषेण प्रणवार्थ-

अजित मनवाले पुरुषको, इस योगका पाना अत्यंत कठिन है,ऐसा मेरा निश्चय है । परन्तु प्रयत्न करनेवाले और वशीकृतमनवाले जिते-

लक्ष्यब्रह्मचिन्तनाभ्यासेन, परमवैराग्येण, चोपायेन लब्धुं ज्ञातुं योगो योग्यो भवति ॥ ३६ ॥

न्द्रिय पुरुषको प्रणव अर्थका चिन्तनरूप अभ्यास और सर्व पदार्थोंमें दोषदर्शनरूप जो दृढ़ वैराग्य है, इन दोनों उपायोंद्वारा यह योग प्राप्त हो सक्ता है ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

हे परमात्मन् कृष्ण ! यथावत्प्रयत्नाविरहितो, योगाच्चलितमना योगभ्रष्टः श्रद्धालुः पुरुषो योगसिद्धिमप्राप्य कां गतिं याति ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोला-हे श्रीकृष्ण भगवन् ! पूर्णप्रयत्नसे रहित, श्रद्धासे युक्त और योगसे विचलित हुये मनवाला (योगभ्रष्ट) योगी पुरुष, योगकी सम्यक् दर्शनरूप सिद्धिको न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे भक्तभयहरण, स्वात्मान्तर्यामिन् वासुदेव ! ब्रह्मप्रापके ज्ञानमार्गे संशयमापन्नमानसः कर्मोपसनाद्यप्रतिष्ठाशून्यो योगभ्रष्टः सांख्ययोगोत्थफलात् भ्रष्टो मानवश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति किम् ? ॥ ३८ ॥

हे भक्तसंशयनिवारक, महान् बाहुओंवाले, श्रीकृष्ण भगवन् ! ब्रह्मप्राप्तिके ज्ञानरूप मार्गमें संशयग्रस्त और कर्म तथा उपासनारूप प्रतिष्ठा (आश्रय) से रहित योगभ्रष्ट पुरुष, ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंके फलसे च्युत हुआ क्या फटे हुए बादलके समान नष्ट होजाता है ? ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण! संशयमिमं छेत्तुं त्वमेव शक्नोषि। यतो हि त्वत्कृष्णात् भगवत ऋते परब्रह्मस्वरूपादन्यो देव ऋषिर्वा इमं संशयं छेत्तुं न लभ्यते मया कालत्रयेऽपि ॥३९॥

हे भगवन् योगेश्वर देव श्रीकृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्ण रूपसे छेदन करनेको आप जगद्गुरु ही समर्थ हो। क्योंकि आपसे अन्य और कोई ऋषि या देवता, इस कठिन संशयको छेदन करनेवाला त्रिकालमें नहीं मिल सकता है ॥ ३९ ॥
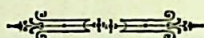
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवानुवाच—हे पार्थ! योगभ्रष्टस्य पुरुषस्य, नास्मिन् लोके परलोके वा, विनाशो भवितुं शक्यते। हे अर्जुन! यतो हि कल्याणकर्ता कश्चिदपि दुर्गतिं नाधिगच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथापुत्र! उस योगभ्रष्ट पुरुषका, न इसलोकमें न परलोकमें विनाश होता है। हे तात अर्जुन! क्योंकि कल्याणकारी वेदोक्त शुभ कर्मोंका करनेवाला कोई भी, दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्टः पुरुषः, पुण्यैर्जनैर्लभ्यं स्वर्गादिकं लोकमासाद्य, तत्रच कियन्तं कालं स्थित्वा भुक्त्वा च भोगान्, साध्वाचाराणां श्रीमतां गृहे जन्म लभते ॥ ४१ ॥

योगभ्रष्ट पुरुष, पुण्यात्मा पुरुषोंको प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होकर, वहीं दीर्घकालतक निवास करके, अनन्तर पवित्राचरणी श्रीमान् धनवानोंके पवित्र घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा ज्ञानवतां धनहीनानामल्पधनानां योगिनामेव कुले जन्म संपद्यते।

अथवा ज्ञानवान् योगियोंके कुलमेंही जन्म लेता है। क्योंकि इस मृत्युलोकमें ज्ञानवान्

यतो हि लोकेऽस्मिन्नीदृशं जन्मापि दुर्लभतरं विद्यते। महता हि पुण्यौघेन ज्ञानिनां योगिनां ब्राह्मणत्वादिसंस्कारसंस्कृते कुले जन्म जायते ॥ ४२ ॥

योगियोंके वैदिक ब्राह्मणत्वादि संस्कारोंवाले कुलमें जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

हे पार्थ ! स योगभ्रष्टो योगी, तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि पूर्वदेहकृतं ज्ञानसाधनं श्रवणादिकं प्राप्नोति । अथ च संसिद्धौ मोक्षविषये (पुनर्मोक्षाय) यतते ॥ ४३ ॥

हे कुरुनन्दन अर्जुन! वह योगभ्रष्ट पुरुष, उन दोनों प्रकारके जन्मोंमें, पूर्वदेहमें प्रारम्भ किये हुये ब्रह्मज्ञानके श्रवणादिक साधनोंको प्राप्त होता है। उसके अनन्तर, मोक्षके निमित्त पुनः और अधिक प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

स योगभ्रष्टः प्रयत्नमविदधानोऽपि पूर्वजन्मयोगसंस्कारबलेन, तस्मिन्न ज्ञानसाधने महावाक्यश्रवणमननादौ प्रवर्त्यते। संस्कारप्राबल्याद्ब्रह्मतत्त्वजिज्ञासुरपि शब्दब्रह्म कर्मकाण्डात्मकं वेदफलमतिवर्तते। अर्थात् कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानेऽधिकारी भवति ॥ ४४ ॥

वह योगभ्रष्ट पुरुष, प्रयत्न न करता हुआ भी, पूर्वजन्ममें किये हुये योगके प्रबल अभ्यासके संस्कारसे ही महावाक्योंके श्रवणमननादि साधनोंमें ही प्रवृत्त होता है। क्योंकि, ज्ञानयोगद्वारा ब्रह्मके जाननेकी इच्छावाला जिज्ञासु, शब्दब्रह्म—अर्थात् कर्मकाण्डरूप वेदफलको अतिक्रमण करता है ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

संशुद्धपाप्मा योगी पुरुषश्चैवमभ्यासं कुर्वन्नैकजन्मकृतपुण्यसमुदयसमुत्पन्नदृढतत्त्वज्ञानात्मिकां सिद्धिं प्राप्य परां गतिं मोक्षं याति ।

तथा च श्रुतौ—

"न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" ॥ ४५ ॥

और वह योगी पुरुष, इसप्रकार दृढ़ प्रयत्नसे अभ्यास करता हुआ सर्वपापोंसे रहित, अनेक जन्मोंमें किये हुए संचित पुण्यकर्मोंद्वारा, दृढ़ तत्त्वज्ञानरूप सम्यक् सिद्धि को प्राप्त होकर, मोक्षरूपी परम गतिको प्राप्त होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वह तत्त्ववेत्ता पुरुष पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) को प्राप्त नहीं होता" ॥ ४५ ॥
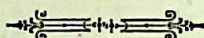
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

हे अर्जुन ! आत्मज्ञानसम्पन्नो योगी, कृच्छ्रचांद्रायणादितपःकर्तृभ्यस्तापसेभ्योऽपि श्रेष्ठोऽधिको मतः॥ वाक्यरूपमीमांसावेत्तृभ्यः प्रमाणप्रमेयादिन्यायतत्त्वविद्भ्यः परोक्षज्ञानिभ्यश्चापि मतोऽधिकः । सच कर्मकर्तृभ्यः कर्मयोगिभ्योऽपि श्रेष्ठोऽधिको मन्यते । अतस्त्वमपि ब्रह्मनिष्ठो योगी भव ॥ ४६ ॥

हे अर्जुन ! वह परमात्मज्ञानसम्पन्न योगी, कृच्छ्र चांद्रायणादि तपकरने वाले तपस्वियोंसे वाक्यरूपमीमांसा और प्रमाणप्रमेयरूप न्यायके ज्ञाता पण्डित परोक्षज्ञानियोंसे भी अधिक है । तथा कर्मयोगियोंसे भी अधिक माना गया है । इस कारण तू भी ब्रह्मनिष्ठ योगी होओ ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

यो विधिविहितसम्पन्नज्ञानयोगः श्रद्धाळुर्मां परमात्मानमधिगतेन मनसा, माम्-परमात्मानमेव भजते स्वात्मैकत्वेन । स ज्ञानयोगी, सर्वविधयोगयुक्तानां योगि-

जो ज्ञानवान् श्रद्धावान् योगी, मुझ परब्रह्ममें परम निष्ठारूप स्थितिको प्राप्त कर, शुद्ध अंतःकरणरूप अन्तरात्मासे मुझ परब्रह्मको 'अहंब्रह्मास्मि' भावसे भजता है । वह

T

नां मध्ये युक्ततमः श्रेष्ठतमश्चास्तीति मे निश्चयः ॥ ४७ ॥

सर्व प्रकारके योगियोंमें श्रेष्ठतम है ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ॥

योगो ज्ञानं च कर्म श्रुतिविशदफलं यस्य भक्त्या जनानाम्,
ब्रह्मादीनां नियन्ता विजयरथगतो यन्तृरूपेण योऽभूत् ।
योगिध्येयस्वरूपो निरवधिसुखदो ब्रह्मविद्यागुरुर्यः,
कृष्णोऽसौ भक्तिवश्यो वसतु मम हृदि स्वात्मभूतो ममाद्धा ॥ १ ॥

सा०-यस्य कृष्णस्य भक्त्या जनानां,श्रुतिविशदफलं, कर्म, योगो, ज्ञानं च भवति । यश्च ब्रह्मादीनां नियन्ता यन्तृरूपेण विजयरथगतोऽभूत् । यश्च योगिध्येयस्वरूपो निरवधिसुखदो ब्रह्मविद्यागुरुः । सोऽसौ भक्तिवश्यो जगद्गुरुः स्वात्मभूतः कृष्णो मम हृदि अद्धा वसतु ॥

अर्थ—जिस परमात्माकी भक्तिसे मनुष्योंको वेदोंमें विस्तृत फलवाला, कर्म, योग और ज्ञान प्राप्त होता है । और जो परमात्मा, ब्रह्मा विष्णु आदिकोंको नियमोंमें लगानेवाला, विजयकारी रथपर चढ़कर सारथी हुआ । और जो, योगियोंसे ध्यान करने योग्य स्वरूपवाला, अपार सुखका दाता, ब्रह्मविद्याका गुरु है वह भक्ति द्वारा वशमें होने योग्य, मेरा आराध्यतत्त्व, आदिदेव जगद्गुरु श्रीकृष्ण भगवान्, मेरे हृदयमें वास करें ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां-अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

ॐ

विष्णवे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

घनश्यामं वामं सततमभिरामं क्रतुपतिम्,
श्रियोधामाकामं विमलसुखरामं मुनिगतिम् ।
सुदामाद्यारामं विधिहरललामं श्रुतिमतिम्,
श्रये रामारामं भवगतिविरामं व्रजरतिम् ॥ १ ॥

सा०—अहम्,घनश्यामं रामम्, सततमभिरामं क्रतुपतिम्, श्रियो—धाम, अकामम्, विमलसुखरामम्, मुनिगतिम्, सुदामादि-आरामम्, विधिहरललामम्, श्रुतिमतिम् भवगतिविरामम्, व्रजरतिम्, रामारामम्, कृष्णं श्रये ॥ १ ॥

अर्थ—मेघके समान श्यामवर्ण, त्रिभङ्गी मूर्ति, निरन्तर प्रसन्न रहनेवाले,यज्ञोंके स्वामी, शोभाके घर, कामनारहित, निर्मलसुखमें रमण करनेवाले, मुनियों द्वारा प्राप्तव्य, मोक्ष-रूप गति, सुदामा आदिकोंके आनन्ददाता, ब्रह्मा और रुद्रके शिरोमणि, वेदोंमें बुद्धि रखनेवाले, सर्वव्यापी तथा भक्तोंके जन्म-मरणरूप संसारगतिको रोकनेवाले, व्रज-मण्डलके अतिप्रेमी श्रीकृष्ण भगवान्‌का मैं आश्रय लेता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रय ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

T

श्रीभगवानुवाच—हे अर्जुन ! मयि ब्रह्मण्यासक्तचेताः मामुपाश्रितो ज्ञानयोगं कुर्वाणो येन ज्ञानेन सर्वशक्तिसम्पन्नं मामसंशयं यथा ज्ञास्यसि तत्त्वं ज्ञानं शृणु ॥ १ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! मुझपरब्रह्ममें आसक्त चित्तवाला और मेरे आश्रित रहकर, ज्ञानयोगको करता हुआ, संशयरहित तू, सर्व विभूतिओंसे सम्पन्न मुझ परब्रह्मको जिस प्रकार जानेगा उसको सुन ॥ १ ॥
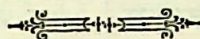
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अहं हि श्रीकृष्णः परमात्मा, विज्ञानसहितं सफलं ज्ञानमिदं ते तुभ्यमर्जुनाय ब्रवीमि । यज्ज्ञात्वाऽस्मिन्संसारेऽन्यत् किमपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते ।

तथा च श्रुतौ—

"येनाश्रुतं श्रुतं भवति अविज्ञातं विज्ञातं भवति" ॥ २ ॥

मैं श्रीकृष्ण परमात्मा, तुमसे इस विज्ञानसहित ज्ञानको फलादिकोंके सहित कहता हूं । जिसको जानकर इस लोकमें कोई भी वस्तु, जाननेके योग्य अविशिष्ट न रहेगी ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जिस (आत्मा) के जाननेसे सर्व अश्रुत वस्तुओंको सुन लेता है और जिसके जाननेसे सर्वका ज्ञान होजाता है" ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मनुष्यसहस्रेषु कश्चिदेव ज्ञानसिद्धये यतते । अथ प्रयत्नं कुर्वतां साधनसम्पन्नानां भक्तिज्ञानविशिष्टानां सिद्धानां मध्ये कश्चिदेव मां परमात्मानं तत्त्वतो जानीते ॥ ३ ॥

सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक, ज्ञानकी सिद्धिके अर्थ प्रयत्न करता है । और प्रयत्न करनेवाले सिद्धोंमें अर्थात् साधनसम्पन्न भक्ति ज्ञानयुक्त अधिकारी मनुष्योंमें भी कोई एक विरला पुरुष, मुझ परब्रह्मको यथार्थरूपसे जानता है ॥ ३ ॥

T

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पृथ्वी,जलम्, तेजः, वायुराकाशं,मनो, बुद्धिश्चाहंकार इतीयमुपर्युक्तपदार्थविशिष्टा मम-परब्रह्मणोभिन्नाऽअपरा प्रकृतिरष्टधा विद्यते, कारणरूपत्वात् ॥ ४ ॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकाररूप आठप्रकारकी ये अपरा प्रकृति, मुझ परमेश्वरकी परा प्रकृतिसे न्यारी है, क्योंकि, यह कारणरूप है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

इयं पूर्वोक्ता प्रकृतिरपराशब्देनोच्यते । एतस्याः प्रकृतेर्भिन्नां ममेश्वरस्य जीवरूपां क्षेत्रज्ञरूपां प्राणधारणनिमित्तभूतां परां प्रकृतिमवगच्छ । यया प्रकृत्या सकारणकार्यं जगदशेषं प्रकृतिविकृतिमयं धृतमस्ति ॥ ५ ॥

हे अर्जुन ! यह पूर्वोक्त अष्टप्रकारकी प्रकृति अपरा कहलाती है । अब इस अपरा प्रकृतिसे भिन्न, मुझ परमेश्वरकी जीवरूपी जो क्षेत्रज्ञनामवाली प्राणोंको धारण करती है उसे पराप्रकृति जान । जिसने, यह कारण-कार्यमय प्रकृति-विकृतिमय जगत् धारण किया है ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

त्वम् अर्जुनः सर्वाणि भूतानि क्षेत्रक्षेत्रज्ञोभयप्रकृतिकार्याणि विद्धि । तथैव अहं परब्रह्मात्मा तु सर्वस्य लौकिकालौकिकस्य जगतो लयोत्पत्त्योः कारणमस्मि ।

तथाच श्रुतौ–

" यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व " ॥ ६ ॥

सर्वभूत, इन क्षेत्र क्षेत्रज्ञरूप प्रकृतियोंके कार्यरूप हैं, और मैं–सर्वज्ञ ईश्वर, सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूं । ऐसा तू निश्चय कर ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" जिससे, यह संसार पैदा होता है और स्थिर रहता है तथा जिसमें प्रलय होता है वही ब्रह्म है ॥ ६ ॥

T

**मत्तः परतरं किंचिन्नान्यदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥**

हे अर्जुन ! मत्परब्रह्मणोऽन्यत्किमपि वस्तु परं भिन्नं वा नास्ति । यतो हि सूत्रे सूत्रमणिरिवेदं मायाकल्पितं नामरूपात्मकं सर्वं जगन्मय्यधिष्ठाने प्रोतं विद्यते ।

तथाचोक्तं श्रुतौ—

"येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥"
" सर्वे लोका आत्मनि मणय इवौताः प्रोताश्च " ॥ ७ ॥

हे शत्रुधनविजयी अर्जुन ! मुझ परब्रह्मसे अन्य कोई भी पदार्थ भिन्न नहीं है । सूत्रमें गुथित सूत्रकी मणियोंके समान, मुझ अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्ममें यह सर्व अविद्याकल्पित नामरूपात्मक जगत् पिरोया हुआ है । जैसे तन्तुओंमें पट पिरोया रहता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जिस सूत्रमें यह सर्वजगत् ग्रथित है उस सूत्रको जो अपना रूप जानता है वही तत्त्वदर्शी है"।'वही परब्रह्म अन्तिमकाष्ठा है इसीमें सर्वलोक ओतप्रोत हैं' ॥ ७ ॥

**रसोऽहमप्सु कौंतेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥**

हे कुन्तीनन्दन ! जलेषु यो रसश्चन्द्रसूर्ययोः या प्रभा, सर्वेषु वेदेषु यः प्रणवः, खे गगने यः शब्दो, मनुष्येषु च यत्सारात्मकं पौरुषं, तत्सर्वमहमेवास्मि ॥ अर्थात् मय्येव सर्वकारणभूते रसादिरूपे सर्वमिदमोतं प्रोतम् ।

तथाच श्रुतौ—

" मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । मय्येव विलयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्" ॥ ८ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! जलोंमें रस, चन्द्र और सूर्यमें प्रभा, सर्ववेदोंमें प्रणव, अर्थात् ओंकार, आकाशमें शब्द, और मनुष्योंमें सारभूत पौरुष, मैं ही हूं । अर्थात् मुझमें ही ये सब ओतप्रोत हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" मुझ परमात्मासे यह विश्व उत्पन्न हुआ है । और मुझमें स्थित है और मुझमें ही लयको प्राप्त होता है ऐसा अद्वय ब्रह्म मैं हूं ॥ ८ ॥

T

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथिव्यां पुण्यो गन्धोऽहमेवास्मि । तथाग्नौ तेजश्चास्मि । तथैव सर्वप्राणिषु जीवनमहमेवास्मि । तपस्विषु सारभूतं तपो ब्रह्मविचारात्मकमहमेव विद्धे ॥ ९ ॥

और पृथ्वीमें पुण्यरूप गंध मैं हूं । तथा अग्निमें तेज मैं हूं । सर्वभूतोंमें सारभूत जीवन मैं हूं । और सर्व तपस्वियोंमें ब्रह्मविचाररूप तप मैं हूं ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! त्वं जन्मादिषड्विकाररहितं मां परमात्मानमेव सर्वजगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं बीजं कारणं विद्धि । तथा बुद्धिमत्सु सूक्ष्मबुद्धिस्तेजास्विषु च तेजोऽहमेव विद्धे इत्यपि जानीहि ॥ १० ॥

हे अर्जुन ! उत्पत्तिसे रहित सनातनरूप मुझ परब्रह्मको, तू सर्वभूतोंका अभिन्न निमित्त उपादानकारण जान। तथा बुद्धिमान् पुरुषोंकी सूक्ष्म बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज मैं हूं ऐसा भी जान ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतकुलावतंस, कौन्तेय ! बलिष्ठानां कामरागविरहितं बलमहमेवास्मि । तथा प्राणिजातेषु धर्मस्याविरुद्धः कामश्चाहमेवास्मि ॥ ११ ॥

हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! बलवान् पुरुषोंका, कामरागसे रहित बल तथा सर्वप्राणियोंमें धर्मसे अविरुद्ध इच्छारूप काम मैं ही हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

T

ये च सत्त्वगुणप्रधाना रजोगुणप्रधानास्तमोगुणप्रधाना द्रव्यादयो विद्यन्ते । ते सर्वे मायोपाधिकात्परब्रह्मणो मत्तो जायन्ते। किन्त्वहं साक्षी चित् परमात्मा, तेषु खमिव व्यापकत्वात्तदन्तर्गतो नास्मि। तेच मायिकपदार्था अध्यस्तत्वान्मयि वर्तन्ते इति विद्धि त्वम् ॥ १२ ॥

जो भी, सत्त्वगुणप्रधान रजोगुणप्रधान तथा तमोगुणप्रधान पदार्थ हैं । वे सब, मुझ मायाविशिष्ट परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुये हैं। और मैं परमेश्वर, आकाशके समान व्यापक होनेसे उन पदार्थोंके अन्तर्गत नहीं हूं । किन्तु वे सब मायिक पदार्थ मुझमें कल्पित हैं ऐसा जान ॥ १२ ॥
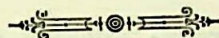
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

एतैरेव पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः रागद्वेषमोहादिभिः सर्वं जगन्मोहितं विद्यते । अतएव तेभ्यो भिन्नं प्रत्यगात्मानमविनाशिनं मां न जानान्ति प्राणिनः ॥ १३ ॥

इन पूर्वोक्त गुणमय रागद्वेषमोहरूपी तीनों प्रकारके भावोंने सर्व प्राणियोंको मोहित किया है । इसीकारण वे, इन गुणमय रागद्वेषादि भावोंसे भिन्न और अविनाशी मुझ परब्रह्मको नहीं जानते हैं ॥ १३ ॥

दवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥

मम परब्रह्मणो गुणत्रयात्मिकेयं प्रसिद्धा माया, सर्वं विपरीतं दशर्यन्तीव मोहिनी दैवी मायाऽतिकष्टेन तर्तुं शक्यतेऽज्ञैः। ये पुरुषाः सर्वान्तर्यामिणमधिष्ठातारं मामेव भजन्ति । स्वात्मरूपेण चिन्तयन्तीत्यर्थः । ते सुखेनेमां मायां तरन्ति ॥

तथाच श्रुतौ—

"माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी । प्रोक्ता सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ॥ तामसी दैत्यपक्षेषु

मुझ परब्रह्मकी यह त्रिगुणात्मिका,विपरीतार्थकारिणी मोहिनी दैवी माया, अज्ञपुरुषोंद्वारा अत्यन्त दुःखसे तरी जानेके योग्य है। किन्तु जो साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारी पुरुष, मुझ मायाके अधिष्ठान सर्वान्तर्यामी परब्रह्मको ही भजते हैं । अर्थात् ब्रह्मात्मरूपसे चिन्तन करते हैं । वे इस दुस्तर मायाको तरते हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"तीनप्रकारकी माया है। रुद्रमें सात्विकी, ब्रह्मामें राजसी और दैत्योंमें तामसी, यह

त्रिधा माया ह्युदाहृता । अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत ॥ तस्य पादाम्बुजध्यानाद्दुस्तरा सुतरा भवेत् ॥"

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यान्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' ॥ १४ ॥

मोहकरनेवाली माया ईश्वरके ध्यानसे नष्ट-होती हैं" ॥

'जिस समय मनुष्य आकाशको चर्मके समान लपेट लेवेगा । तभी विना परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये जन्ममरणरूप दुःखोंकी निवृत्ति होगी' ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

अज्ञानमय्या मायया येषां ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानमपहृतमस्ति । ते हि असुराः । त एव देहादिषु विषयेष्वहंपदाभिमानिनो हिंसादिदुष्टाचारचारिण आत्मानात्मविवेकहीना अधमपुरुषा मां परमेश्वरं न भजन्ति ॥

तथाच श्रुतौ—

" देहोऽहं बुद्धिजं पापं समं गोवधकोटिभिः । आत्माहं बुद्धिजं पुण्यं न भूतो न भविष्यति ॥ १ ॥ योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन नाकृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥२॥" ॥१५॥

मायासे हरण हुआ है आत्मज्ञान जिन्होंका ऐसे असुरोंके समान, देहादिमें अहंबुद्धिका आश्रय करनेवाले, हिंसा आदि दुष्ट कर्मकरनेवाले और आत्मा अनात्माके विवेकसे हीन विषयलम्पट अधम पापी पुरुष, मुझ पर ब्रह्मको नहीं भजते हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"मैं देह हूँ, ऐसा समझनेवालोंने जो पाप किया है वह हजार गोहत्याके सदृश है । और "मैं आत्मा सच्चिदानन्दरूप हूं", ऐसा समझनेवालेका पुण्य न हुआ है, न होगा । अर्थात् ऐसी बुद्धिका महापुण्य है ।। जो पुरुष सच्चिदानन्दरूप आत्माको असत्य दुःखमय और अज्ञानरूप समझता है उसने संसारमें कौनसा पाप नहीं किया ?"॥ १५ ॥
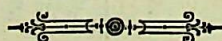
चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे भरतकुलावतंस, पार्थ ! द्रुपदात्मजागजेन्द्रादिवदार्ता दुःखिनः, नारदोद्धवादिवदात्मतत्त्वजिज्ञासवः, ध्रुवसुग्रीवादिवत्राज्यार्थिनः, भगवदात्मरूपस्य वेत्तारो ज्ञानिनो व्यासशुकजनकादिसमानाश्चतुर्विधाः पुरुषाः भक्ता मां परमात्मानं भजन्ति ॥ १६ ॥

हे भरतकुलभूषण अर्जुन । द्रौपदी और गजेन्द्रादिके समान दुःखपीडित आर्त, नारद और उद्धवादिके समान आत्मज्ञानार्थी जिज्ञासु, सुग्रीव और ध्रुवादिके समान ऐश्वर्य चाहनेवाले अर्थार्थी, और भगवत्तत्वके वेत्ता जनक व्यास और शुकदेवादिके समान ज्ञानी, ये चार प्रकारके पुण्यवान् पुरुष मुझ (परमेश्वर) को भजते हैं ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

चतुर्विधेषु तेषु भक्तेषु मयि निरन्तरासक्तचेता अनन्यभक्त्या मां भजमान आत्मज्ञानी श्रेष्ठः । यतो हि परमानन्दत्वादहं तस्य प्रियः प्रेमास्पदमास्मि । तथैव सोऽपि मम प्रेयानास्ति स्वात्मरूपत्वात् ॥ १७ ॥

उन चारों भक्तोंमेंसे मुझ परब्रह्ममें नित्य संलग्न चित्त और मुझमें एकात्मारूपसे अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी, श्रेष्ठ है । क्योंकि मैं, ज्ञानीको परमानंदरूप आत्मा होनेसे अत्यन्त प्रिय हूं । और वह, मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

एते चतुर्विधा अनन्यभक्ता उत्कृष्टा उदारा ज्ञानपथपथिकाः सन्ति । तथापि ज्ञानी भक्तस्तु ब्रह्मस्वात्माभेददर्शित्वान्ममैवात्मा भवति । असौ मे निश्चयः । यतो हि स मय्यासक्तत्वात्सर्वाधिष्ठातारं सर्वाधारं मामेवोत्तमां मोक्षगतिं मन्यते ॥१८॥

ये सब चारप्रकारके भक्त, उदार और उत्कृष्ट ही हैं। परन्तु ज्ञानी, अभेददर्शी होनेके कारण मेरा स्वरूप है ऐसा मेरा निश्चय है । क्योंकि, वह मुझ परमात्मामें समाहित चित्तवाला हुआ मुझ वासुदेवको ही सर्वाधार सर्वाधिष्ठान परमगति आत्मस्वरूप ही जानता है ॥ १८ ॥

T

बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

ज्ञानी पुरुषोऽनेकजन्मनामन्ते एकास्मिन्द्वितीये तृतीये वा जन्मानि "सर्वमिदं प्रपञ्चात्मकं जगत् वासुदेव इति" मन्यमानो मां स्वात्माभेदेन प्रपद्यते । स महात्मा दुर्लभोऽस्ति ।

तथोक्तं श्रुतौ--

"येषांतु जन्म पाश्चात्त्यं तमाशयं महामते । विशन्ति विमला विद्या मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ॥ १ ॥ दुर्लभो वैष्णवो राजा नारी वैष्णवी तु दुर्लभा । दुर्लभो वैष्णवो विप्रो त्रयमेतत्सुदुर्लभम् ॥ २ ॥ अपिशीतरुचावर्के सुतीक्ष्णे चेन्दुमण्डले । अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न संशयी ॥ प्रलयस्यापि हुंकारैर्महाचलविचालकैः । विक्षोभं नैति यस्यात्मा स महात्मेति कथ्यते ॥ समस्तमेव ब्रह्मेति भाविते ब्रह्म वै पुमान् । पीतेऽमृतेऽमृतमयः को नाम न भवेदिति ॥ अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् । इति स्यान्निश्चयो मुक्तो बद्ध एवान्यथा भवेत्" ॥ १९ ॥

ज्ञानवान् पुरुष, अनेक-एक दो या तीन जन्मोंके अंतमें "यह सर्व प्रंपच वासुदेवरूप ही है" इस प्रकारसे ज्ञान करता हुआ, मुझ परब्रह्मको अहं ब्रह्मास्मि रूप अभेद भावसे प्राप्त होता है । ऐसा (वह) महात्मा अत्यंत दुर्लभ है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

जिन ज्ञानियोंका जन्म अंतिम है उनके ही चित्तमें ये निर्मल ब्रह्मविद्या प्रविष्ट होती है ॥ जैसे–उत्तम बांसमें मुक्तामणि होते हैं ॥ १ ॥ संसारमें ब्रह्मनिष्ठ राजा, और ब्रह्मनिष्ठ स्त्री और ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण ये तीनों दुर्लभ हैं ॥ २ ॥ सूर्यके शीतल होनेपर, चन्द्रमाके तीक्ष्ण होनेपर और अग्निकी ज्वालाओंको नीचेकी ओर झुकनेपर भी, जीवन्मुक्त पुरुष संशयी नहीं होता है । तथा महान पर्वतोंको हिलादेनेवाली प्रलयकालकी वायुकी गडगडाहटसे जिसका मन क्षोभको प्राप्त नहीं होता है वही महात्मा कहाता है ॥ दृश्यमान समस्त वस्तु ब्रह्मरूप है, ऐसा ज्ञान होनेपर स्वयं ही अधिकारी पुरुष ब्रह्मरूप होजाता है । जैसे--अमृतपान करनेसे, अमृत पीनेवाला साक्षात् अमृतस्वरूप होजाता है ॥ मैं ही साक्षात् अविनाशी परब्रह्मस्वरूप वासुदेव हूं । ऐसा दृढ़ निश्चय जिस अधिकारी पुरुषको है । वही मुक्त है । जिसे ऐसा ज्ञान नहीं है वह (जन्ममरणके) बंधनको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

पूर्वभुक्तवासनावासितान्तःकरणास्तैस्तैः लोकस्त्रीपुत्रादिकामैर्भावैर्विवेकहीनाः पुरुषाः स्वया प्रकृत्या दैव्या आसुर्या वा प्रेरिताः सन्तो दैविकम्, आसुरिकं, शास्त्रीयं नियममाश्रित्यान्यान् कल्पितान् देवान्भजन्ते, सर्वफलदातारं परब्रह्मपरमात्मानं मां विहायैव ॥

तथाच श्रुतौ–

"योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्" ॥ २० ॥

पूर्वाभ्यासकी वासनासे परवश हुए पुरुष, स्त्री धन पुत्रादि कामनाके कारण, विवेक ज्ञान रहित होकर अपनी स्वकीय दैवी या आसुरी प्रकृतिद्वारा प्रेरित हुये तत्तद्देवता संबन्धी शास्त्रोक्त नियमोंका आश्रय करके, सर्वफलदाथी मुझ परमात्माको छोडकर, मेरे द्वारा कल्पित किये गये अन्य देवताओंको भजते हैं।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"मैं अन्य हूं देवता मेरेसे अन्य हैं, ऐसा समझकर जो पूजन करता है वह देवताओंका पशु है" ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

यो यो भक्तः यादृशप्रकृतिको यां यां तनुं मूर्तिमन्तं देवं श्रद्धया यष्टुमिच्छति, तस्य फलकामिनो भक्तस्य, तस्यां तस्यां मूर्तौ तामेव श्रद्धां तद्विषयिणीं श्रद्धां दृढां करोम्यहमीश्वरः ॥ २१ ॥

जो जो फल कामी भक्त, जिस जिस देवताओंको श्रद्धापूर्वक फलप्राप्त्यर्थ भजते हैं, उस उस भक्तकी उन्हीं देवादिकोंमें उसी श्रद्धाको मैं दृढ़ करता हूं ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

तया श्रद्धया युक्तचेता स भक्तः स्वाभीष्टं देवं सम्यगाराधयाति । अथ तत्तद्देवाराधनात्समुत्पन्नान् मया परमात्मनैव दत्तान् संकलिपतविषयभोगान्कामान् तया देवतया लभते भक्तः सः ॥

तथाच श्रुतौ–

"एको बहून्यो विदधाति कामान्" ।२२।

उस श्रद्धासे युक्त हुआ वह पुरुष, अपने स्वाभीष्ट देवताकी आराधना करता है । अर्थात् उस देवकी पूजनेकी इच्छा करता है । और तब मुझ ईश्वर द्वारा रचेहुये, उन पूर्व संकल्पित विषयोंके भोगरूप कामोंको, उस देवता द्वारा निश्चयपूर्वक पाता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"वह एक परमात्मा ही सर्वकी इच्छाओंकी पूर्ति करता है" ॥ २२ ॥

अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥२३॥

तेषामल्पबुद्धिमतां भक्तानां तानि प्राप्तफलानि नश्यन्ति । यतो हि देवभक्ता देवानाप्नुवन्ति, मम भक्तास्तु मां परमात्मानं लभन्ते ।

तथाच श्रुतौ–

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते अन्तवदेवास्य तद्भवति देवो भूत्वा देवानप्येति" ॥ "संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः । ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति" ॥ २३ ॥

उन अल्प बुद्धिवाले, विषय–कामनायुक्त पुरुषोंका वह फल नाशवान् ही होता है. क्योंकि देवताओंकी आराधना करनेवाले उन देवताओंको ही पाते हैं । और मेरे भक्त मुझ परमात्मा वासुदेवको ही पाते हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"हे गार्गी जो पुरुष इस अक्षर (आत्मा) को न जानकर हवन यजन और तपश्चरण करता है, उसका जो फल होता है, वह विनाशी है । देव पूजक देवत्वको प्राप्त होता है । और ज्ञानसे तृप्त हुये वीतरागी ब्रह्मनिष्ठ कृतकृत्य ऋषिमुनिवृन्द, इस अक्षर ब्रह्मको प्राप्त कर उसी ईश्वर–ब्रह्ममें प्रवेश करते हैं" ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

विवेककारिण्या बुद्ध्या हीना अज्ञाः पुरुषा मदीयमुत्कृष्टं प्राञ्जलमविनाशिनं भावं न जानाना अव्यक्तममूर्तिमन्तं मां मूर्तिमन्तं मन्यन्ते ॥ २४ ॥

विवेकबुद्धिहीन पुरुष, मेरे उत्कृष्ट अविनाशी सर्वोत्तम स्वरूपको जानते हुए अव्यक्त रूप मुझ परब्रह्मको मूर्तिमान् समझते हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

अहं परब्रह्म सर्वस्यापि जनस्य प्रकाशो नास्मि । सर्वैर्न दृश्योऽस्मि। यतो हि योगमायया समावृतोऽहम् । अतस्तत्पदलक्ष्यार्थविपरीतार्थदर्शी कामरागभावमोहितो लोकोऽयं तत्पदलक्ष्यार्थं शुद्धं चेतनं सच्चिदानन्दमजन्मानमविनाशिनं मां न वेत्ति ॥ २५ ॥

मैं परब्रह्म, सर्व जनोंको प्रगट नहीं हूं । अर्थात् सब लोग मुझे सम्यक् रीतिसे नहीं जान सक्के ह । क्योंकि जिस मेरी वैष्णवी मायाने सब जगतको ढका है, उसीसे मैं छिपा हुआ हूं । और अज्ञानताके कारण विपरीत भावका दर्शी, कामवासनासे मोहित यह लोक, मुझ अजन्मा और अविनाशी तत्पद लक्ष्यार्थ परब्रह्मको नहीं जानता है२५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! परमात्मा वासुदेवोऽहं पूर्वं जातानि वर्तमानानि भविष्याणि च सर्वाणि प्राणिजातानि नूनं वेद्मि । किन्तु मां कोऽपि न विजानाति ।

तथाच श्रुतौ—

"अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् " ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! मैं पूर्वमें होनेवाले और वर्तमानमें रहनेवाले तथा भविष्यमें होनेवाले सर्व भूतों (प्राणियों) को जानता हूं । परन्तु मुझे कोई नहीं जानता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"कि मैं, सर्व जगत्से पृथक् होता हुआ भी सबको जानता हूं । पर मेरा जाननेवाला कोई नहीं है । मैं सदा चित् ब्रह्मरूप हूं" ॥ २६ ॥

T

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥

हे शत्रुसन्तापिन्नर्जुन ! सर्वे प्राणिनः सर्गे सृष्टौ द्वेषेच्छाजाताभ्यां शीतोष्णसुखदुःखादिद्विन्द्वाभ्यां भ्राम्यमाणा मोहं ज्ञानप्रतिबन्धं यान्ति ॥ २७ ॥

हे शत्रुसन्तापकारी भरतकुलावतंस, अर्जुन ! सर्वप्राणी, सृष्टिकालमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुये शीत उष्ण सुख दुःख आदिक द्वन्द्वोंसे भ्रमित होकर, संमोहको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

येतु पुण्यकर्माणो मोहितजनातिरिक्ताः सन्ति, येषां कृतपुण्यकर्मणां च पापं नष्टमन्तःकरणं च विमलं विद्यते । ते लाभालाभाख्यैर्द्वन्द्वैर्मुक्ताः सन्तो मामेव परमात्मानं भजन्ते ।

तथाच श्रुतौ--

"धर्मेण पापमपनुदाति"॥ "क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृताः एवंरूपपरिज्ञानं यस्यास्ति परयोगिनः" ॥ २८ ॥

मलिन अन्तःकरणयुक्त (बुद्धिवाले)पुरुषोंके अतिरिक्त शुद्धान्तःकरणवाले पुण्यात्मा, जिन्होंके पाप नाशको प्राप्त हुये हैं, वे ही उत्तम पुरुष, लाभ अलाभ सुखदुख और प्रिय अप्रिय आदि द्वन्द्वोंके मोहसे निर्मुक्त और दृढ़ संकल्पवाले हुये, मुझ परब्रह्मको ही भजते हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"धर्म के करनेसे पापका नाश होता है"। "और पापका नाश होनेपर मुझे देखते हैं। मायासे आवृत चित्तवाले नहीं । जिसे ऐसा ज्ञान है वही योगी है" ॥ २८॥

—:o:—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

T

ये जरामरणनिवृत्तये मोक्षायैव मां परमेश्वरं समाश्रित्य प्रयतन्ते। ते तत्त्वंपदलक्ष्यार्थौ ब्रह्मात्मानौ, सर्वं कर्म च, सम्यग्विदन्ति ॥ २९ ॥

जो, जरा मरण आदि दुःखोंकी निवृत्तिके लिये, मुझ परमेश्वरका आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं । वे, तत्पदके लक्ष्यअर्थनिर्गुण ब्रह्मको और त्वंपदके लक्ष्यार्थ आत्माको तथा सपूर्ण कर्मोंको जानते हैं ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

ये पुण्यकर्मानुष्ठानेन शुद्धबुद्धान्तःकरणा मयि ब्रह्मणि च निष्ठावन्तोऽधिदेवाधिभूताधियज्ञादिसहितं मां परमेश्वरं विजानन्ति। ते मदासक्तान्तःकरणा उपासका ज्ञातारो मरणकालेऽपि मां यथोक्तरूपिणं, स्वात्मरूपेण परब्रह्मात्मानं जानान्ति । मामेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

जो पुण्यकर्मानुष्ठानसे शुद्धहृदय होकर मुझ पूर्ण ब्रह्ममें निष्ठावाले पुरुष, अधिदैव और अधिभूत तथा अधियज्ञसहित मुझ ब्रह्मको जानते हैं । वे मुझ वासुदेव परमेश्वरमें समाहित चित्तवाले पुरुष, मरणकालमें भी मुझ परब्रह्मको अपना आत्मस्वरूप ही जानते हैं। अर्थात् अन्तकालमें मेरा ध्यान करते हुये परम गतिरूप मुझ परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

माया यस्यास्ति गूढा प्रचुरगुणयुता सर्वसंसारहेतु-,
स्तत्तुं तैः सुशक्या हरिपदशरणं ये प्रपन्ना नु भक्त्या ।
यत्पदाम्भोरुहान्तर्भ्रमर इव जनः संप्रविश्यातिरत्या,
मग्नस्तत्रैव नित्यं तमिह मुररिपुं कृष्णमीशं प्रपद्ये ॥ १ ॥

T

सा०-यस्य कृष्णस्य माया सर्वसंसारहेतुः प्रचुरगुणयुता चास्ति। ये हरिपदशरणं प्रपन्नास्तैस्तर्तुं शक्या भवति। यश्चातिरत्या, यत्पादाम्भोरुहान्तर्भ्रमर इव संप्रविश्य तत्रैव मग्नः (भवति), तं मुररिपु कृष्णमीशमहं प्रपद्ये ॥ १ ॥

अर्थ-जिस परब्रह्मकी माया, सम्पूर्ण संसारकी कारणभूत, बहुगुणयुक्त और अत्यन्त गहन है। निश्चयसे जो भक्त, भक्तिसे विष्णुके चरणशरणमें प्राप्त हुये हैं वे उक्त माया तरनेको समर्थ हैं। और मनुष्य, अतिप्रेमसे भौरोंके समान जिस परब्रह्मके चरणकमलके भीतर प्रवेश कर वहीं निमग्न होते हैं। मैं, इस संसारमें उन्हीं ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी सदा शरणमें प्राप्त होता हूं॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य–स्वामी–निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत–अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां ज्ञानविज्ञान-योगो नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

ॐ

परमगतिदायिने नमः।

श्रीमद्भगवद्गीता।

अथ ब्रह्माक्षरयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः।

अध्याय–मंगलाचरणम्।

यशो भूतिर्धर्मो विषयविरतिः श्रीः श्रुतिमति-,
गुणाः साकल्येन प्रभवति सदा यत्र विमलाः।
प्रतिष्ठां संप्राप्ता भगवति पदे तं निरुपमम्,
श्रये कृष्णं लक्ष्म्या श्रितममरपूज्यैश्च मुनिभिः॥ १॥

सा०–यत्र प्रभवति भगवति पदे, यशः भूतिर्धर्म, विषयविरतिः, श्रीः श्रुतिमतिः, विमला गुणाः प्रतिष्ठां संप्राप्ताः। तं निरुपमं लक्ष्म्या अमरपूज्यैः मुनिभिश्च श्रितं श्रीकृष्णं श्रयेऽहम्॥ १॥

जिस प्रभावशाली ऐश्वर्यवान ब्रह्ममें, कीर्ति, वैभव, धर्म, विषयोंमें ग्लानि, लक्ष्मी तथा वेदोंमें बुद्धि रखना, ये निर्मल गुण सर्वथा भावसे प्रतिष्ठाको सम्यक्प्रकारसे प्राप्त होजाते हैं। मैं, उस अनुपम लक्ष्मीके आश्रयभूत और देवताओंसे पूजनीय तथा मुनियोंद्वारा वन्दनीय श्रीकृष्ण भगवान्का आश्रय लेता हूं॥ १॥

अर्जुन उवाच।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ १॥

अर्जुन उवाच। हे भगवन्! पूर्वस्मिन्नध्याये प्रतिपादितं यद् ब्रह्म तत् किम्। किमधिभूतम्, किमधिदैवम्, किमध्यात्मं

अर्जुन बोला–हे पुरुषोत्तम भगवन् श्रीकृष्ण! वह पूर्व अध्यायमें कहा हुआ ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या

किंच कर्म कथ्यते ॥ (अत्र भगवत्-शब्दस्य व्याख्या—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा ॥ उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति) ॥ १ ॥

है ? अधिभूत क्या है ? तथा अधिदैव क्या कहलाता है ? (यहां भगवान् शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है । सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, वैराग्य और मोक्ष इन छे का नाम भग है । और ये छे गुण वासुदेवमें रहते हैं इसलिये भगवान् कहा—

तथा भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय और गमनागम एवं विद्या और अविद्याको जो जानता है उसका नाम भगवान् है) ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

हे वासुदेव, मधुसूदन ! अस्मिन्देहेऽधियज्ञः को वा कथं वर्तते । अथ मृत्युकाले संयमिभिर्योगिभिस्त्वं कथं ज्ञेयो भवसि । ते योगिनोऽन्तकाले केन प्रकारेण त्वां जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

हे मधुसूदन, भगवन् श्रीकृष्ण ! अधियज्ञ कौन, किसप्रकार इस देह में है और मरणकालमें संयमी योगीसे, आप परब्रह्म किसप्रकारसे जानने योग्य हो । अर्थात् जाने जाते हो ॥ २ ॥
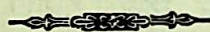
श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवानुवाच—परमं निर्गुणं शुद्धं चेतनमविनाशि ब्रह्मतत्त्वमेवाक्षरमुच्यते । स्वभावः प्रत्यगात्माऽध्यात्ममुच्यते । भूतानामुत्पत्त्यादिकर्तृ यज्ञदानादिकं कर्म प्रोच्यते ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—कि, परम अर्थात् निर्गुण शुद्ध चेतनरूप अविनाशी अक्षर, परमब्रह्म कहाता है । तथा स्वभाव प्रत्यगात्मा, अध्यात्म कहाता है । और भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला, यज्ञ दानादिक, कर्म कहाजाता है ॥ ३ ॥

T

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, अर्जुन ! जन्यत्वाद्विनाशी क्षरो भावोऽधिभूतमुच्यते । अथच हिरण्यगर्भात्मकः पुरुषोऽधिदैवं कथ्यते । सर्वयज्ञाभिमानी देवो विष्णुनामाऽहमेवान्तर्यामित्वेन देहे स्थितोऽधियज्ञोऽस्मि ।

"यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः ॥ ४ ॥

हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! क्षर अर्थात् उत्पत्तिमान् होनेसे विनाशस्वभाववाला भाव, अधिभूत है । और हिरण्यगर्भनामक पुरुष अधिदैव है । तथा अधियज्ञ, मैं विष्णु ही इस देहमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है कि—

"यज्ञ ही विष्णु है" ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यः पुरुषो मृत्युकालेऽपि मां भगवन्तं वासुदेवं चिन्तयन् कलेवरमिदं परित्यज्य प्रयाति, स मदीयं ब्रह्मभावं प्राप्नोति । नात्र संशीतिलवो विद्यते ॥ ५ ॥

जो पुरुष, मरणकालमें भी मुझ वासुदेव भगवान्को चिन्तन करता हुआ इस शरीरको छोड़कर जाता है । वह मुझ परब्रह्मके भाव (अर्थात् ब्रह्मभाव) को प्राप्त होता है । इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

हे कौन्तेय ! सततं स्वाभिलषितेष्टदेवतास्वरूपभावनाजन्यतीव्रदृढसंस्कारवासनावासितान्तःकरणः पुरुषः स्वप्रारब्धभोगावसाने, पूर्ववासनावशेन, यं यं पदार्थं स्मरन्स्वशरीरं परित्यजति । सोऽपि तं तमेव भावमापद्यते ।

हे कुन्तीतनय, अर्जुन ! स्वेष्टदेवता विशेषके स्वरूपमय भावमें दृढ़भावनाजन्य संस्काररूप वासनासे युक्त हुआ पुरुष, प्रारब्ध भोगके अन्तमें पूर्वसंस्कारवश जिस जिस पूर्वभावित पदार्थका स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है । वह, उस उस भावको ही प्राप्त

यथोक्तं वासिष्ठे–

" अजाग्रस्वप्ननिद्रस्य यस्य रूपं सनातनम् । सचेतनं विशुद्धं च तन्मयो भव सर्वदा " ॥ ६ ॥

होता है ॥ "जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे रहित जो शुद्ध चैतन्य सनातन तुम्हारा रूप है, सदा उसीके विचारमें तत्पर होओ ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

अतो हि सर्वदा मां परमात्मानं स्मरन्स्वधर्मं युद्धमातिष्ठ । यतो हि त्वं मयि सर्वात्मके वासुदेवे ब्रह्मणि, समर्पितमनोबुद्धिर्मां परब्रह्मात्मानमधिगमिष्यसि । नात्र संशयावसरो विद्यते ॥ ७ ॥

इस कारण सर्व कालमें मुझ परब्रह्मको स्मरण कर और स्वधर्मरूप युद्धकर । मुझ वासुदेव भगवानमें अर्पित मन और बुद्धिवाला तू अर्जुन, मुझ परब्रह्मको ही प्राप्त होगा । इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥
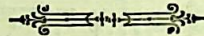
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नाऽन्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिंतयन् ॥ ८ ॥

हे कौन्तेय ! अधिकारी पुरुषोऽभ्यासात्मकेन सततमाचिन्तनात्मकेन योगेन युक्तेन, अन्यविषयागामिना ब्रह्मविषयिणा चेतसा, परमं दिव्यं दिवि प्रकाशमानं सूर्यमण्डलभवं वासुदेवं शास्त्राचार्योपदेशमनुचिन्तयन्मामेव ज्योतिषां ज्योतीरूपं ब्रह्माप्नोति ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! अधिकारी पुरुष, सर्वदा मुझ परमात्मदेवके चिन्तनरूप अभ्याससे युक्त, मुझको छोड अन्य दूसरे विषयोंकी चिन्तासे रहित मनसे, मुझ सूर्यमण्डलमें स्थित ज्योतियोंके ज्योतिरूपका शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार ध्यान करता हुआ उसी परमज्योतिमें तन्मय हो जाता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिंत्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

यः सर्वज्ञमनादिमन्तं सर्वनियन्तारमाकाशादपि सूक्ष्मतरमणोरणीयांसं सर्वा-

सर्वज्ञ, अनादि, सर्वका नियन्ता, अन्तर्यामी, आकाशादि सूक्ष्म पदार्थोंसे भी

धिष्ठातारं नाम-रूप-जाति-गुणभेदरहित-मचिन्त्यं सूर्यवत्सततप्रकाशमानं ज्योतीरूपं कनकवर्णं सर्वविश्वप्रकाशकमज्ञानात्परतरं दिव्यं पुरुषं चिन्तयति ॥ ९ ॥

सूक्ष्म, सर्वका धारण करनेवाला, अधिष्ठान, नामजातिरूप और गुण आदिकोंसे रहित होनेके कारण अचिन्त्यरूपवाला, सूर्यकी नाईं सर्व विश्वका प्रकाशक और अज्ञान (माया) से परे स्थित दिव्यपुरुषका, जो चिन्तन करता है ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

स ध्येयब्रह्मध्यायी वासुदेवाराधनाख्यभक्त्या चित्तवृत्तिनिरोधात्मकयोगबलेन च युक्तः सन् (मूलादारभ्य षट्चक्रभेदपुरःसरमाज्ञाचक्रान्तं प्राणापानयोर्गतिमारोहावरोहक्रमेण गुरूपदिष्टमार्गेण च ज्ञात्वा, वशीकृत्य) प्राणजेता योगी, मरणकाले स्वात्मैकाग्रेण मनसा, भ्रुवोर्मध्ये द्विदलाख्य आज्ञाचक्रे प्राणान्मूलाधारादुत्थाप्य सुषुम्णावर्त्मना स्थापयित्वा, स्वयंप्रकाशमानं दिव्यं परमात्मानं गंगासमुद्रमिव प्राप्नोति ॥ १० ॥

वह, वासुदेव भगवानकी आराधनारूप भक्तिसे और चित्तवृतिनिरोधरूप योगके बलसे युक्त (अर्थात् गुरूपदिष्टमार्गसे मूलाधारादि षट्चक्रभेदनद्वारा, ब्रह्मरंध्रपर्यन्त प्राणवायुके चढाने तथा उतारनेके क्रमसे प्राण और अपानको जय करनेवाला) योगी, एकाग्रमनसे अन्तकालमें भ्रुवोंके मध्य आज्ञाचक्रमें प्राणोंको मूलाधार स्थानसे सुषुम्णा नाडी द्वारा उठाकर भलीप्रकार स्थापनकरके, स्वयंज्योतिरूप दिव्य परमपुरुष परमात्माको गंगासिंधुवत् प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ११

वेदार्थज्ञा यं वाचकाक्षरप्रणवं तत्पदलक्ष्यार्थं ब्रह्मात्मानं च शिष्येभ्य उपदिशन्ति । अथच दोषदृष्ट्या वीतरागा ज्ञानेन मिथ्यात्वदृष्ट्या च निवृत्तरागद्वेषसमाकुलसंसाराः संन्यासिनो यतयो यं प्रणव-

अर्थसहित वेदके वेत्ता, जिस प्रणवरूप वाचक और परब्रह्म वाच्य अक्षरका शिष्योंको उपदेश करते हैं। और वीतराग अर्थात् दोषदृष्टिसे वैराग्यवान और ज्ञानद्वारा मिथ्यात्वदृष्टि करके हृदय स्थित रागद्वेष आदिक द्वन्द्व-

लक्ष्यार्थब्रह्मात्मानं गंगा सिंधुमिव प्रविशन्ति। यं ज्ञातुमिच्छवो जिज्ञासवो जना गुरुकुलं गत्वा वेदान्तश्रवणमननिदिध्यासनार्थमष्टविधमैथुनं त्यक्त्वा ब्रह्मचर्यं पालयन्ति। तदकारादित्रिमात्रिकं तत्त्वविद्भिः प्राप्यं प्रणवाक्षरं ब्रह्मपदं च तुभ्यं ब्रवीमि॥

तथाच श्रुतौ–

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"॥ ११॥

मय भ्रमरूप संसारसे रहित हुये प्रयत्नशील संन्यासी, जिसमें गंगासिंधुवत् प्रवेश करते हैं। और जिसको जाननेकी इच्छा करता हुआ जिज्ञासु, गुरुकुलमें जाकर वेदान्तके अध्ययनरूप श्रवण मनन और निदिध्यासनार्थ स्त्रीदर्शनादि आठ प्रकारके मैथुन त्यागकर ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण करते हैं। उस अकार, उकार, मकाररूप तीन वर्णमात्राके समूहरूप प्रणव-अक्षर, और तत्त्ववेत्ताओंसे प्राप्त होने योग्य प्रणवपदका लक्ष्यार्थ परब्रह्मरूप पदको तेरे लिये संक्षेपसे कहता हूं।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"सम्पूर्ण वेद जिस अविनाशी पदका उत्तम अधिकारियोंको उपदेश करते हैं। और जिसकी प्राप्तिके साधनरूप सम्पूर्ण तप, चित्तशुद्धिके लिये आचार्य कहते हैं। और जिस पदकी प्राप्तिके लिये त्रैवर्णिक ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं। वह ब्रह्मपद संक्षेपसे तुम्हें कहता हूं। वह ओम् है और उसका लक्ष्यार्थ ब्रह्म ही है"॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥

यो योगी सर्वाणि नवच्छिद्राणि निरुध्य, मनश्च हृदये पुण्डरीकेऽवस्थाप्य, प्राणांश्च सहस्रदलं ब्रह्मरन्ध्रं नीत्वा तत्र स्थापयित्वा, स्वात्मविषयिणीं धारणां समाधिरूपां योगक्रियामास्थितः सन्नग्रेण संबंधः॥

जो, सर्वगुदादिक रूप नवद्वारोंको रोककर और मनको हृदयपुण्डरीकमें निरोध करके, प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें स्थापित करके, आत्मविषयक योगकी धारणा अर्थात् योगासनादिनियमोंसे आत्मविषयक समाधिरूप धारणामें स्थित हुआ।

T

तथाच श्रुतौ–

"यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तो तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ" ॥ १२ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जब पंच ज्ञान इन्द्रियें मनके साथ स्थिर होजाती हैं । और बुद्धि भी स्थिर हो जाती है, उसीको परमगति या योग कहते हैं । तथा उसी स्थिर इन्द्रियोंकी धारणाको योग कहते हैं ॥ यह योग ही, प्रभव और अप्यय करनेवाला है । इसप्रकारकी अवस्थामें रहनेवाला विद्वान् अप्रमत्त कहाता है" ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

ओमेतदक्षरं जपन्नद्वितीयमविनाशिनं प्रणवगम्यं ब्रह्मरूपमात्मानं च निरन्तरं स्मरन्देह त्यजति। स ब्रह्मभावात्मिकां परां सर्वोत्कृष्टगतिं याति ।

तथाचोक्तं श्रुतौ–

" प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः । प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ॥ १ ॥ अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकार लीयते हरिः । मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ॥ २ ॥ " " एतद्वै सत्यकामः परं चापरं ब्रह्म यदोंकारः" ॥१३॥

ॐइस अक्षरका उच्चारण करता हुआ मुझ अद्वितीय और अविनाशी ब्रह्मरूप अर्थका निरन्तर स्मरण करता हुआ जो ज्ञानयोगी देहको त्यागता है, वह ब्रह्मभावरूप सर्वोत्तम परम गतिको प्राप्त होता है ।

प्रणवकी महिमा श्रुतिमें कही है ।

"प्रणवरूप सगुणब्रह्मसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है। और प्रणवसे हरिकी उत्पत्ति है । और प्रणवसेही रुद्रकी उत्पत्ति है । इस लिये सर्वात्मरूप प्रणवही श्रेष्ठ है । अकारमें ब्रह्माका लय होता है । उकारमें हरिका लय होता है । और मकारमें रुद्रका लय होता है । अर्थात् सर्वत्र प्रणवकी ही महिमा है ॥" "हे सत्यकाम ! यह ओंकारही पर और अपर ब्रह्म है " १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

हे पार्थ ! यः पुरुषः केवलं मयि ब्रह्मणि समाहितचित्तः सन्, सततं देहपातं यावत् मां ब्रह्मात्मानं विजातीयवृत्तिनिरोधपूर्वकं सजातीयवृत्तिप्रवाहमयनिदिध्यासनाख्यया चित्तवृत्त्या स्मरति । तस्य अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तिमतो योगिनः सुलभः सुखेन लब्धुं शक्योऽहमस्मि ॥

तथाच श्रुतौ—

" यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः" ॥ १४ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष अनन्य चित्तवाला, अर्थात् केवल मुझ परब्रह्ममें समाहित चित्तवाला, सदैव देहपातपर्यन्त मुझ परब्रह्मको निरंतर (विजातीयवृत्ति त्याग) सजातीयवृत्तिप्रवाहसे स्मरण करता है । उस ब्रह्मनिष्ठयोगीको, अहं ब्रह्मास्मि ध्यान द्वारा मैं सुलभतासे प्राप्त होता हूं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" ब्रह्मात्मा जिस साधकको चाहता है-उसीको आत्मसाक्षात्कार होता है ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

सच्चिदानन्दैकरसं परमब्रह्मात्मानं मां स्वात्माभेदेन प्राप्य, परमां सिद्धिं मोक्षं गताः (शुद्धसत्त्वभावापन्ने निरतिशये व्यापके ब्रह्मणि महति येषां मन आत्मा विद्यते ते) महात्मानो ब्रह्मवेत्तारः संन्यासिनोऽनन्तदुःखागारं कर्मभोगक्षयविनाशरूपं शरीराविर्भावात्मकं जननं जन्म न लभन्ते । ते पुनरावृत्तिरहिता मुक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥

तथा च श्रुतौ—

" न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" ॥ १५ ॥

मुझ सच्चिदानन्द एकरसरूप परब्रह्म परमात्माको स्वात्मरूपसे प्राप्त करके परमोत्तमसिद्धिरूप कैवल्यमोक्षको प्राप्त हुये, महात्मा अर्थात् केवल शुद्ध सत्त्वरूप निरतिशय व्यापक ब्रह्मस्वरूप महत्पदार्थमें मनवाले ब्रह्मवेत्ता संन्यासी, अनन्त दुःखोंका घर और कर्मभोगके क्षय होनेपर क्षययुक्त विनाशी शरीरके आविर्भावरूप जन्मको नहीं धारण करते हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वह ब्रह्मवेत्ता योगी पुनरावृत्तिसे रहित होता है, उसका जन्म पुनः कहीं भी नहीं होता " ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकादारभ्य यावन्तो लोका विद्यन्ते ते सर्वे पुनर्जन्मानो विद्यन्ते। अर्थात् तेषु लोकेषु गमनागमनं भवति। किन्तु मां ब्रह्मात्मानमासाद्य ज्ञानयोगेन लब्ध्वा, पुनर्जन्म न लभते।

तथा च श्रुतौ—

"नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनं हीनतरं चाविशन्ति ॥ १ ॥ तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ २ ॥" ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर जितने लोक हैं वे सब पुनर्जन्मरूप पुनरावृत्तिवाले हैं। अर्थात् इन लोकोंमें ही जन्म और मरण होता है। किन्तु हे कुन्तीनन्दन, मुझ परब्रह्मको ज्ञानयोगसे प्राप्त होकर पुनः जन्म नहीं होता है॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वे (कर्मकर्तापुरुष) स्वर्गादिलोकोंमें अपने पुण्यफलोंको भोगकर फिर इस (मृत्युलोक) में या इससे हीन लोकमें प्रवेश कर जन्म लेते हैं ॥ १ ॥

उसी श्रुतिप्रसिद्ध परमात्माको जान कर मोक्षको पाता है। उसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥ २ ॥" ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रांतां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

येऽहोरात्रविदो व्यासादयस्ते प्रजापतेः सहस्रयुगात्मकमेकं दिनं विदन्ति। तथैव महायुगानां सहस्रमेकां रात्रिं जानन्ति।

तथाचोक्तं मनौ—

"दैविकानां युगानां च सहस्रपरिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च॥ अर्थात् १७२८००० वर्षैः सत्ययुगो भवति, १२८६००० वर्षपरिमितः कालस्त्रेता भवति, तथैव ८६४००० वर्षैः द्वापरः, ४३२००० वर्षाणां समुदायः कलियुगो भवति। एतावत्संख्याकानां चतुर्युगानां सहस्रमेव ब्रह्मणो दिनं दिनमानं भवति। तावत्सहस्रमेव

प्रजापति ब्रह्माके दिन और रात्रिके भेदको जाननेवाले व्यासादि मुनियोंने, ब्रह्माका सहस्र युगोंका एक दिन और सहस्रयुगोंकी एक रात्रिको निर्णीत कर बतलाई है। अर्थात् एक सहस्रवार चारों युगोंके बीतनेपर एकदिन और उतनाही समय बीतनेपर एक रात्रि होती है—

जैसा कि कहा है—

"दैविक युगोंका एक सहस्र बीतनेपर एक दिन और उसीतरह एकरात्रि होती है। अर्थात्—१७२८०००वर्षका सत्ययुग, और १२८६००० वर्षका त्रेता, और ८६४००० वर्षका द्वापर और ४३२००० वर्षका कलि

रात्रिर्भवति । इत्थं दिननिशयोः पञ्चषष्टिसमधिकत्रिशतपरिमाणात्मकः कालो वर्षमेकं ब्रह्मणोऽभिधीयते । अनया गणनया शतं वर्षाणि, ब्रह्मणो जीवनकाल आयुर्भवति। ३११०४०००००००००० एतावति मानुषे वर्षे व्यतीते ब्रह्मणोऽवसानं भवति ॥ १७ ॥

युग होता है । इसतरह जब चारों युग एकहजारबार व्यतीत होजावेंगे तब ब्रह्माका एकदिन होगा। और इतनेहीकी रात्रि होवेगी। इसतरह तीनसौ पैंसठदिन व्यतीत होनेपर ब्रह्माजीका एक वर्ष होता है । इसप्रकारसे ब्रह्माजीकी आयु १०० वर्षकी होती है। ३११०४००००००००००(मनुष्योंके) वर्ष व्यतीत होनेपर ब्रह्माजीकी आयुका अवसान होता है ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

जीवात्मनां भोगदकर्मनिमित्तेन, ब्रह्मणोऽस्य चतुर्दशमन्वन्तरात्मकदिनस्योदये, मायामयादज्ञानात् ब्रह्मसंकल्पात्स्थावरजंगमशरीराश्रया अनन्ताः प्रकृतयो जायन्ते। तथैव जीवानां भोगदकर्मक्षयादेव भूर्लोकादिक्षयकारिण्या निशायाः प्रादुर्भावेन, स्वोपादाने मायामयेऽव्यक्तेऽज्ञाने ताः सर्वाः प्रकृतयो लीयमाना भवन्ति ।

तथाच वासिष्ठे—

"यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमण्डलं भूत्वा विलीयते तद्वदात्मन्येवाखिलं जगत्" ॥ १८ ॥

जीवोंके भोगप्रद कर्मरूप निमित्तसे, ब्रह्माके चतुर्दशमन्वन्तरात्मक दिनके आगमन (उदय) में, मायारूप अज्ञानसे ब्रह्माके संकल्परूप बीजसे सर्व स्थावर जंगमादि उत्पन्न होते हैं। और जीवोंके भोगप्रदकर्मके क्षीण होनेसे भूर्लोकादिको लय करनेवाली ब्रह्माकी रात्रिके आगमनमें उस सब अव्यक्त नामवाली मायामें लीन होजाते हैं ॥ "जिसप्रकार निर्मल आकाशमें मेघोंके आडम्बर उत्पन्न होकर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं, उसतिरह विशुद्ध आत्मामें सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होकर नाश हो जाता है । परन्तु ब्रह्म आकाशके समान निर्मल है " ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! स पूर्वोक्तोऽयमेव भूतग्रामो जरायुजादिचतुर्विधः, प्राणिनां देवानां च समुदायात्मकः संसारोऽविद्याजन्यकामादिदोषदूषितः परतंत्रः पुनर्दिनागमे प्रजायते । रात्र्यागमे च पुनर्लीयते । घटीयंत्रवत् ॥ १९ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! वह ही यह, स्वर्ग मृत्यु और पातालवासी जरायुजादिचारों खानिसे उपजे, देव और मनुष्यादिरूप भूतोंका समुदाय अस्वतंत्र अर्थात् अविद्याजनित काम और कर्मके अधीन हुआ, ब्राह्मदिनके आगमनमें वारंवार उत्पन्न होकर, फिर ब्रह्माकी रात्रि में लीन हो जाता है ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

यश्च सत्तारूपो भावो वर्णितादव्यक्तादन्यः परमात्मरूपोऽनादिश्चाव्यक्तो विद्यते। स सर्वेषु भूतेषु नष्टेष्वपि न नश्यति ।

तथाच श्रुतौ-

"अव्यक्तात् पुरुषः परः, पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" "घटादिषु प्रनष्टेषु यथाकाशमखण्डितम् । तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः" ॥ २० ॥

जो परब्रह्म उस अव्यक्तसे विलक्षण है अर्थात् परमात्मरूप अव्यक्त और अनादि है । वह, सर्व प्रपंचके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"अव्यक्तसे परे पुरुष ब्रह्म है । उससे परे और कोई नहीं है । वही अवधि और मोक्षरूप है । जैसे-घटादिवस्तुओंके नाश होनेपर महाआकाश अखण्डित है। वैसेही देहके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता ॥२०॥
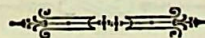
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

स पूर्वोक्तः परमात्माऽव्यक्तनामा, अक्षरो नेत्रादिकरणग्रामागम्योऽविनाशीत्युक्तः सर्ववेदैः । श्रुतयः स्मृतयोऽपि तमेव सर्वोत्कृष्टां गतिं प्रतिपादयन्ति ।

अव्यक्त-अक्षररूप परब्रह्म परमात्मा, इन्द्रियादिकोंके अगोचर और अविनाशी है । उसीको, श्रुतिस्मृतियां परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट गति कहती हैं । जिसको प्राप्त होकर पुरुष

यं लब्ध्वा पुरुषः पुनर्नोत्पद्यते । तदेव मम सर्वोत्कृष्टं नैजं धाम स्वरूपं विद्यते ॥

तथाच श्रुतौ–

"तदेतद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" ॥ २१ ॥

जन्म नहीं लेते हैं । वह मुझ विष्णुका परम पद अर्थात् निज स्वरूप है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

कि-मंत्रब्राह्मणभागसे कथन किया गया यही विष्णुका स्वरूप है, जिसको जितेन्द्रिय वीर संन्यासी प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! स पूर्वोदितः परमात्मा परपुरुषो भेदशून्यया अहंब्रह्मास्मीत्यनन्यया भक्त्यैव प्रेमातिशयेन लभ्यः । यस्य ब्रह्मणोऽन्तर्विद्यन्ते सर्वाणि भूतानि, येन चेदं सर्वं दृश्यादृश्यजातं वस्तु ततं व्याप्तम् ।

तथाच श्रुतौ–

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व" ॥२२॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! वह, पूर्वोक्त निरतिशय परमात्मा, अनन्य अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" प्रेमरूप भक्तिसे ही लभ्य है । जिस परमपुरुषके अन्तर्गत सर्वभूत हैं । और जिससे यह दृश्य अदृश्य रूप सर्व जगत् व्याप्त है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जिस परमात्मदेवसे यह सम्पूर्ण सृष्टि पैदा होती है । और जिससे जीवित है । और जिसमें लीन होती है । वही ब्रह्म है । उसीकी जिज्ञासा करो" ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

यत्र काले, सकामनिष्कामपूर्वकर्मोकारोपासनादिमार्गेण देहं परित्यज्य ब्रह्मादिलोकं प्रयाता योगिनः क्रमेण मोक्षं पुनरावृत्तिं जन्म च लभन्ते । तं

हे भरतकुलभूषण, अर्जुन ! जिस कालमें सकाम और निष्काम उपासनाद्वारा ब्रह्मलोकादिमें गये हुये दोप्रकारके योगी, क्रमसे अपुनरावृत्ति (मोक्ष) को और पुनरावृत्ति

द्विविधं कालं कालोपलक्षितं मार्गद्वयं तुभ्य-मर्जुनाय कथयामि ॥ २३ ॥

(जन्म) को प्राप्त होते हैं, उस दोप्रकारके कालको अर्थात् कालके अभिमानी देवतासे युक्त दोनों मार्गोंको मैं तुमसे कहता हूं ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्म विदोजनाः ॥ २४ ॥

ज्योतिःस्वरूपोऽग्निमयोऽर्चिकाभिमानी देवः अहःदिवस्पति,शुक्लः शुक्लपक्षाभिमानी, षड्मासावच्छिन्नकालो, मकरसंक्रमणा-दुत्तरायणं देवयानं कथ्यते । एतेन देवयानेन प्रयाता देहं त्यक्त्वा गता निष्कामब्रह्मोपासका ब्रह्मवेत्तारो ब्रह्म-लोकमासाद्य ब्रह्मात्मानमाप्नुवन्ति ॥२४॥

ज्योतिरूप, अग्निमय, अह अर्थात् दिनका अभिमानी देवता, शुक्ल पक्षका अभिमानी देवता, षट्मासपरिमित उत्तरायण कालका अभिमानी देवतारूप इस देवयानसे देह-निर्गमनरूप उत्क्रमणको प्राप्त हुये ब्रह्मके वेत्ता अर्थात् निष्काम ब्रह्मोपासकजन, ब्रह्मलो-ककी प्राप्तिद्वारा ब्रह्मके प्रलय कालमें परब्र-ह्मको पाते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

धूमो धूमाभिमानी देवो, निशाभि-मानिदेवता, कृष्णः कृष्णपक्षाभिमानी देवः, षण्मासात्मककालव्यापि दक्षिणायनं, पितृयानमुच्यते । एतेन पितृयानेन गताः कर्मयोगिनो जनाश्चान्द्रमसं लोकं प्राप्य तत्र भोगान्भुक्त्वा,पुण्यक्षयादेव पुनरावर्तन्ते पुनर्जन्म लभन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

धूमका अभिमानी देवता, रात्रिका अभि-मानी देवता, कृष्णपक्षका अभिमानी देवता, षण्मासपरमित काल दक्षिणायनका अभि-मानी देवतारूप पितृयानसे चन्द्रलोकको गये हुये कर्मयोगी, चन्द्रसंबंधी चन्द्रज्योतिको पाकर अर्थात् भोगोंको भोगकर, पुण्य क्षीण होनेपर जननमरणरूप संसारको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥ २६ ॥

अनादिमतोऽस्य संसारस्येमे पूर्वोक्ते द्वे गती स्तः शाश्वतेऽनपायिन्यौ । एकया शुक्लया गत्या, ज्ञानप्राप्तिसाधकत्वादपुनरावृत्तिं मोक्षं लभन्ते । द्वितीयया कृष्णनाम्न्या गत्या पुनर्जन्म प्राप्नुवन्ति ॥२६॥

अर्चिआदि स्वरूप शुक्ल और धूम्रादिस्वरूप कृष्ण, ये दोनों संसारके प्रसिद्ध अनादिमार्ग हैं । ज्ञानप्राप्तिका साधन होनेके कारण शुक्लमार्गके द्वारा मोक्ष पाते हैं । और दूसरे कृष्णमार्गसे सवासनान्तःकरणवाले पुरुष, पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवाऽर्जुन ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! इमौ द्वावपि पंथानौ, गुरूपदिष्टविधिना जानन्योगी मोहं नाधिगच्छति । अतस्त्वमपि सततं सर्वदा काले योगेन युक्तो ब्रह्मनिष्ठो भव ॥ २७ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! इन दोनों मार्गोंको गुरुशास्त्रद्वारा जानता हुआ कोई भी योगी मोहको प्राप्त नहीं होता है । इस कारण, हे अर्जुन ! सब कालमें योगसे युक्त हो । अर्थात् समाहितचित्त हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥२८॥

वेदाध्ययने, यज्ञानुष्ठाने तपोविधाने श्रद्धापुरःसरं देशकालादिकं विचार्य दाने दत्ते सति, यत्फलं स्वर्गभोगादिकं शास्त्रेषु वर्णितं विद्यते । अस्मिन्नष्टाध्याये प्रतिपादितं सप्तप्रश्नोत्तरेण विहितमर्थजातं सम्यग्ज्ञात्वा ब्रह्मनिष्ठयोगी तत्सर्वं वैदिककर्मजातं फलमुल्लंघ्योत्कृष्टं ब्रह्मस्वरूपं यदाद्यस्थानं विद्यते तत्प्राप्नोति ॥ २८ ॥

वेदाध्ययनसे, यज्ञानुष्ठानसे, तप करनेसे और श्रद्धापूर्वक देश काल पात्र देखकर दान देनेसे जो पुण्य फल शास्त्रोंमें कहा है । इस अध्यायमें कहे हुये सात प्रश्नोंके अर्थ (विषय) को जानता हुआ ब्रह्मनिष्ठयोगी, उस सर्व पुण्यफलको उलंघन करता हुआ आद्यस्थान परब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायामक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

॥ अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ॥

यो वेदान्तेऽक्षरात्मा बहुसुकृतवतां ध्येय आनन्दकन्दः,
प्रेम्णा लभ्यो य आराच्चरमचरमिदं कल्पितं यत्र धाम्नि ।
यं प्राप्यावृत्तिशून्यो निवसति परमे स्वे महिम्न्यात्मनिष्ठम्,
तं श्रीकृष्णं मुकुन्दं स्मितमधुरमुखं सर्वदा संश्रयेऽहम् ॥ १ ॥

सा०—यो वेदान्तेऽक्षरात्मा । यः आनंदकन्दो, बहुसुकृतवतां ध्येयः । य आरात् प्रेम्णा लभ्यः । यत्र धाम्नि चरमचरमिदं कल्पितम् । यं प्राप्य (जनः) आवृत्तिशून्यः परमे स्वे महिम्नि निवसति । तमात्मनिष्ठं, स्मितमधुरमुखं श्रीकृष्णं मुकुन्दमहं संश्रये ॥ १ ॥

अर्थ—जो वेदान्तमें अविनाशी अक्षर आत्मा कहा गया है । और जो आनंदकन्द—स्वरूप भगवान्, बहुपुण्यकरनेवाले श्रेष्ठपुरुषोंसे ध्यानकरने योग्य है । जो परमात्मा प्रेमसे तत्क्षणमें मिलने योग्य है । जिस तेजस्वरूप भगवान्में यह चराचर जगत् कल्पित है । जिस परब्रह्मको प्राप्त होकर मनुष्य, पुनर्जन्मसे रहित हो अपनी परम महिमामें निवास करता है । मैं, उस आत्मनिष्ठ मधुरमुस्कुराहटवाले तथा मधुरमुखवाले मुकुन्द श्रीकृष्ण भगवानकी सदा सम्यक् प्रकारसे शरण लेता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी-निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायामक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ८ ॥

ॐ

भक्तवत्सलाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

परब्रह्मानन्दे सकलसुरवन्द्ये स्वरसतः,
क्षतद्वन्द्वे मन्दाकृतिदनुजकन्दांकुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्रस्मितमुखे,
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥ २ ॥

सा०—परब्रह्मानन्दे, सकलसुर-वन्द्ये, स्वरसतः क्षतद्वन्द्वे, मन्दाकृतिदनुजकंदांकुरहरे, श्रियः कन्दे, उदितचंद्रस्मितमुखे मुकुन्दे नन्दात्मजे, द्वन्द्वविरतेः मम मनसः स्पन्दो भवतु ॥ १ ॥

अर्थ-परब्रह्म परमानन्दस्वरूप, सम्पूर्ण देवोंसे वन्दना करने योग्य, अपनी अनुभूतिसे रागद्वेषादिकके क्षयकर्ता, राक्षसोंके अंकुरोंके हर्ता, शोभाके कन्दस्वरूप, उदित चन्द्रमाके समान मुसुकुराहटवाले, मुकुन्द, नन्दके बालक श्रीकृष्ण भगवान्में, हानिलाभादिकोंसे ग्लानि करनेवाले मेरे मनकी गति या रति होवे ॥१॥

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

वासुदेवोभगवानब्रवीत् । हे अर्जुन ! कामक्रोधादिदोषरहिताय ते तुभ्यमर्जुनायेदं पूर्वाध्यायोक्तमत्यन्तं गुह्यं श्रवणादि ज्ञेयं, विज्ञानसहितं गुरूपदेशेन लभ्यमुपासनाया विषयाद्भिन्नं, ब्रह्मात्मविषयकं ज्ञानमहं ब्रवीमि ॥ "यद्ब्रह्मात्मानं वासुदेवः सर्वमिति, आत्मैवेदं सर्वं, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति," ज्ञात्वाऽस्मादज्ञानोत्थात्संसाराख्यादशुभान्मोक्ष्यसे त्वम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् वासुदेव बोले—हे अर्जुन ! काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्षा आदि कारणोंके न होनेसे दूसरोंके गुणोंमें दोषारोपणरूप असूयाके न करनेवाले तुमको, क्षर और अक्षर ब्रह्म की उपासनासे विलक्षण "वासुदेवः सर्वमिति, आत्मैवेदं सर्वं, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित, अत्यन्तगूढ, श्रवणादिविचारोंद्वारा होने योग्य पूर्वाध्यायमें कहे, इस अनुभवयुक्तविज्ञानसहित ज्ञानको कहता हूं । जिसे जानकर तू अशुभरूप संसारसे मुक्त होवेगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

इदं वक्ष्यमाणं ब्रह्मज्ञानं सर्वासां विद्यानां राजा श्रेष्ठं विद्यते । सूक्ष्मत्वाच्च सर्वगुह्यानां पदार्थतत्त्वानां चापि राजा भवति । अथवा ब्रह्मविद्भी राजभिरत्यन्तं गोप्यमस्ति । बन्धनकारिणां सर्वेषां कर्मणां दाहकत्वादुत्तमं पवित्रं च विद्यते । सर्वानर्थनिवृत्तेः परमानन्दावाप्तिसाधकत्वाच्च प्रत्यक्षमोक्षफलकं धर्म्यं धर्मादनेपतं सुखेन कर्तुं बोध्यमविनाशि क्षयादिभावरहितमोक्षफलदमास्ति । एतज्ज्ञानमतिप्रयत्नेन श्रद्धया चानुष्ठेयम् ॥ २ ॥

यह ब्रह्मज्ञान, सर्वविद्याओंका राजा और सूक्ष्म विषयवाला होनेसे सर्वगुह्य पदार्थोंका राजा है, तथा ब्रह्मवेत्ता राजर्षियोंसे गोपनीय, उत्तम तथा बंधनकारा सब कर्मोंका दाहक होनेसे पवित्र और सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप, प्रत्यक्ष-अक्षयफलवाला है । तथा धर्मयुक्त है । और निरंतर सुखसे करने योग्य है । अतः यह आत्मज्ञान अतिप्रयत्न और श्रद्धासे करने योग्य है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

T

हे धनंजय ! ज्ञानात्मकस्यास्य धर्मस्याश्रद्धालवो देहाभिमानिनो नास्तिका जना मां-परब्रह्मात्मानमनासाद्येहास्मिन्मृत्युजन्मदायिनि मार्गे संसारावर्ते भ्रमंति निवृत्त्य पतन्ति ॥ ३ ॥

हे शत्रुसंतापकारी अर्जुन ! इस ज्ञानरूप धर्ममें अश्रद्धा करनेवाले देहाभिमानी नास्तिक पुरुष, मुझ परब्रह्मको न प्राप्त होकर, जन्म मृत्युमय संसाररूपी मार्गमें निरंतर भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

सूक्ष्मत्वात्प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयादव्यक्तरूपात्सच्चिदानन्दात्मकाद्ब्रह्मणः सकाशादुत्पद्यमानमिदं जगत् मयैवाव्यक्तमूर्तिमता व्याप्तं विद्यते । अथच सर्वाणि भूतानि सर्वे पदार्थाश्चाब्रह्मणः स्तम्बपर्यन्तं मयि जगदाधारे कल्पितत्वाद् व्याप्यत्वादध्यस्तानि विद्यन्ते । व्याप्यत्वेन स्थितानि सन्तीत्यर्थः । अहं च परिच्छिन्नेषु तेषु न विद्ये ॥

तथाच श्रुतौ—

" यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति । तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व" ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अगोचर होनेसे अव्यक्त स्वरूप मुझ सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मसे, यह दृश्यादृश्य सर्व जगत् व्याप्त है । और ब्रह्मादि स्तबपर्यन्त सब भूत, मुझमें अध्यस्त और न्यूनवर्ती होनेसे कल्पित हैं । किन्तु मैं सर्वाधार अधिष्ठानरूप परमेश्वर, उन असत् और परिच्छिन्न भूतोंमें स्थित नहीं हूं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" जिस ब्रह्मसे ये सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं और जिसमें ये स्थित होकर लयको प्राप्त होते हैं, उस ब्रह्मकीही जिज्ञासा करो । वही ब्रह्म सत्य है" ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तरीत्या खपुष्पमिव प्रतीयमानं भूतोपलक्षितमिदं भूतजातं जगन्मायि निष्कले निराधारे निर्विशेषेऽपरिच्छिन्ने परि-

इस पूर्वोक्त दृष्टिसे आकाशपुष्पकी नाईं मिथ्या तुच्छ निस्वरूप प्रतीत होनेवाले भूत, मुझ परिपूर्ण ब्रह्ममें स्थित नहीं हैं ।

पूर्णे ब्रह्मणि न तिष्ठति। यतोहि ज्ञानिनां ब्रह्मविदां तु तेषां भूतानामभावतया मयि प्रतीयमाने ब्रह्मणि व्याप्यताधेयताभावो ज्ञात एवास्ति। तथापि "असंगोह्ययं पुरुषः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितस्यासंगस्य ममेश्वरस्य विचित्रं विस्मयकरं ज्ञानयोगं पश्य सूक्ष्मया बुद्ध्या। अहमेव स्वप्नसाक्षीव सर्वेषां भूतानां कर्ता सन्नपि तेषु भूतेषु न तिष्ठामि। केवलं शुद्धं निर्विशेषमस्मि॥

तथाच श्रुतौ-

"तमसः साक्षी सर्वभूतस्य साक्षी"॥५॥

क्योंकि, ज्ञानियोंकी दृष्टिसे, ब्रह्ममें प्रतीयमान भूतोंकी व्याप्यता और आधेयताका अभाव सिद्ध ही है। किन्तु तू, नित्यज्ञानरूप किंवा असंगरूप मुझ परमेश्वरके अद्भुत ज्ञानरूप योगको देख। अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्तिसे अवलोकन कर। मैं, शुद्ध सच्चिदानन्द, सर्वाधार अधिष्ठान होनेसे स्वप्न प्रपंचके साक्षीके समान अनिर्वचनीय भूतोंका उत्पन्न करनेवाला उन भूतोंमें स्थित नहीं हूं। किन्तु शुद्ध निर्विशेष सत्तारूप हूं॥

जैसा श्रुतिमें कहा है-

"ब्रह्म, माया और मायाके सम्पूर्ण कार्यप्रपंचोंका साक्षी है"॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥६॥

यथा वायुः सर्वगामित्वात्पृथ्वीजलादिभ्योऽपि महत्तरः सततप्रवाहो नित्यं सर्वदैव खे वर्त्तते। तथैव सर्वाणि पृथ्व्यादिभूतानि वायुरिव ख इव विवर्तोपादाने मयि ब्रह्मणि स्थितानीति विद्धि त्वम्॥६॥

जिसप्रकार सर्व स्थानोंमें गमन करनेवाली, पृथ्वी जल तेजसे भी अधिक व्यापक होनेसे महान वायु आकाशमें सर्वदा स्थित है, उसीप्रकार सर्वभूत मुझविवर्तोपादानरूप ब्रह्ममें स्थित हैं। ऐसा तू निश्चय कर॥६॥

सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥७॥

हे कुन्तीनन्दन, पार्थ! ब्रह्मणो महतः कल्पक्षये प्रलये, चिदाभासभासितानि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसहितानि सर्व-

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन! ब्रह्माके कल्पक्षयरूप प्रलयमें, चिदाभाससे प्रकाशित होनेवाले स्थूल सूक्ष्म और कारणरूप तीनों शरीरोंके

भूतानि वासनामयत्वान्मम मायां प्रकृतिमधिगच्छन्ति । पुनश्च कर्मफलभोगाय महाकल्पावसरेऽहमेव भूतानि तानि सृजामि ॥

तथाच श्रुतौ--

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" ॥ ७ ॥

सहित सर्वभूत, वासनायुक्त होनेसे मेरी मायारूप प्रकृतिमें लीन होते हैं। और फिर महाकल्पके आदिमें मैं परमात्मा, उन भूतोंको कर्मफल देनेके लिये उत्पन्न करता हूं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"धाता परमात्मदेव, पूर्वकल्पमें उत्पन्न किये सूर्य चन्द्रमा आदिकी सृष्टिके समान दूसरे कल्पमें भी सर्वसृष्टिको रचता है" ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अहमेव परमात्मा, स्वां मायानाम्नीं प्रकृतिमुपादाय प्राणिनां जन्मान्तरादृष्टवासनासंस्कारात्मिकायाः प्रकृत्या बलेनास्वतंत्रं परतंत्रमिमं भूतग्रामं संसारं पुनःपुनश्चोत्पादयामि ॥ ८ ॥

मैं, अपनी मायारूपिणी प्रकृतिका आश्रय करके, पूर्वके अदृष्ट और वासनामय संस्काररूप प्रकृतिके योगसे परतंत्र इस सम्पूर्ण भूतोंके समूहरूप संसारको वारंवार विविधप्रकारसे उत्पन्न करता हूं ॥ ८ ॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनञ्जय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे धनंजय ! रागद्वेषरहितमुदासीनं पुरुषमिव मां सृष्ट्यात्मके कर्मणि सक्तिरहितं परमात्मानमिमानि सर्गादिकर्माणि स्वाप्निकजगदिव न बध्नन्ति । कुतः, इच्छाया अभावात् ॥ ९ ॥

हे रिपुधनविजयी अर्जुन ! रागद्वेषसे रहित उदासीन पुरुषके समान, सृष्टि आदि कर्मोंमें आसक्तिसे रहित मुझ परब्रह्मको (साक्षी स्वप्नकी नाईं), कर्म बन्धन नहीं करते हैं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौंतेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥ १० ॥

हे पार्थ ! स्वप्रकाशमानप्रकाशेन मयैव प्रकाशितैषा मायामयी प्रकृतिरेवैतत्स्थावरजंगमात्मकं जगदुत्पादयाति ॥ इत्थमेव पूर्वोक्तेन प्रकारेण तथा पूर्वोक्तप्रकाशहेतुना च जगदिदं नैकधा परिवर्तते ।

तथा च श्रुतौ–

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" १०

हे कुन्तीतनय अर्जुन ! परमप्रकाशरूप मुझ परमेश्वरसे प्रकाशित हुई माया नामवाली प्रकृति, इस स्थावर जंगम जगतको उत्पन्न करती है । और इसी प्रकाशत्वनिमित्तसे, यह जगत् विविधप्रकारसे परिवर्तित होता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" वह एक ही परमात्मदेव सर्वभूतोंमें गूढरूपसे स्थित है। वही सर्वव्यापी है। सर्वभूतोंकी अन्तरात्मा है । सर्वकर्मोंका द्रष्टा है, सर्वभूतोंमें वास करता है । साक्षी है, चेतनरूप है। और केवल, तथा गुणातीत है ॥ १० ॥

अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मूढा अल्पज्ञा विवेकशून्यमानसा जना ममेश्वरस्य सर्वोत्कृष्टं महैश्वर्यं न जानानाः सर्वसाध्वसाधूनां कर्मफलदानाय मानुषीं तनुमाश्रितं मां परं ब्रह्मात्मानं निन्दन्ति ॥ ११ ॥

अविवेकी वेदान्तविज्ञानशून्य अल्पज्ञजन, मुझ परमेश्वरके ईश्वरतारूप सर्वोत्कृष्ट पारमार्थिकस्वरूपको न जानते हुये, साधु और असाधुओंको कर्मफल देनेके लिये मायामय शरीरका आश्रय करनेवाले मुझ परमब्रह्मका अनादर करते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

निरर्थकाशापाशबद्धाः प्रयोजनफलशून्याग्निहोत्रादिकर्माणो विज्ञानशून्यान्तःकरणाः सदसद्विवेकविरहितास्तोनिन्दका जनास्तमःप्रायां रजःप्रायां वा मृगतृष्णामिव स्वात्ममोहिनीं प्रकृतिमाश्रयन्ते ॥

तथाचोक्तं भागवते—

"कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद्विष्णुमव्ययम् । मज्जान्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः" ॥ १२ ॥

वे व्यर्थ आशावाले हैं और उनके किये हुये अग्निहोत्रादिक कर्म भी निष्फल हैं। तथा वे निष्फल ज्ञानवाले सत्यासत्य विवेकरहित भगवान्की निन्दा करनेवाले मनुष्य, तमोगुणप्रधान राक्षसोंकी और रजोगुणप्रधान असुरोंकी मृगतृष्णाके समान मोह करनेवाली प्रकृतिका ही आश्रय लेते हैं।

भागवतमें कहा है—

"जो मनुष्य मन वाणी और कर्मसे विष्णुकी निन्दा करता है, उसके पितर नरकमें निरंतर बास करते हैं" ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

हे पार्थ,सत्त्वगुणप्रधानां शमदमदयाश्रद्धादिलक्षणां दैवीं मायां श्रिता मयिबद्धचेतसो महात्मानस्तु, मामविनाशिनं सर्वभूतानामभिन्ननिमित्तोपादानकारणं ज्ञात्वा भजन्ति ॥ १३ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! सतोगुण प्रधान शमदम दया और श्रद्धादिभावोंसे युक्त दैवी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले, मुझ परब्रह्ममें अनन्य चित्तवाले महात्मा पुरुष तो, मुझे सर्व आकाशादि भूतोंका अभिन्न निमित्तोपादान अविनाशी कारण जानकर भजते हैं। अर्थात् मत्परायण होते है ॥ १३ ॥

सततं कीर्त्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ।
नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

ते महात्मानो यत्नवन्तो दृढव्रताः संयमिनश्चैकाग्रचेतसो वेदान्तश्रवणमननिदिध्यासनपूर्वकं परया प्रेमभक्त्या

यत्नशील दृढ़व्रती और नित्य एकाग्रचित्तवाले वे महात्मापुरुष, वेदान्तश्रवण मनन और निदिध्यासन पूर्वक प्रेमरूप

मां परमात्मानमनेकैर्नामभिः कीर्तयन्तो नमस्यन्त उपासते ॥ १४ ॥

भक्तिसे सदैव मुझ परब्रह्मको अनेकनामोंसे कीर्तन करते हुये और नमस्कार करते हुये भजते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्येऽपि जिज्ञासवो भक्तप्रवरा ज्ञानयज्ञेन सर्वात्मदर्शनेन मामन्तर्यामिणं देवमुपासते । केचिच्च निष्कामभावनया वेदोक्तनानायज्ञैर्विष्णुशिवादित्येन्द्रचन्द्रस्वरूपं मां यजन्ते । केचिच्च विश्वव्यापिनं विश्वतोमुखं विराजं विराट्स्वरूपं मां यजन्ते ॥ १५ ॥

अन्य जिज्ञासु भक्त, ज्ञानरूपी यज्ञसे ब्रह्माऽहंभावरूप एकतासे उपासना करते हैं । और कोई निष्काम पुरुष, अन्यान्य यज्ञोंद्वारा विष्णु शिव राम कृष्ण सूर्य चन्द्र आदिभावसे मेरा यजन करते हैं । और कोई भक्त मेरे विश्वव्यापी विराटस्वरूपका यजन करते हैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

हे पार्थ ! अग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यंतः श्रुत्युक्तो यागः अहमेवास्मि । तथैवस्मृतिविहितो यज्ञोऽप्यहमेवास्मि । पितॄणामन्नं चाप्यहमस्मि । सोमवल्ल्यादिकमौषधमहमेव । प्रणवादिका मन्त्रा अहमेवास्मि । हव्यं द्रव्यं घृतादिकमहमेव विद्ये । तथा चाग्निरहमेव । हुतं देवतोद्देशेन दत्तं द्रव्यमेवाहमस्मि ॥ १६ ॥

मैं परमात्मादेव ही अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रुतिउक्त यज्ञ हूं, मैं ही स्मृतिउक्त यज्ञ हूं, मैं पितरोंका अन्न हूं, मैं सोमवल्ली आदि ओषधि हूं, मैं प्रणव आदि मंत्र हूँ, मैं घृतादि हवि हूँ, मैं अग्नि हूं, और मैं ही देवतार्थ हवन किया देव द्रव्य हूं ॥ १६ ॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

अस्यापि जगतोऽहमेव मायाशवलितश्चेतनमयःपिता जनक ईश्वरश्चास्मि। मायामयी मातापि चाहमेवास्मि । तथा कर्मफलदो दातापि । मायोपाहितो ब्रह्मरूपात्मा पितामहोऽप्यहमेव । ज्ञेयं वस्तु शब्दादिकम् अथवा-ब्रह्म तत्सर्वमहमेवास्मि । जलवाय्वग्न्यात्मकं पवित्रं द्रव्यमहमेव । सर्वमंत्रमूलं प्रणवः ऋग्वेदो यजुर्वेदोऽथ सामवेदोऽथर्ववेदश्चाहमेवास्मि ॥

यथोक्तं श्रुतौ—

"मायाशवलं ब्रह्म, ब्रह्मणोऽव्यक्तमव्यक्तान्महत्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि" ॥ १७ ॥

इस जगत्का मायाविशिष्ट चेतन ईश्वररूप पिता, मायारूप माता, पोषक और कर्म फलका दाता धाता, माया उपहित ब्रह्म रूप पितामह, शब्दस्पर्शादिक किंवा-ब्रह्मरूप जानने योग्य वस्तु, जल वायु और अग्नि आदिक शोधकरूप पवित्र वस्तु, ओङ्कार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, ये सब मैं ही हूं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा—

"माया शवलित ब्रह्मसे अव्यक्त (प्रकृति) उत्पन्न हुआ और प्रकृतिसे महत् तत्त्व उससे अहङ्कार और अहङ्कारसे पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयःस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

स्वर्गमोक्षादिकं गतिरहमेवास्मि । कर्मफलदत्वात्पोषको भर्ताहमस्मि । सर्वेषां नियन्ता प्रभुरहमेवास्मि। प्राणिनां कर्मणामहमेव साक्षी । प्राणिनां निवासः पृथ्वी चाहमेव । आर्तानामार्तिहारी, रक्षकोऽहमेवास्मि । प्रत्युपकाराहतेऽपि हितोपकर्ता सुहृदप्यहमेवास्मि । विश्वस्योत्पादको, रक्षको, हर्ता, स्थापयिता, सुखदुःखादिदाता, कार्यकारणात्मकप्रपञ्चस्य निधानमधिष्ठाता, विना ज्ञानेनाविनाश्यव्याकृतमस्य जगतोऽव्ययं बीजं चाहमेवास्मि ॥ १८ ॥

स्वर्ग मोक्षादि कर्मफलरूप गति, कर्मफलके देनेसे पोषकरूप भर्ता, नियन्तारूपप्रभु, प्राणियोंके सर्व कर्मोंका साक्षी, निवासरूप पृथ्वी, शरणार्थिभक्तोंका आर्तिहर, रक्षक, विना प्रत्युपकारके उपकारका कर्ता सुहृद, विश्वका उत्पत्ति पालनकर्ता, सर्वका आश्रय, कार्य कारणरूपप्रपञ्चका अधिष्ठानरूप निधान, और ज्ञानके विना न नाश होनेवाले अव्याकृतरूप, जगतकी उत्पत्तिका कारण अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

हे पार्थ ! सूर्यो भूत्वाहमेव तपामि । अहमेव कार्तिकादिष्वष्टमासेषु दुर्भिक्षे च वृष्टिं निरुणध्मि । तथा आषाढ़ादिमासचतुष्टयं च वृष्टिमेवाहं करोमि । तथा चाहमेव सर्वेषां भूतानां जीवनममृतात्मकमस्मि । तथा सर्वेषां मृत्युः कालश्चाहमेवास्मि । नामरूपमयं व्यक्तं कार्यं सच्चापि । तथा नामरूपमयस्य कार्यस्य कारणमसदज्ञानाख्यं मायाहमास्मि ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूं, मैं वर्षाको, कार्तिक आदि अष्टमास अथवा दुर्भिक्षमें रोकता हूं । और आषाढादि चार मासोंमें अथवा सुभिक्षमें छोडता हूं । तथा मैं सर्वका जीवनरूप अमृत हूं । और मृत्युरूप काल हूँ और सर्व कार्यकारणरूप सत् असत् मैं ही हूं ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेंद्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् २०

प्रसिद्धा ऋक्सामयजुर्वेदा वेदा एव त्रिविद्याशब्देनोच्यन्ते, तेषामध्येतारो त्रैविद्या भवन्ति । एवंभूताः सकामिनो त्रैविद्या जना यज्ञैः अग्निष्टोमाग्निहोत्रादिभिरष्टौ वसवः, एक इन्द्रः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, प्रजापतिर्वषट्कारश्चेति त्रयस्त्रिंशद्देवात्मकं मामिष्ट्वा, "यस्यौषधेः पत्राणि शुक्लपक्षे रोहन्ति, कृष्णपक्षे च पतान्ति सा सोमवल्ली प्रख्यायते ।" तस्या रसं यज्ञावभृथकाले ये पिबन्ति ते सोमपा नरककारणकात्पापान्मुक्ताः पवित्रान्तःकरणाः स्वर्गप्राप्तिमभिवाञ्छन्ति । ते पुरुषाः पुण्यात्मकं सुरपतिलोकं स्वर्गं लब्ध्वा तत्र दैविकं भोगमनुभवन्ति ॥ २० ॥

ऋग्वेदादि तीनवेदरूप त्रिविद्याके अध्ययन करनेवाले त्रैविद्य सकामीजन, अग्निष्टोमादिक यज्ञोंसे अष्ट वसु एक इन्द्र एकादश रुद्र द्वादश आदित्य प्रजापति और वषट्कार तेतीस देवतास्वरूप मुझको यजनकरके, जिसके पत्र शुक्ल पक्षमें होते हैं और कृष्णपक्षमें गिरते हैं ऐसी शुक्ल बेलरूपी सोमवल्लीके रसरूप सोममय हुतशेषके पानकर्त्ता, नरकके हेतु पापसे पवित्र हुए, स्वर्गकी प्राप्तिको चाहते हैं । वे पुरुष, अपने पुण्यको लेकर इन्द्रलोक स्वर्गमें जाकर अलौकिक देवोंके दिव्यभोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥

ते सकामा याजकाः पुरुषा विशालं महान्तं स्वर्गलोकमासाद्य तत्र भोगान्भुक्त्वा, पुण्ये क्षीणे सति पुनरेव मृत्युलोकमापतन्ति। एवं कर्मकाण्डात्मकवेदत्रयोक्तं कर्मस्वरूपं धर्ममाचरन्तो विषयान् भोगान्कामयमानास्ते च पुनः पुनर्गमनागमनजन्ममरणात्मकं फलं लभन्ते। न ते शान्तिमणुमात्रां लभन्ते ॥ २१ ॥

वे सकामी याजक पुरुष, उस विशाल स्वर्गलोकके सुखोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मनुष्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्डरूप वेदत्रय द्वारा प्रतिपादित कर्मरूपधर्मका अनुसरण करते हुये विषयोंकी कामना करनेवाले अज्ञानी पुरुष, आगमापायी अर्थात् वारंवार गमन आगमनरूप जन्ममरणफलको ही पाते हैं। किन्तु किंचित् भी शान्तिको नहीं पाते हैं॥२१॥

अनन्याश्चिंतयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

ये तु मुमुक्षवः संन्यासिनश्च सोऽहंभावेनानन्यया भक्त्या चिन्तयन्तो मामुपासते, तेषां सततं मय्यासक्तान्तःकरणानां महात्मनां योगक्षेमम् (अप्राप्तस्य अप्राप्तवस्तुनः प्राप्तिरूपं योगं प्राप्तस्य संरक्षणात्मकं क्षेमं च) अहं वासुदेवः करोमि ॥ २२ ॥

जो संन्यासी अथवा मुमुक्षुपुरुष, अनन्यभावसे चिंतन करते हुये मुझ परब्रह्मको सोऽहंभावसे भजते हैं उपासते हैं। मैं वासुदेवही, सदा मुझ वासुदेवमें समाहित चित्तवाले उन परमार्थ ज्ञानी पुरुषोंके शरीरनिर्वाहक अन्नादि अप्राप्तवस्तुकी प्राप्तिरूप योग और प्राप्त वस्तुकी रक्षारूप क्षेमको करता हूं ॥ २२ ॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयाऽन्विताः।
तेऽपि मामेव कौंतेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे कुन्तीनन्दन ! ये सकामा जना इन्द्रादीनन्यदेवानापि श्रद्धया पूजयन्ति,

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! जो सकामी इन्द्रादि अन्य देवताओंके भक्त श्रद्धासे

तेऽविधिपूर्वकमज्ञानपूर्वकं मां परब्रह्मात्मानमेव यजन्ति ॥ २३ ॥

युक्त हुये, उन देवोंका पूजन करते हैं। वे भी अविधि याने अज्ञानपूर्वक मुझ परब्रह्मका ही यजन करते हैं ॥ २३ ॥
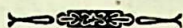
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनाऽतश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥

अहं परब्रह्मात्मैव सर्वेषां श्रौतानां स्मार्तानां च यज्ञानां भोक्तास्मि तत्फलदेवतात्वेन, तथैवान्तर्यामित्वेन प्रभुः फलदोऽप्यहमेवास्मि। तथापि ते याजका मां परमात्मानं सर्वात्मकत्वेन न जानन्ति। अतस्ते मोक्षं नाप्नुवन्ति। तस्मात्परमपुरुषार्थाच्च्यवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

मैं परब्रह्मही, सर्व श्रौत और स्मार्त यज्ञोंका इन्द्रादिरूपसे भोक्ता और अन्तर्यामीरूपसे फलदाता हूं। परन्तु वे मुझ परब्रह्मको सर्वात्मक वास्तविकरूपसे नहीं जानते हैं। इसकारण परम पुरूषार्थरूप मोक्षसे भ्रष्ट होते हैं ॥ २४ ॥

यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

यतो हि देवानां पूजका देवान्यांति। पितॄन् पूजयितारः पितॄनधिगच्छान्ति। भूतपूजका भूतान्येव यान्ति। अर्थात्तत्तन्मण्डलं यान्ति मां शुद्धं सच्चिदानन्दकं तु मद्याजिनो यान्ति ॥ २५ ॥

देवोंके उपासक देवोंको प्राप्त होते हैं। पितरोंके उपासक पितरोंको प्राप्त होते हैं। भूतपूजक भूतोंको प्राप्त होते हैं। अर्थात् तत्तद्देवादिपूजक तत् तत् मण्डलको प्राप्त होते हैं और मुझ शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्मको यजन करनेवाले तो मुझ परब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥
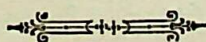
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

T

यो भक्तः प्रेममय्या भक्त्या पत्रं पुष्पं फलं तोयं वापि मह्यं यच्छति । अहं तस्य शुद्धचेतसो नियतमानसस्य प्रीत्या समर्पितं तद्वस्तु पूतमनुभवामि भुंजे ॥२६॥

जो भक्त, मुझ परमेश्वरको प्रेम विशेषरूप भक्तिसे पत्रको पुष्पको फलको और जलको देता है । अर्थात् अर्पण करता है । उस नियमित मनवाले (या शुद्ध बुद्धिवाले) की भक्तिसे अर्पण किये हुए उन पदार्थोंको मैं नारायण ही भोगता हूँ ॥ २६ ॥
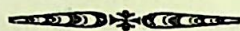
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! शरीरेण चक्षुरादीन्द्रियैरंतःकरणेन च शास्त्रोक्तं यत्कर्म क्रियते, यदन्नं भुज्यते, यद्द्रव्यं हूयतेऽग्नौ, यदन्नवस्त्रादिकं दीयते, यत्तपः तप्यते, तत्सर्वं मयि सर्वात्मके शुद्धे निष्कले ब्रह्मणि समर्पय ॥ २७ ॥

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरणसे जिस शास्त्रोक्त कर्मको करते हो, जिस अन्नको भोगते हो, जिस हविको अग्निमें होमते हो, जिस अन्न वस्त्र और धन (आदि) को दानमें देते हो, जिस तपको तपते हो, वह सब (तुम) मुझ ब्रह्मको अर्पण करो ॥ २७ ॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

एवं पूर्वोक्तविधानेन कर्मफलत्यागात्मकेन योगेन युक्तात्मा त्वं शुभाऽशुभजन्ममरणादिफलदैः कर्मभिर्बन्धनैर्मुक्तो भविष्यसि । पुनश्च कर्मफलादिविनिर्मुक्तस्त्वं संन्यासात्मकयोगेन मां परमात्मानं प्राप्स्यसि ॥ २८ ॥

इस प्रकार कर्मफलके त्यागमय संन्यासरूप योगसे युक्तचित्तवाला तू, शुभ और अशुभ फलवाले कर्मोंके जन्ममरणरूपी बंधनसे मुक्त होजावेगा । और कर्म बन्धनोंसे मुक्त हुआ संन्यासयोग द्वारा मुझ परब्रह्मको पावेगा ॥ २८ ॥
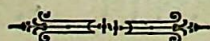
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

अहं परब्रह्मात्मा, सर्वेषु भूतेष्वपि समः समत्वेनैकत्वेन विद्ये । मम न कश्चिद्द्वेष्यो नापि प्रियो विद्यते । तथापि ये जना भक्त्या मां भजन्ति, ते प्रीतियोगेन मदाकाराकारितान्तःकरणा मयि विद्यन्ते । अहमपि प्रीतिमत्सु तेषु अन्तर्यामित्वेन स्वात्मत्वेन स्थितोऽस्मि ॥ २९ ॥

मैं परब्रह्म, सर्वभूतोंमें सम हूं । मुझे कोई शत्रुवत् द्वेष करने योग्य नहीं है । और मित्रवत् प्रिय नहीं है । परन्तु जो पुरुष मुझ परमात्माको भक्तिसे भजते हैं । वे प्रेमसे मदाकार भावको प्राप्त हो मुझमें हैं । और मैं भी उनका प्रियतम हुआ, आत्मरूपसे उनमें हूं ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

जातिवर्णक्रियास्वभावैरतिदुष्टोऽपि यः पुरुषोऽनन्यभावेन मां परमात्मानमुपास्ते । स साधुः सदाचारी विद्यते ममानन्यभक्तत्वात् । यतो हि स सम्यग्व्यवसायी मां वासुदेवं परब्रह्मात्मानं मन्यमानो निश्चितमतिरेवास्ति ॥ ३० ॥

जाति, वर्ण, क्रिया (आचरण) व स्वभावसे जो अत्यन्त दुष्टाचार करनेवाला पुरुष, अनन्यभावसे मुझ परब्रह्मकी उपासना करता है । वह साधु या सदाचारी ही माननेके योग्य है । क्योंकि, वह मुझ परमात्मामें सम्यक् निश्चय (विश्वास) वाला है ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ।
कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

अथ स एव सम्यक्निश्चयी पुण्यात्मा भवति । अथच चित्तशुद्धिपूर्वकं श्रवणमनन—निदिध्यासनद्वाराऽनन्तां शांतिं मोक्षमाप्नोति । हे कौन्तेय ! मम वासुदेवस्य

वही निश्चितमतिवाला भक्त, पुण्यात्मा होता है । तथा चित्तशुद्धिपूर्वक वेदान्तश्रवण मनन और निदिध्यासनद्वारा परमशान्ति मोक्षको प्राप्त होता है । हे कुन्तीनन्दन अर्जुन ! मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है । अर्थात् नानाविध दुःखोंसे भरे हुये संसारको प्राप्त नहीं

भक्त आधिव्याधिसमाकीर्णे संसारे न नश्यति (पतति) ! आपितु जन्मबन्धनात्प्रमुच्यते, इति प्रतिज्ञां निश्चयं कुरु ॥ ३१ ॥

होता है । किन्तु आवागमनके बंधनसे मुक्त होजाता है । ऐसी प्रतिज्ञा अर्थात् निश्चय कर ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! ये पापयोनयः पापाचारा जनास्तथैव मन्दप्रज्ञाः स्त्रियः, प्रवृत्तिप्रधाना वैश्याः, वेदाधिकारशून्याः शूद्रास्ते सर्वे मामाश्रित्य अनन्यया भक्त्या चित्तशुद्धिद्वारा पापत्यागपूर्वकं श्रवणादिज्ञानेनैव मुक्तिं परमां गतिं यान्ति ॥३२॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पाप प्रधानयोनिवाले भी होवें तथा मन्दबुद्धिप्रधान स्त्रियें, प्रवृत्तिप्रधान वैश्य, वेदाधिकाररहित शूद्र हों, वे भी मुझ परब्रह्मका आश्रय कर, मेरी भक्ति और विवेकज्ञान द्वारा मुक्ति रूप परमगतिको पाते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

किं पुनर्भक्ताः पुण्ययोनयः शुद्धान्तरात्मानो निवृत्तिपरायणा ब्राह्मणाः प्रजापालनादिवृत्तिमन्तो राजर्षयश्च मुक्ता भवन्ति । अर्थात् जनकादिवत्सततं जीवन्मुक्ता भवन्ति । अतो हे अर्जुन ! विनाशिनमिममसुखं लोकं प्राप्य मां ब्रह्मात्मानं स्वात्माभेदेन भज ॥ ३३ ॥

फिर पुण्ययोनिवाले और निवृत्तिप्रधान ब्राह्मण भक्त तथा प्रजापालनादिद्वारा किञ्चित् प्रवृत्तिवाले राजर्षि क्षत्रिय मुक्त होते हैं । इसमें क्या कहना ? अर्थात् जनकादिवत् सतत जीवन्मुक्त होते हैं । इसलिये हे अर्जुन ! इस विनाशी और सुख रहित संसारको प्राप्त होकर मुझ परब्रह्मको तदाकारतासे भजो ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

T

हे अर्जुन ! धनपुत्रादीनां सर्वेषामाशां विहाय मयि समाहितचेता भव । मत्पूजापरायणो भव । मामीश्वरं च प्रणम । एवंरीत्या मामेकशरणं प्राप्तस्त्वम्, परब्रह्मदेवं परमात्मानमन्तर्यामिणं मां वासुदेवं प्राप्स्यसि ॥

तथा च श्रुतौ–

" यथा नद्यः स्यन्दमानाः समंतात्, समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! तू सर्व धनपुत्रादिकोंकी आशा त्यागकर मुझ परब्रह्ममेंही चित्त रखो और मेरी पूजामें सदा तत्पर रहो । और मुझे नमस्कार करो । इसप्रकार मुझ परब्रह्मकी शरणमें आया हुआ तू, मुझ अन्तर्यामीरूप परब्रह्मको ही प्राप्त होवेगा ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जिस तरह गंगादि नदियाँ अपने नाम रूपको छोड़कर समुद्रमें लीन होजाती हैं । इसीतरह विद्वान् तत्त्ववेत्ता पुरुष, नाम और रूपको त्यागकर परमात्मस्वरूपको प्राप्त होता है" ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अध्यायसमाप्ति–मंगलाचरणम् ।

यद्विद्या राजविद्या त्रिभुवनविसृतो यस्य भूतेः कणांशो,
यस्मिन्न्यस्तान्तरात्मा त्यजति जडरतिं दुःखदां भ्रान्तिमूलाम् ।
दुष्टाचारोऽपि यस्य प्रथितसुयशसो भक्तिलेशेन साधु-
स्तं भूमानं विशुद्धं विधिहरशरणं कृष्णमेवाश्रयामि ॥ १ ॥

सा०–यद्विद्या राजविद्या । त्रिभुवनविसृतः यस्य भूतेः कणांशः । यस्मिन् न्यस्त अन्तरात्मा । भ्रान्तिमूलाम् दुःखदाम् जडरतिम् त्यजाति ।

अर्थ–ब्रह्मविद्या राजविद्या और तीनों भुवनोंका विस्तार, जिस परमात्माकी विभूतिके कणका एक अंश है । जिस ब्रह्मके ज्ञानसे अधिकारीकी अन्तरात्मा भ्रममूलक दुःख-

यस्य प्रथितसुयशसः भक्तिलेशेन दुष्टाचारः अपि साधुः । विधिहरशरणम् तम् भूमानम् विशुद्धम् कृष्णम् एव आश्रयामि ॥ १ ॥

दायी देह इन्द्रियादि जड़ पदार्थोंमें प्रेम करना छोड़ देती है। जिस प्रसिद्धकीर्तिवाले भगवान्की भक्तिके लेशमात्रसे दुरात्मा भी सज्जन हो जाता है। मैं, ब्रह्मा और महेशकी रक्षा करनेवाले (उस) सर्वसे महान् शुद्ध स्वरूप श्रीकृष्ण भगवान्का ही आश्रय लेता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य–स्वामी–निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत–अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां राजविद्या-राजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

ॐ

श्रीनिवासाय नमः।

श्रीमद्भगवद्गीता।

अथ विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः।

अध्याय–मंगलाचरणम्।

पवित्रं श्रीभूमिं सकलगुणलक्ष्मीनिधिनिधिम्,
सवित्रन्तर्ध्येयं विमलमतिसेव्यं गतिगतिम्।
धराधीशाधीशं निखिलजगदीशं क्रतुपतिम्,
विधीशेशं श्रीशं भज जन मुकुन्दं श्रुतिपदम्॥ १॥

सा०-हे जन! पवित्रम्। श्रीभूमिम्। सकल-गुण–लक्ष्मी–निधि-निधिम्। सवितृ-अंत-र्ध्येयम्। विमलमतिसेव्यम्। गति-गतिम्। धरा-अधीश ईशम्। निखिलजगत् ईशम्। क्रतुपतिम्। विधि-ईश-ईशम्। श्री-ईशम् मुकुन्दं श्रुतिपदं भज॥ १॥

अर्थ-हे मनुष्य! (तू) पवित्र शोभाके स्थान, सम्पूर्ण गुणोंके शोभाके (लक्ष्मी) और सम्पूर्ण निधियोंके निधि, सूर्यके मध्यमें ध्यान करने योग्य, मन आदिकी गतिसे भी अधिक गतिवाले, राजाओंके राजा, सम्पूर्ण संसारके स्वामी, यज्ञोंके रक्षक, ब्रह्म और रूद्रके भी ईश्वर, मुकुन्द वेदस्वरूप, लक्ष्मी-पति श्रीकृष्ण भगवान्का भजन कर॥ १॥

श्रीभगवानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवानुवाच—हे विशालभुज पार्थ ! ज्ञेयध्येयात्मकेऽतिसूक्ष्मे सर्वात्मनि ब्रह्मणि, तव बुद्धिप्रवेशार्थं मदीयमुत्तमं वाक्यं भूयः शृणु । यदहं परब्रह्मात्मा कृष्णः तुभ्यं प्रीतिमतेऽर्जुनाय मोक्षकामनया ब्रवीमि । यतो हि ब्रह्मणोऽतिसूक्ष्मत्वात् ॥ १ ॥

भगवान् वासुदेव बोले-हे विशालबाहु अर्जुन ! ज्ञेय और ध्येयरूप सर्वात्मा वस्तुके अतिसूक्ष्म होनेसे उसमें बुद्धिके प्रवेशार्थ फिर भी मेरे उत्तम वाक्योंको श्रवण कर । जिनको कि मैं परब्रह्म, प्रीतिवाले उत्तमअधिकारी तेरे मोक्षसुखरूप हितसम्पादनकी इच्छासे कहता हूं । क्योंकि, ब्रह्मतत्त्व अतिसूक्ष्म है ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

मम ब्रह्मणः प्रभावं नेंद्रादयो देवा जानन्ति । न च भृग्वादयो महर्षयोऽपि । यतो हि शुद्धो ब्रह्मात्माहं तेषामिन्द्रादीनां भृग्वादीनां महर्षीणां च सर्वथाऽऽदिकारणं प्रधानमस्मि ॥

तथाच श्रुतौ—

"तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः"॥२॥

मुझ परब्रह्मके प्रभावको न इन्द्रादिक देवता और न भृग्वादि महर्षि जानते हैं । क्योंकि, म शुद्धब्रह्म उन देवताओंका तथा उन महर्षियोंका आदिकारण हूं ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

" उस शुद्ध, ब्रह्मसे ही बहु प्रकारके देवादि पैदा हुए हैं " ॥ २ ॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यो मानवात्मा, मां ब्रह्मात्मानमजं निमित्तोपादानकारणाभ्यां रहितमनादिमनन्तं लोकानां महेश्वरं वेत्ति । स पुरुषः सदसद्विवेकशून्यानां मनुष्याणां मध्ये ब्रह्मात्मवेत्ता भवति । अथ च एवंविदपि स पुरुषेषु मोहवर्जितोऽसंमूढः

जो, मुझको अजन्मा निमित्त और उपादान कारणसे रहित अनन्त अनादि और सर्वलोकोंका महेश्वर जानता है । वह सत् असत्के विवेकसे शून्य मूढ़ पुरुषोंमें उत्तम है । और सञ्चित और क्रियमाणादि सर्व पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

अथच, सञ्चितक्रियमाणैरेव पापैः प्रमुच्यते ॥

यथाच श्रुतौ—

" न तस्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः"
" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ॥ ३ ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा—

" इस ब्रह्मका न उत्पन्न करने वाला कोई है, और न कोई इस ब्रह्मका कारण है"। यह "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" ॥३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

नित्यानित्यनिश्चयबोधिनी बुद्धिः,परोक्षापरोक्षात्मकं ज्ञानम्, ज्ञातव्येषु विषयादिष्वसंमोहोऽमूढता,क्षमा, परबुद्धिप्रवेशाय यथाभूता वाक् सत्यम्, बाह्येन्द्रियाणां विषयेभ्यो निवर्तनं दमः, विषयवासनाया मनसो निरोधः—शमः, सुखं च दुःखं च जन्म विनाशो भयं च अभयमेव च ॥ ४ ॥

नित्य अनित्य पदार्थका निश्चय करनेवाली बुद्धि, परोक्षअपरोक्षरूप ज्ञान, जानने योग्य पदार्थोंमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्तिका होना असंमोह, क्षमा, दूसरेकी बुद्धिको पदार्थमें प्रवेश होनेके लिये यथार्थवाणी सत्य, बाह्येन्द्रियोंका विषयोंसे निरोधरूप दम, और मनका विषयवासनासे निरोधरूप शम, सुख दुःख जन्म नाश और भय तथा अभय ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अहिंसा मनोवाक्कायैः परपीडाकारिण्याः क्रियाया अभावः, समदर्शित्वं समता, प्रारब्धेन प्राप्ते वस्तुनि संतोषः तुष्टिः, तपो, दानं, कीर्तिरकीर्तिरेतेऽनुक्ता उक्ताः सर्वे, मुक्ति-साधनानि सात्त्विकभावास्तथा बन्धनहेतवो राजसास्तामसाश्च विकाराः सर्वेषां प्राणिनां कर्मानुसारेणैव मत्तः परमेश्वरात् (सकाशादेव) जायन्ते ॥ ५ ॥

अहिंसा अर्थात् शरीर वाणी और मनसे परपीड़ाहेतु क्रियाका अभाव, समदर्शीपन, प्रारब्धानुसार प्राप्तिमें सन्तोष,तप, दान, कीर्ति, अपकीर्ति, ऐसे नानाप्रकारवाले उक्त और अनुक्त, मुक्तिके साधनरूप सात्त्विक और बन्धनके हेतु राजस और तामस विकार ये सर्व, प्राणियोंके कर्मानुसार मुझ परमेश्वरसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

पूर्वे आद्याः भृग्वादयः भृगुः मरीचिरत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः वसिष्ठश्चेति सप्त महर्षयस्तथा चत्वारो मनवः इतीमे मद्भावमापन्ना मम वैष्णवेन भावेनोपेताः सर्वज्ञाः संप्रदायप्रवर्तकाः मम ब्रह्मणः संकल्पादेव मनसोऽजायन्त । येषामस्मिँल्लोके स्थावरा जंगमा इमाः प्रजा अजायन्त ॥ ६ ॥

पूर्व उत्पन्न हुए भृगु मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ सात महर्षि सर्वज्ञ और सम्प्रदायप्रवर्तक हैं। तथा चार मनु ये मुझ परमेश्वरके संकल्परूप मनसे उपजे । ये मेरे स्वरूप अर्थात् विभूतियां हैं। जिनकी इस लोकमें यह स्थावर जङ्गम प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

पुरुष एतां वक्ष्यमाणां मम विभूतिं योगैश्वर्यं सर्वज्ञत्वं योगजं योगं च यथार्थं वेत्ति । स तत्त्वज्ञानात्मकेन योगेन युक्तो भवतीति नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो, मेरी इस विभूतिको और योगको यथार्थरूपसे जानता है । वह निश्चित अर्थात् तत्त्वज्ञानरूप अचल योगसे युक्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अहमेव परं ब्रह्म (वासुदेवाख्यं) सर्वस्यास्य जगतः कारणमस्मि । अथच मत्त एव उत्पत्ति-स्थिति-नाश–क्रियोपभोग-लक्षणं विक्रियारूपं सर्वं पूर्वोक्तं जगत् प्रवर्तते । इत्थं ज्ञात्वाऽपरोक्षज्ञानवन्त आत्मानुरागिणो विद्वांसो मां सततं भजन्ते ॥ ८ ॥

म परब्रह्म वासुदेव भगवान् सर्व जगतका प्रभव कारण हूं । और मुझसे सर्व जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, नाश, विकारादि भाव प्रवृत्त होते हैं । ऐसा समझकर अपरोक्ष ज्ञानी आत्मानुरागी बुद्धिमान पुरुष, मुझ परब्रह्मको निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम्।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥

मयि ब्रह्मण्यासक्तचित्ता मयि ब्रह्मणि निहितचक्षुःश्रोत्रादीन्द्रियप्राणा मदर्पितजीवनाः, स्वसदृशमनुष्याणां समितौ सततं मामेव परस्परमन्योन्यं बोधयन्तो मम ज्ञानबलवीर्यैश्वर्यादिमन्तं भावं कथयन्तो, विजने देशे ब्रह्मज्ञानेन सन्तुष्यन्ति। मयि ब्रह्मानन्दे मदाकारवृत्त्या रमन्ते च ॥ ९ ॥

मुझ ब्रह्ममें ही चित्तवाले और मुझ परब्रह्ममें चक्षुरादि इन्द्रिय रूप प्राणवाले अथवा मुझमें अर्पित जीवन वाले, निरन्तर मुझ परब्रह्मको परस्पर बोध करते हुये तथा अपने समान मनुष्योंकी गोष्ठीमें मेरे ज्ञान, बल, वीर्य, ऐश्वर्यादि भावको परस्पर कथन करते हुए, एकान्तमें ब्रह्मज्ञानसे सन्तुष्ट होते हैं। और मेरे स्वरूप आनन्दमें रमण करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥

सततं श्रवणमननादिभावेन मयि युक्तचित्तानां प्रीत्या परया भक्त्या मां भजमानानां तेषां भक्तानामज्ञाननाशकं ज्ञाननिष्ठायोगं चित्तशुद्धिपूर्वकं गुरुशास्त्रसंयोगमार्गेण—अथवा स्वयं ददामि। यज्ज्ञानेन ते मदुपासका मां सच्चिदानन्दरूपिणं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

सदैव श्रवण मनन और कीर्तनादिद्वारा मुझ परब्रह्ममें संयुक्त चित्तवाले तथा भक्तिपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं, उस (अज्ञान और तिमिरनाशक प्रभाकरस्वरूप) ज्ञाननिष्ठाको बुद्धिशुद्धिपूर्वक स्वयं तथा गुरुशास्त्रके संयोगद्वारा देता हूं। जिस ज्ञानसे वे उपासक, मुझ सच्चिदानन्दरूप परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

तेषामेव ब्रह्मचर्यादिसाधनेन युक्तानां विरक्तान्तःकरणानां भक्तानामनुग्रहायैव

ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न विरक्त अन्तःकरणवाले उन भक्तपुरुषोंके ही अनुग्रहार्थ

तदात्मनि स्थितोऽहं परब्रह्मात्मा, प्रकाशमयेन ज्ञानदीपेन तेषामज्ञानजमावरणं तमो नाशयामि ॥ ११ ॥

आत्मभावमें स्थित हुआ मैं परब्रह्म, सर्वप्रकाशयुक्त ज्ञानरूपी दीपकसे, अज्ञानजन्य आवरणरूप तमको नाश करता हूं ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥

अर्जुनोऽवदत्, हे प्रभो ! त्वमप्रमेयश्चक्षुरादीन्द्रियाग्राह्यः परमात्मासि । परं तेजःस्वरूपोऽसि सर्वाधिष्ठानरूपं तेजोऽसि । कोटिजन्मार्जितपापानां विध्वंसकं पवित्रं परं ब्रह्मासि । तथैव त्वां सर्वशरीरात्मके पुरे वसन्तं शाश्वतं नित्यमनादिदेवमजन्मानं, व्यापिनमाहुः ॥ १२ ॥

आप, अप्रमेय परमात्मा सर्वका अधिष्ठानस्वरूप परम तेज शतकोटिकल्पके अर्जित पापोंको विध्वंस करनेवाले दिव्यपवित्र परब्रह्म हो । और सर्वमें प्रकाशरूप पुरुष, शाश्वत अर्थात् नित्य अलौकिक, आदिदेव अजन्मा और व्यापकरूप हो ॥ १२ ॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं भगवन्तं त्वां, देवर्षिर्नारदः, असितः, देवलः, व्यासोऽन्ये च सर्वे महर्षयो वसिष्ठादयो वदन्ति । तथैव भगवान् कृष्णस्त्वमेवेत्थमर्जुनाय मह्यं कथयासि ॥ १३ ॥

आपको ही परब्रह्म, देवर्षि नारद, असित, देवल, और व्यास वसिष्ठादि सर्व ऋषियोंने श्रुति-शास्त्रद्वारा कथन किया है । और वैसे ही आप भगवान् श्रीकृष्ण स्वयम् भी मुझसे कहते हो ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

हे केशव ! त्वं यन्मां वदसि । अहं तत्सर्वं सत्यमेव मन्ये । यतो हि तव भगवतः प्रभावं, पुत्राः पितुर्जन्म इव, देवर्षयो दानवाश्च न जानन्ति ॥ १४ ॥

हे केशव भगवन् ! आप मुझसे जो कहते हो यह सब मैं सत्य मानता हूं । क्योंकि (भगवन्) आपके प्रभावको, देव और दानव आदि नहीं जानते हैं । जिस तरह पुत्र पिताके जन्मको ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनाऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण, हे भूतोत्पादक, हे भूतान्तर्यामिन्, हे देवादिदेव, जगत्पते ! त्वम्, सर्वथा स्वात्मानं स्वात्मरूपेण वेत्सि ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम, भगवन् श्रीकृष्ण, हे भूतोंके उत्पादक और प्रेरक अन्तर्यामी, हे देवोंके देव, जगत्पते ! आप स्वयं ही अपने आत्मस्वरूपको जानते हो ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

याभिर्विभूतिभिरिमान् सर्वाँल्लोकान्व्याप्यासाद्य वर्तसे । ताः सर्वा दिव्या विभूतीरसमग्रं मह्यं वक्तुं शक्नोषि ॥१६॥

जिन विभूतियोंसे आप सब लोकोंमें व्याप्त होकर स्थित हो । वे आपकी अलौकिक विभूतियां हैं, इस कारण उन्हें समग्र रूपसे कथन करनेको आप योग्य हो ॥१६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिंतयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिंत्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

हे निरतिशयैश्वर्यादियोगसंपन्न, भगवन् कृष्ण ! त्वां सततं चिन्तयन्नहं केन प्रकारेण जानीयाम् । अथच केषु केषु पदार्थेषु त्वं चिन्तनीयोऽसि मयार्जुनेन । कस्मिन् वस्तुनि तव दर्शनं कुर्यामित्यर्थः ॥ १७ ॥

हे निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिरूपयोगवाले भगवन् श्रीकृष्ण ! मैं निरन्तर चिन्तवन करता हुआ आपको किस प्रकारसे जानूं ? हे भगवन् ! और कौन २ पदार्थोंमें, मुझसे आप चिन्तन करने योग्य हो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

सर्वैर्मोक्षस्वर्गादिसुखप्राप्तिकामनया प्रार्थ्यमानो यः स जनार्दन इति । हे जनार्दन! त्वम्, स्वात्मनोयोगं विभूतिं च पुनर्विस्तरेण प्रतिपादय । यतो हि तव मुखकमलाद्विनिःसृतं वचनामृतं पिबतो मम तृप्तिर्न भवति ॥ १८ ॥

सर्वजनोंसे मोक्ष और स्वर्गादि सुखकी प्राप्तिके अर्थ प्रार्थना किये जानेवाले हे जनार्दन ! आप अपने योग और विभूतिको पुनः विस्तारपूर्वक कथन करो । क्योंकि आपके अलौकिक वचनरूपी अमृतको श्रवणद्वारा पान करते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती है॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच ।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवानुवाच । हे पार्थ, कुरुकुलावतंस अर्जुन ! अहं तुभ्यं प्रसिद्धा दिव्या विभूतिरेव प्राधान्येन कथयामि । यतः कारणान्मम परब्रह्मणो विभूतिविस्तारस्यान्तो नास्ति । कथयितुमशक्यास्ता इत्यर्थः ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुकुलश्रेष्ठ, अर्जुन ! मैं अभी तुमसे प्रसिद्ध तथा दिव्य अपनी विभूतियोंको मुख्यतासे अर्थात् मुख्य मुख्य कहता हूं । क्योंकि मुझ परब्रह्मकी विभूतियोंके विस्तारका कोई पार नहीं है ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥

हे गुडाकेश मोहनिद्राजायिन्नर्जुन ! सर्वभूतानामन्तःकरणे, साक्षिरूपेण स्थित आत्माऽहमेवास्मि । अहमेव भूतानामुत्पत्तिकारणमस्मि । तथैव लयस्थित्योरपि कारणमहमेवास्मि ॥—

मोहरूपी निद्राको जय करनेवाले हे अर्जुन सर्व भूतोंके अन्तःकरणमें साक्षीभावसे स्थित आत्मा मैं हूं । और मैं ही सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण और स्थिति तथा लयका कारण हूं ॥—

T

तथाच श्रुतौ–

"अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" ॥ २० ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"शरीरके अन्तःकरणमें शुभ्र निर्मल ज्योतिर्मय पुरुष (आत्मा) विद्यमान है। जिसको रागद्वेषादि रहित विद्वान् संन्यासी देखते हैं" ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतास्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

द्वादशानामादित्यानां मध्येऽहं विष्णुनामादित्योऽस्मि। सर्वप्रकाशवतां ज्योतिषां मध्ये किरणवान्सूर्योऽहमस्मि। मरुत्सु मरीचिनामा वायुरस्मि। नक्षत्रेषु च शशी चन्द्रमा अहमस्मि ॥ २१ ॥

द्वादश आदित्योंमें विष्णुनामक आदित्य मैं हूं। सर्वप्रकाशोंमें किरणोंवाला सूर्य मैं हूं। मरुत गणोंमें मरीचि नामक वायु मैं हूं। और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा मैं हूं ॥२१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

वेदानां गीतिविशिष्टो वेदः साम अहमस्मि। रुद्रादीनां देवानामिन्द्रोऽहमस्मि। इन्द्रियाणामेकादशानां च मध्ये मनश्चाहमस्मि। भूतेषु च चैतन्याभिव्यक्तिकर्त्री, बुद्धिवृत्तिरूपा, चेतनाहमस्मि ॥ २२ ॥

वेदोंमें गायन विशिष्ट सामवेद मैं हूं। रुद्र आदित्य आदि देवताओंमें इन्द्र मैं हूं। और ग्यारह इन्द्रियोंमें मन मैं हूँ। और भूतोंमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति करनेवाली बुद्धिवृत्तिरूप चेतना मैं हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

एकादशानां रुद्राणां मध्ये शंकरोऽहं विद्धि। यक्षसां रक्षसाञ्चापि मध्ये धनपतिः

एकादश रुद्रोंमें शंकर मैं हूं। और यक्ष राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर मैं हूं। और

कुबेरोऽस्मि। अष्टानां वसूनां मध्ये पावको वसुरहमस्मि । पर्वतानां मध्ये मेरुनामा भूभृदहमस्मि ॥ २३ ॥

अष्टवसुओंमें पावकनामक वसु मैं हूं । और पर्वतोंमें मेरु पर्वत मैं हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

हे अर्जुन ! पुरोहितानां श्रेष्ठं बृहस्पतिं मामेव जानीहि । सेनानीनामहं स्कन्दोऽस्मि । जलाशयानां मध्ये सागरश्चास्मि ॥ २४ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! पुरोहितोंमें श्रेष्ठ बृहस्पति मुझको जान। और सेनापतियोंमें श्रेष्ठ स्वामि कार्त्तिकेय मैं हूं। जलाशयोंमें समुद्र मैं हूं ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

सर्वमहर्षीणामहं भृगुरस्मि । सर्वासां गिरामोंकारात्मकमेकाक्षरमहमस्मि सर्वयज्ञेषु हिंसाविरहितो जपयज्ञोऽहमेवास्मि । सर्वस्थावराणां मध्ये हिमालयोऽहम् ।

तथाच श्रुतौ—

“जपोनाम, विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमंत्राभ्यासः । तद्विविधं मानसिकं वाचिकं चेति । मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम् ॥ वाचिकं तु द्विविधम्। उच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम् । उपांशु सहस्रगुणम्” ॥ २५ ॥

महर्षियोंमें भृगु मैं हूं । सर्व गिराओंमें ओङ्काररूप एक अक्षर मैं हूं । सर्व यज्ञोंमें हिंसा रहित होनेसे जपरूपी यज्ञ मैं हूं । सर्व स्थावरोंमें हिमालय मैं हूं ॥

गुरुके द्वारा दिये गये वेदाविरोधी मंत्रके अभ्यासको ही जप कहते हैं। वह दोप्रकारका है, मानसिक और वाचिक। मनसे किये हुए ध्यानयुक्त जपको मानसिक कहते हैं। और वाचिक जप भी दो प्रकारका है । उच्चस्वरसे उच्चारण किया जानेवाला और उपांशु मुद्रासे किया जानेवाला । उपांशु जप सहस्रगुण देनेवाला है ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

वृक्षाणां मध्येऽहमश्वत्थोऽस्मि तेजःप्रधानत्वात्। देवर्षिषु च नारदोऽहम्। गंधर्वेषु चित्ररथोऽहमस्मि। सिद्धानां च कपिलोऽहमस्मि ॥ २६ ॥

तेज प्रधान होनेसे सर्व वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष मैं हूं। और देवर्षियोंमें नारद मैं हूं। सिद्धोंमें कपिल मुनि मैं हूं ॥ २६ ॥
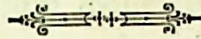
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेंद्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

सर्वाश्वानां मध्येऽमृतजं, हयमुच्चैःश्रवसं मामेवावगच्छ। गजेन्द्राणामपि मध्ये मामैरावतं गजमेव विद्धि। नराणां मध्ये नराधिपं रामजनकादिवत् प्रजापालनादिस्वधर्मवंतं वेदविद्यासम्पन्नं राजानं मामेव जानीहि ॥ २७ ॥

सब अश्वोंमें अमृतके मथन कालमें उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा-नामक अश्व मुझें जान, गजराजोंमें ऐरावत गज मुझे जान और मनुष्योंमें प्रजापालनादि धर्मवान् वेदविद्या सम्पन्न राजाओंमें जनकादि समान राजा मुझे जान ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

सर्वास्त्राणां मध्येऽहं वज्रमास्मि। गवां च मध्ये कामधेनुरस्मि। प्रजोत्पत्तिहेतुः कंदर्पः कामोऽहमस्मि। अफणिनां सर्पाणां मध्ये वासुकिरहमस्मि ॥ २८ ॥

सर्व अस्त्रोंमें वज्र मैं हूं। सर्व धेनुओंमें कामधेनु मैं हूं। और प्रजाकी उत्पत्तिमात्रका हेतु काम मैं हूं। फणारहित सर्पोंमें वासुकि नामक सर्पराज मैं हूं ॥ २८ ॥
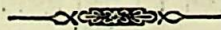
अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

फणवतां नागानां मध्येऽहं शेषोऽनन्तनामा सर्पोऽस्मि, जलचराणां च वरुणोऽस्मि

फणवाले नागोंमें शेषनाग मैं हूं। और जलचरोंमें वरुण मैं हूं। तथा पितरोंमें अर्य-

T

पितॄणां च मध्येऽर्यमा नाम पितृराजोऽहमस्मि । नियमिनां मध्येऽहं यमराजोऽस्मि ॥ २९ ॥

मानामक पितरराज मैं हूं । सब प्राणियोंके नियमन करनेवालोंमें यमराज मैं हूं ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेंद्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्येषु च प्रह्लादोऽस्मि । सङ्ख्यां गणयतां मध्ये कालश्चाहमास्मि । मृगेन्द्राणां पशूनां मध्ये सिंहोऽहमेवास्मि । पक्षिणां च विनतापुत्रो गरुडोऽहमस्मि ॥ ३० ॥

दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूं । और संख्या गिननेवालोंमें काल मैं हूं, तथा पशुओंमें सिंह मैं हूं । और सर्व पक्षियोंमें विनतापुत्र गरुड़ मैं हूं ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

वेगवतां पवित्राणां मध्ये वायुरस्मि, शस्त्रधारिणामहं परशुरामोऽस्मि । मत्स्यानांमध्ये मकरोऽहम् । नदीनां सार्धत्रिकोटितीर्थेषु च मध्ये गंगैवास्मि ॥ ३१ ॥

वेगवालोंमें वायु मैं हूं । शस्त्रधारियोंमें परशुराम मैं हूं । और मत्स्योंमें मकर मैं हूं । नदियोंमें तथा साढ़े तीन कोटि तीर्थोंमें जह्नुसुता गङ्गा मैं हूं ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! सर्वेषामचेतनानां कार्याणामुत्पत्तिस्थितिलयात्मको भावोऽहमस्मि । सर्वासामपि विद्यानां ब्रह्मविद्याऽध्यात्मविद्याऽहमस्मि । वादत्रयाणां " परमतखण्डन-स्वमतमण्डनात्मकजल्पवादो, वितण्डावादः परमतखण्डको,गुरुशिष्यप्रश्नोत्तरात्मकः संवादः, इत्येषां " वादानां मध्ये यथार्थनिर्णयी संवादोऽहमस्मि ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन ! अचेतनरूप कार्योंकी उत्पत्ति तथा स्थिति और लय मैं ही हूं । सर्व विद्याओंमें अध्यात्म विद्या—ब्रह्मविद्या मैं ही हूं । तीनों वादों अर्थात् स्वमत मण्डक जल्प वाद, केवल परमत खण्डक वितण्डावाद और गुरु शिष्यके प्रश्नोत्तररूप संवादमें यथार्थ अर्थका निर्णय करनेवाला संवाद मैं हूं ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षराणामकारोस्मि, समासेषु द्वन्द्वोऽस्मि । अक्षयी कालश्चाहमस्मि सर्वेषां फलदानां कर्मफलदोऽन्तर्यामी ईश्वरश्चाहमेवास्मि ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें अकार अक्षर मैं हूं । और समासोंमें द्वन्द्वसमास मैं हूं । क्षयरहित काल मैं हूं, सर्व फलप्रदाताओंमें कर्मफलका दाता अन्तर्यामी ईश्वर मैं हूं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥
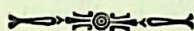
संहर्तॄणां मध्ये संहारकारको मृत्युरहमस्मि । भाविनां कल्याणानामुद्भव उत्कर्षोऽहमस्मि । सर्वासां स्त्रीणां च कीर्तिः श्रीर्वाक् स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा चाहमस्मि ॥ ३४ ॥

और संहार करनेवालोंमें सबका संहार करनेवाली मृत्यु मैं हूं तथा भाविकल्याणोंमें उत्कर्षरूप उद्भव मैं हूं । और सर्व स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाचा, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं ॥ ३४ ॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

गीतिविशिष्टानां साम्नां बृहत्सामाहमेवास्मि । मंत्ररूपाणां छन्दसां गायत्रीछन्दोऽहमस्मि । चैत्रादिषु मासेषु मार्गशीर्षोऽहमस्मि । शिशिरादीनामृतूनां वसन्तर्तुरहमस्मि ॥ ३५ ॥

गायन विशिष्ट सामोंमें बृहत्साम मैं हूं । मंत्ररूप छन्दोंमें गायत्रीछन्द मैं हूं, चैत्रादि मासोंमें मार्गशीर्ष मैं हूं, और शिशिर ग्रीष्मादि ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूं ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

छलयतां वंचकानां पुरुषाणां छलात्मकं द्यूतमहस्मि । तेजस्विनां च तेजोऽहमस्मि, विजयिनां जयो, व्यवसायिनां व्यवसायः, सात्त्विकानां च सत्त्वगुणोऽहमेवास्मि ॥ ३६ ॥

छली पुरुषोंका द्यूतरूप छल मैं हूं, तेजस्वियोंका तेज मैं हूं, विजयी पुरुषोंका जय मैं हूं, उद्योगियोंका व्यवसाय मैं हूं, और सात्त्विक पुरुषोंका सत्त्वगुण मैं हूं ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

वृष्णीनां वासुदेवः श्रीकृष्णोऽहमेवास्मि । पाण्डुपुत्राणामहमर्जुनोऽस्मि । मुनीनामहं व्यासोऽस्मि । तत्त्वज्ञानां कवीनां शुक्रोऽसुरगुरुरहमास्मि ॥ ३७ ॥

वृष्णियोंमें वसुदेव का पुत्र कृष्ण मैं हूं, पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूं और मुनियोंमें भी मननशील व्यास मुनि मैं हूं तथा तत्त्वज्ञ कवियोंमें शुक्राचार्य कवि मैं हूं ॥ ३८ ॥

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

दुष्टानां दण्डयितॄणां दण्डोऽहमस्मि । जयेच्छूनां न्यायात्मिका नीतिरहमस्मि । गुह्यानां वस्तूनां मौनमहमास्मि । ज्ञानवतामपरोक्षज्ञानमहमास्मि ॥

यथोक्तं वासिष्ठे—

"विचारोऽध्यात्मविद्यानां ज्ञानं तत्त्वविदो विदुः । ज्ञेयं तस्यान्तरे वास्ति माधुर्यं पयसो यथा" ॥ ३८ ॥

हे अर्जुन ! दुष्टोंको दण्ड देनेवाले राजादिकोंका दण्ड मैं हूं । जयकी इच्छावाले पुरुषोंकी न्यायरूप नीति मैं हूं । और गोप्यवस्तुओंका मौन मैं ही हूं और ज्ञानियोंका अपरोक्षज्ञान मैं ही हूं ॥

वासिष्ठमें कहा है—

"व्यास वशिष्ठादि तत्त्वज्ञानी पुरुष वेदान्त विद्याके विचारको ही ज्ञान कहते हैं क्योंकि, ज्ञेय जाननेके योग्य ब्रह्मरूप जो वस्तु है वह उसी ज्ञानके बीचमें विद्यमान है, जैसे दूधके बीचमें मधुरता विद्यमान है" ॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

एतेषां सर्वेषां कार्याणां यन्मायाशवलितं चेतनं कारणमस्ति, तदहमेवास्मि। न तत् चराचरात्मकं वस्तु विद्यते लोकत्रयेऽपि यन्मां विना स्यात् ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन! और मायाविशिष्ट चेतन, इन सब भूतोंका कारण है वह भी मैं ही हूं। मुझ परब्रह्मसे भिन्न कोई स्थावर-जङ्गमरूप प्राणियोंका समूह नहीं है॥ ३९॥

नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे शत्रुसन्तापिन् अर्जुन! मम ब्रह्मणो दिव्यानां विभूतीनामन्तो नास्ति। मायैकदेशे कल्पितत्वात्। अथच मया विभूतेरेष विस्तरो, संक्षेपेण ते कथितः ॥ ४०॥

हे शत्रु सन्तापकारि, अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियोंका एकदेशीय माया कल्पित होनेसे अन्त नहीं है। और यह मैंने विभूतिका विस्तार संक्षेपसे कहा है ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

यो यः प्राणी श्रीमान् सत्त्वशाली, विशिष्टैश्वर्यवान् बली भवेत्। तं तं प्राणिनं मम तेजोंऽशात्समुत्पन्नं विद्धि ॥ ४१ ॥

जो प्राणी, ऐश्वर्यवाला शोभा कान्ति व लक्ष्मीवाला है, या बलवाला है उस प्राणीको तू मुझ ईश्वरके तेज अंशसे उत्पन्न हुआ जान ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

हे अर्जुन! किमेतेन नानाविभूतियोगज्ञानेन, तवोत्तमाधिकारिणः प्रयोजनं भवति। यतोहि समष्टिव्यष्ट्यात्मकं जगदिदमहमेव स्वयं प्रकाशमानो ब्रह्मात्मा निरवयवी, मायामयेन चैकांशेन गृहीत्वा धारयामि ॥

अथवा हे अर्जुन! इस मायाकल्पित नाना-विभूतिरूप योगके जाननेसे तुझ उत्तम अधिकारी को क्या प्रयोजन? इस सम्पूर्ण समष्टि-व्यष्टिरूप जगतको मैं स्वयं-प्रकाशरूप शुद्ध ब्रह्म निरयव हुआ भी अपनी वैष्णवी मायाअंशसे धारण करके स्थित हूं ॥

T

यथाच श्रुतौ-

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद-स्यामृतं दिवि" ॥ ४२ ॥

श्रुतिमें कहा है-

"इस ब्रह्मके पादरूप मायाके अंशमें सम्पूर्ण विश्व है। और त्रिपाद अमृतस्वरूप है। अर्थात् संसारकी उत्पत्ति, पालन, प्रलयसे रहित है" ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

॥ अध्यायसमाप्ति-मंगलाचरणम् ॥

यस्यैश्वर्यादिभावं मुनिदिविजगणा नैव जानन्ति सर्वे,
यस्येक्षामात्रसिद्धं चरमचरमिदं सृज्यजालं सहेशैः ।
यस्यान्तो नास्ति भूतेरतिगहनगतेरंशतो येन सर्वं,
विश्वं व्याप्तं तमीशं सकलसुरपतिं कृष्णमाद्यं नतोऽस्मि॥१॥

सा०-सर्वे मुनिदिविजगणाः यस्य ऐश्वर्यादिभावमेव न जानन्ति। ईशैः सह सृज्य जालम्, इदम् चरम् अचरम्, ईक्षामात्रसिद्धम्। अतिगहनगतेः यस्य भूतेः अन्तः न अस्ति। येन अंशतः सर्वं विश्वं व्याप्तम्। तम् ईशम्, कृष्णम् नतः, अस्मि ॥ १ ॥

भा०-सब मुनिगण और देवगण जिस परमात्माके ऐश्वर्यादिभावको ही नहीं जानते हैं, देवताओंके साथ उत्पन्न हुआ, प्रपञ्चात्मक जालरूप यह चराचर जगत् मात्र, जिसकी इच्छासे सिद्ध है। अत्यन्त गूढ़ गतिवाले जिस भगवानकी विभूतिका अन्त नहीं है। जिसने एक अंशमें सम्पूर्ण जगतको व्याप्त कर रखा है, मैं उस सम्पूर्ण देवोंके पति आदि ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान्को नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य-स्वामी-निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत-अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १० ॥

ॐ

विश्वरूपाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

सदा लक्ष्म्यावासे सकलमुनिवन्द्ये सुखनिधौ,
महाभाग्यैर्ध्येये चिदणुमकरन्दे सुमतिदे ।
विधीशाद्यास्वाद्ये कुशयवसुचिह्ने रतिपदे,
मनोभृंगो मे श्रीहरिपदसरोजे प्रविशतु ॥ १ ॥

सा०--मे मनोभृङ्गः । लक्ष्मी आवासे, सकल-मुनि-वन्द्ये, सुखनिधौ, महाभाग्यैः, ध्येये सुमतिदे, चिद्-अणुमकरन्दे, विधि-ईश-आदि-आस्वद्ये, अङ्कुश-यव-सु-चिह्ने, रति-पदे, श्रीहरि-पद-सरोजे, सदा प्रविशतु ॥ १ ॥

मेरा मनरूपी भौंरा, लक्ष्मीके स्थान सर्व मुनियोंसे नमस्कार करने योग्य, सुखके समुद्र, बडे भाग्यवानपुरुषोंसे ध्यान करनेके योग्य, अच्छी बुद्धि देनेवाले, ज्ञानरूपी अणुमात्र पुष्परसवाले, ब्रह्मा महेशादि देवोंसे आस्वादन करने योग्य, अंकुश और यव (जौ, जवा) के अच्छे चिह्नवाले, आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण भगवानके चरणकमलोंमें सदा प्रवेश करे ॥ १ ॥
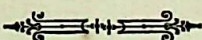
अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

T

अर्जुन उवाच । हे भगवन् ! भवता यन्ममानुग्रहाय गोप्यमध्यात्मविषयकं वचनमुक्तम् । तेन वचनेन, मदीय एष मोहो व्यपगतः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला-हे-भगवन् ! मुझपर अनुग्रहके अर्थ, आपने जो अत्यन्त गोपनीय अध्यात्म नामवाला अर्थात् आत्माको विषय करनेवाला वचन कथन किया, उससे यह मेरा मोह नष्ट होगया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हे कमलपत्राक्ष भगवन् कृष्ण ! मया, भूतानामुत्पत्तिलयौ भवतो ब्रह्मणः सकाशादेव श्रुतौ । तथैवोपाधिरहितमव्ययं स्वरूपमाहात्म्यञ्चापि श्रुतमस्ति ॥ २ ॥

हे कमलपत्रके समान सुन्दर नेत्रवाले भगवन्, श्रीकृष्ण ! भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय आप परब्रह्मसे ही मैंने विस्तारपूर्वक सुना । और निरुपाधिक, अव्यय, अविनाशी स्वरूप माहात्म्य भी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! यत्त्वया आत्मा, शुद्धश्चेतनात्मकः प्रतिपादितस्तत्तथैवास्ति । हे पुरुषश्रेष्ठ, हे वासुदेव ! अहं तव शुद्धस्य ब्रह्मणो मायासंयुक्तमीश्वरीयं विश्वरूपं ज्ञान—ऐश्वर्य—बल—शक्ति—वीर्य—तेजोमयं द्रष्टुमभिलषामि ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! जिसप्रकार शुद्ध ब्रह्मरूप आत्माको आपने कथन किया, यह ऐसा ही है । हे पुरुषोंमें उत्तम पुरुष, हे श्रीकृष्ण ! शुद्ध ब्रह्मरूप आपके मायाविशिष्ट ईश्वरीय ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेजसे युक्त विश्वरूपको देखनेकी मैं इच्छा करता हूं॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! यदि त्वं तत्स्वरूपं मयार्जुनेन त्वत्कृपया द्रष्टुं शक्यमिति मन्यसे, तर्हि हे योगेश्वर ! मामविनाशिनमात्मानं विश्वरूपं दर्शय ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! वह आपका रूप मुझसे, आपकी कृपासे देखनेके योग्य है, इसप्रकार जब आप मुझे दर्शनके योग्य मानते हो, तब हे योगियोंके ईश्वर ! मुझे आप अविनाशी अपने विश्वरूपको दिखाओ ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

हे पार्थ ! त्वम्, मम विचित्रवर्णानि नैकाकृतीनि दिव्यानि शतानि सहस्राणि च शरीराणि रूपाणि पश्य निरीक्षस्व ॥

तथाच श्रुतौ—

" सहस्रशीर्षं, देवं, सहस्राक्षं, विश्वेशं, शुवं, विश्वतः परम्, नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् । विश्वमेवेदम् पुरुषाद्विश्वम्, एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥ ५ ॥

श्रीवासुदेव भगवान् बोले हे पृथापुत्र, अर्जुन ! विचित्र रङ्ग और आकृतिवाले अनेक प्रकारके, और अलौकिक, सैकड़ों और हजारों मेरे आकारोंको तू देख ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

सहस्र शिरोधारी, सहस्र अक्षिवाले, विश्वेश, विश्वसे परे नित्य विश्वरूप नारायण हरि जो दिव्य प्रकाशमान है । सर्वभूतान्तरात्मा वशी एक ब्रह्म अपने एकही रूपको अनेक करता है ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

हे भरतकुलावतंसार्जुन ! तथाचैकादश रुद्रान्, द्वादशादित्यान्, अष्टौ वसून्, द्वावश्विनौ, मरुतश्चैकोनपञ्चाशत्, तथा पूर्वमदृष्टानि बहूनि रूपाणि, विस्मयकराणि पश्य ॥ ६ ॥

हे भरतकुलावतंस, अर्जुन ! द्वादशसूर्योंको, एकादश रूद्रोंको, एक न्यून पचास पवनोंको तू देख, तथा पूर्वमें न देखे हुए बहुतसे अद्भुत रूपोंको भी तू देख ॥६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

हे गुडाकेश, निद्राविजयिन् पार्थ ! ब्रह्मणोऽस्मिन् दृश्यमाने देह एव स्थितं सजंगमस्थावरं जगत् पश्याधुना । अथ च यच्चोक्तमनुमक्तपि तत्सर्वं द्रष्टुमिच्छासि । तदपि त्वं पश्य ॥ ७ ॥

हे मोहरूपी निद्राको जीतनेवाले अर्जुन ! मुझ परब्रह्मके इस देहमें स्थित स्थावर जङ्गम सहित संपूर्ण जगतको, आज तू देख । और जिस अन्य अनुक्त वस्तुको देखनेकी इच्छा करता हो, वह भी देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

किन्तु त्वमनेन चर्मचक्षुषा, दिव्यरूपिणं विश्वधरं मां, द्रष्टुमवलोकायितुं न शक्नोषि । अतस्तेऽहं, दिव्यामलौकिकीं दृष्टिं प्रयच्छामि । यया दृष्टया ममैश्वर्यं योगं द्रष्टुमर्हासि ॥ ८ ॥

परन्तु इन अपने चर्मचक्षुओंसे, विश्वरूपधारी मुझ परब्रह्मको तू कदाचित् भी देखनेको समर्थ नहीं । इस कारण तुझे योगजन्य अपनी अलौकिक दृष्टि देता हूं । जिससे मेरे ईश्वरीय सामर्थ्यको तू देख ॥ ८ ॥
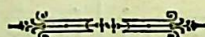
संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

सञ्जयोऽवादीत् । हे धृतराष्ट्र ! महायोगेश्वरो भगवान् कृष्ण एवमभिधाय "कृष्ण एव परमं ब्रह्म" इति दृढनिश्चयवते पार्थाय स्वीयं सर्वोत्कृष्टं विश्वरूपं दार्शितवान् ॥ ९ ॥

सञ्जय बोला-हे धृतराष्ट्र राजन् ! महान् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्ने इस प्रकार कहकर तदनन्तर पृथाके पुत्र अर्जुनको सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय भावसम्पन्न विश्वरूप दिखाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

अनेकमुखनयनम्,अनेकाद्भुतदर्शनम्, अनेकदिव्याभरणयुक्तम्, दिव्यैरनेकैरुद्यतशस्त्रायुधैर्युक्तं च ॥ १० ॥

अनेकमुख और नेत्रवाले, अनेक अद्भुत दर्शनवाले, अनेक अलौकिक दिव्यआभूषणवाले, दिव्य अनेक शस्त्रोंवाले ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्यगन्धेनानुलिप्तं,दिव्यानि माल्याम्बराणि धारयत् सर्वानेकाद्भुततायुक्तं देवं, प्रकाशमयमपरिच्छिन्नम् अपरिमितं, सर्वतोमुखं सर्वव्यापि विश्वरूपं दर्शितवान् ॥ ११ ॥

दिव्यमाला और वस्त्रको धारण करनेवाले सर्वाश्चर्यमय प्रकाशरूप अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न सर्व तरफ मुखवाले विश्वरूपको दिखाया ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

आकाशे युगपदेवैकस्मिन् काले सूर्यस्य सहस्रस्य अनंतस्य प्रभा यद्युत्तिष्ठेत। तर्हि सा भाः कान्तिः प्रभा, तस्य महात्मनः कृष्णस्य भासः कान्तेः सदृशी भवेत् ॥ १२ ॥

आकाशमें एक ही समय जब अनन्त सूर्योंकी प्रभा उठी होवे, तब कहीं वह प्रभा उस विश्वरूप महात्माकी प्रभाके सदृश होवे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

तदा काले पाण्डुपुत्रोऽर्जुनो देवानामपि देवस्य कृष्णस्य दृश्यमाने शरीरे एकावयवस्थितमनेकधा विभक्तं पूर्णं जगदपश्यत् ॥ १३ ॥

तब पाण्डु पुत्र अर्जुनने, देवोंके देव भगवान् श्रीकृष्णके उस शरीरमें एक अवयवमें स्थित अनेक प्रकारके विभागोंको प्राप्त हुए सम्पूर्ण जगत्को देखा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

दर्शनानन्तरं, परमविस्मयेन युक्तो रोमाञ्चितः पुलकितगात्रो धनञ्जयः सः कृष्णस्य तदीयं विश्वरूपं दृष्ट्वा तं देवं नतेन शिरसाभिवाद्य अंजलिम् बध्वाऽभाषत ॥ १४ ॥

तदनन्तर आश्चर्यके आवेशसे युक्त रोमाञ्च शरीरवाला वह अर्जुन, श्रीकृष्णदेवके उस विश्वरूपको देख, विश्वरूपधारी देव कृष्णको नतमस्तकसे प्रणाम करके हाथ जोडकर बोला ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन उवाच । हे देव ! तवैतस्मिन्दृश्यमाने विश्वदेहेऽहं सर्वान्दिक्पालादीन् देवान् स्थावर-जंगम-प्राणिजातं कमलासनवर्तिनं ब्रह्माणं, शिवं, सर्वर्षीन् वसिष्ठादीन् दिव्यान् सर्पांश्च समीक्षे ॥ १५ ॥

अर्जुन बोला—हे देव ! आपके इस विश्वरूप शरीरमें मैं, सर्वदिक्पालादिदेवता तथा स्थावर-जङ्गम-रूप प्राणियोंका समूह, कमलासनपरिस्थित ब्रह्मा, शिव और सर्व वसिष्ठादिक ऋषि तथा अलौकिक सर्पोंको देखता हूं ॥ १५ ॥

अनेक-बाहूदर-वक्त्र-नेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम् ।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर विश्वात्मन् ! सहस्रभुजोदरनेत्रवन्तं सहस्ररूपिणमनन्तं त्वां सर्वत्र पश्यामि, किन्तु तवादिमन्तं मध्यं च न वेद्मि ॥ १६ ॥

हे सर्वविश्वके ईश्वर, हे विश्वरूप अनेक भुजा,उदर, मुख और नेत्रवाले । सर्वत्र अनन्तरूप आपको देखता हूं, किन्तु आपके मध्य और आदि अन्तको नहीं देखता हूं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

T

किरीटिनं मुकुटधारिणं गदावन्तं चक्रधारिणं तेजोराशियुक्तं सर्वतः प्रभावन्तं दुर्दर्शं प्रदीप्तं सूर्याग्निकान्तिमप्रमेयं प्रत्यक्षादिप्रमाणाग्राह्यं त्वां समन्तात् पश्यामि तव कृपया ॥ १७ ॥

किरीट मुकुटवाले, गदावाले, चक्रवाले, तेजके पुञ्ज, सर्वओरसे प्रभावाले, सर्वतेजोंका समूहरूप होनेसे दुःखसे देखने योग्य,प्रदीप्त अग्नि और सूर्यकी कान्तिवाले, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अविषय ऐसे आपको, मैं आपकी कृपासे सर्व ओरसे देखता हूं ॥ १७ ॥
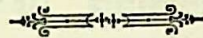
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

हे देव ! त्वं, अव्यक्तोंकारविलक्षणत्वात्सर्वाधिष्ठानत्वाच्च परमक्षरं विनाशभावशून्यं मुमुक्षुभिः वेदितव्यं ज्ञेयरूपं ब्रह्म असि । अथ विश्वस्यास्याधिष्ठानं चासि । त्वं चासि नित्यः । अविनाशिधर्मस्य रक्षकोऽसि, त्वं चानादिः पुरुषोऽसीति मे मतमस्ति ॥

तथा च श्रुतौ–

"आत्मा स विज्ञेयः एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषामसंभेदाय ॥ १८ ॥

आप, अव्यक्तमाया और ओंकारसे विलक्षण सर्वके अधिष्ठान निर्गुण ब्रह्मरूप होनेसे परम अविनाशी हो, और मुमुक्षुओंके द्वारा जाननेके योग्य हो, आप इस विश्वके अधिष्ठान हो इससे परम अर्थात् श्रेष्ठ हो, आप नित्य हो और सनातन धर्मके रक्षक हो, आप अनादि पुरुष हो । ऐसा मेरा मत निश्चय है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है–

"यही आत्मा, ज्ञानका विषय है । यही सर्वभूतोंका अधिपति और पालक तथा भूतोंकी मिश्रणताको रोकनेके लिये सेतु (मर्यादा) है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥ १९ ॥

आदिमध्यान्तरहितमनन्तपराक्रमवन्तमनन्तभुजं चन्द्रसूर्यनयनम्, प्रदीप्ताऽग्निमुखं

आदि मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त पराक्रमवाले, अनन्त भुजावाले, चन्द्रसूर्य

स्वतेजसा विश्वमिदं तापयन्तं त्वामहं पश्यामि ॥ १९ ॥

दो नेत्रवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस विश्वको तपानेवाले आपको मैं देखता हूं ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महारूपिन् हे श्रीकृष्ण ! स्वर्गपृथ्व्योर्यदन्तरमस्ति याश्च सर्वा दिशः सन्ति, तत्सर्वं त्वयैकेन कृष्णेनैव व्याप्तमस्ति । त्वदीयमिदमद्भुतमुग्रं रूपमवलोक्य,लोकत्रयं प्रव्यथितं भवति ॥ २० ॥

हे महानविश्वस्वरूपधारी भगवन् वासुदेव ! आपसे ही स्वर्ग और पृथ्वीके मध्यमें यह आकाश और दिशायें व्याप्त हैं। आपके इस अद्भुत उग्ररूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हुए हैं ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः २१

अमी पुरो दृश्यमाना देवास्त्वामेव प्राविशन्ति । केचिच्च भयान्विता बद्धाञ्जलयस्त्वां वेदमंत्रैः स्तुवान्ति । महर्षयः सिद्धसंघाश्च स्वस्तिवाचनपूर्वकं नैकाभिः स्तुतिभिस्त्वां नुवन्ति ॥ २१ ॥

ये देवताओंके समूहके समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं । कई एक भययुक्त बद्धाञ्जलि हुए वेदमंत्रोंसे आपकी स्तुति करते हैं । महर्षियों और सिद्धोंके समूहके समूह स्वास्ति अर्थात् हमारा कल्याण हो, इसप्रकार कहकर अनेकानेक स्तुतियोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

इमे चैकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, अष्टौ वसवः, द्वादश साध्याः, दश विश्वेदेवाः द्वौ चाश्विनौ, एकोनपंचाशत् वायवः,

ये ग्यारह रुद्र और बारह सूर्य,अष्ट वसु, और बारह साध्य, दश विश्वेदेवा, दोनों अश्विनीकुमार और ऊनपंचाशत् (उननचास)

उष्णपयःपायिनः पितरो गन्धर्वा यक्षा असुराः सिद्धसंघाश्च, त्वां पश्यन्ति, विस्मयमाप्नुवन्ति च ॥ २२ ॥

वायु और उष्णपय पाक (गरमजलके पीनेवाले) आदिके पीनेवाले पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समूह ये सबही आपको देखते हैं और विस्मित होते हैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् २३॥

हे महाबाहो, वासुदेव, भगवन् ! ते महदलौकिकमनेकमुखनयनमनेकभुजोरुपादमनेकोदरमनेकदंष्ट्राभीषणं रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः अहं च प्रव्यथितोऽस्मि ॥२३॥

हे महाभुजावाले, वासुदेव, भगवन् ! बड़े बडे अलौकिक बहुत मुख और नेत्रवाले, अनेक भुजा और ऊरू तथा पादवाले, अनेक उदरवाले, और अनेक डाढोंसे विकराल आपके स्वरूपको देखकर सर्व लोक तथा मैं अर्जुन भयभीत हो रहा हूँ ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो२४

हे विश्वव्यापिन्, हे महात्मन्, हे विष्णो ! नभःस्पृशं, प्रदीप्तमनेकवर्णयुक्तं, विस्तृतमुखं, ज्वलितविशालनयनं, त्वदीयं, विश्वात्मकं, विश्वरूपं निरीक्ष्य मम चेतो भृशं प्रपीड्यते। अतो हेतोरहं देहेन्द्रियाणां स्थैर्यं चित्तस्य शमत्वं नाप्नोमि ॥ २४ ॥

हे विष्णु व्यापक परमात्मा ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान अनेक रङ्गवाले, खुले मुखवाले, प्रज्वलित और विशाल नेत्रवाले, आपके इस भयंकर विश्वरूपको, देखकर ही मेरा अन्तःकरण अत्यन्त पीड़ित होता है, इसकारण मैं,देह इन्द्रियके स्थिरतारूप धैर्यको और चित्तके स्थिरतारूप शमको प्राप्त होता नहीं हूं ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दंष्ट्राभिर्भीषणं प्रलयाग्निसदृशं त्वन्मुखमवलोक्य अहं दिशो न वेद्मि । न च सुखं लभे, हे देवेश, जगदाधार ! प्रसीद, सौम्यं रूपं दर्शय, सौम्यरूपो भवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

अनेक दाढ़ोंसे विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान आपके मुखोंको देखकर मैं, दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ, हे देवेश जगदाधार ! अब शान्तिरूपवाले होकर मुझपर प्रसन्न होओ ॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

इमे धृतराष्ट्रपुत्रा दुर्योधनादयः सर्वे राजभिःसह द्रुतं भवतो विश्वरूपमाविशंति । भीष्मः द्रोणाचार्यः अयं सूतपुत्रः कर्णश्च, ममैव मुख्यैर्योधृभिः सह त्वदीयं विश्वरूपं प्रविशन्ति । हे भगवन् ! त्वदीये दंष्ट्राभयानके विभीषणे मुखे, कतिचनयोद्धारश्चूर्णितशिरसो दन्तसन्धिषु सँलग्ना दृश्यन्ते ॥ २६ ॥ २७ ॥

और ये धृतराष्ट्रके दुर्योधनादिकपुत्र, सर्वराजाओंके समूह सहित ही अत्यन्त शीघ्रतावाले होकर, आपके विश्वरूपमें प्रवेश करते हैं । भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा यह सूतपुत्र कर्ण हमारे भी मुख्य योद्धाओं सहित, आपके विश्वरूपमें प्रवेश करते हैं । हे भगवन् ! दंष्ट्राओंसे कराल तथा अतिं भयानक आपके मुखोंमें कई एक योद्धा चूर्णित मस्तकोंसे दाँतोंकी सन्धिरूप मध्यमें लगे हुए देखनेमें आते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति२८॥

यथा गङ्गादीनां नदीनां जलानि समुद्रं प्रति वेगेन धावन्ति। तथैवास्य लोकस्य महान्तो वीराः समन्तात् प्रज्वलितानि तव मुखान्येव प्रविशन्ति॥ २८॥

जिस प्रकार श्रीगङ्गाआदि नदियोंके अनेक जलप्रवाह समुद्रके अभिमुख ही वेगसे प्रवाहित होते हैं, उसीप्रकार ये मनुष्यलोकके बडे बडे अहङ्कारी वीर आपके सर्व ओरसे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश करते हैं॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥२९॥

यथा क्षुद्राः प्राणिनः पतङ्गादयोऽतिवेगिनो भूत्वा स्वात्मनाशायेद्धमग्निं यान्ति प्रविशन्ति। तथैवेमे मानवा लोकवीरा अतिशयवेगाः स्वविनाशाय त्वदीयानि वक्त्राणि विशन्ति॥ २९॥

जिस प्रकार पतङ्ग अतिशय वेगवाले हुये नाशके अर्थ प्रज्वलित अग्नि (दीपशिखायें) में प्रवेश करते हैं, वैसेही ये मनुष्यलोकके वीर भी अतिशय वेगवाले हुये, अपने नाशके अर्थ आपके मुखोंमें प्रवेश करते हैं॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥३०॥

हे सर्वव्यापिन्, भगवन्, विष्णो! त्वं कृत्स्नाँल्लोकान् भक्षयद्भिः प्रदीप्तैर्मुखैरास्वादयसि। तथाच कृत्स्नं लोकं स्वतेजोभिर्व्याप्य तव प्रदीप्तयस्तापयन्ति ३०॥

हे सर्वव्यापक, विष्णु भगवन्! आप सम्पूर्ण लोकोंको ग्रास करते हुये, प्रदीप्त मुखों द्वारा सर्व ओरसे आस्वादन करते हो। और सम्पूर्ण जगतको तेजोंसे पूर्णकरके आपकी उग्र दीप्तियां सन्तापको उत्पन्न करती हैं॥ ३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥३१॥

भीष्मवपुर्भवान् कोऽस्ति? मे कथय। हे देवानां श्रेष्ठ! तुभ्यं मे प्रणामो भवतु,

भयङ्कर रूपवाले आप कौन हो मुझसे कथन करो। हे प्रकाशरूप देवताओंमें श्रेष्ठ!

T

त्वं मयि प्रसन्नो भव । हे देव, सर्वकारणकं त्वां ज्ञातुमिच्छाम्यहम्, यतो हि तव चेष्टां न वेद्मि ॥ ३१ ॥

आपको मेरा नमस्कार हो । प्रसन्न होओ, सर्वके कारण रूप आपको मैं, विशेषतया जाननेकी इच्छा करता हूँ क्योंकि, आपकी चेष्टाको मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ३२॥

श्रीभगवानुवाच । अहं लोकस्य क्षयकारी प्रचण्डकालोऽस्मि, अथ चैनं लोकं नाशयितुमत्र प्रवृत्तोऽस्मि ये उभयोः पक्षयोर्योद्धारोऽवतिष्ठन्ते, ते सर्वे तव युद्धव्यापाराद्दतेऽपि हता भविष्यान्ति॥ ३२ ॥

श्रीवासुदेव भगवान बोले हे अर्जुन ! मैं, लोकोंके क्षयका कर्त्ता प्रचण्ड काल हूँ । इस समय लोकोंका संहार करनेको प्रवृत्त हुआ हूँ । दोनों पक्षोंकी सेनामें जो योद्धा स्थित हैं वे सब तुम्हारे युद्ध व्यापारके विना भी विद्यमान नहीं रहेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अतस्त्वं, युद्धार्थमुत्तिष्ठ । शत्रून्विजित्य यशो लभस्व । समृद्धिमद्राज्यं चानुभव । हे वीरार्जुन वामहस्तशरक्षेपिन् ! एते योद्धारो युद्धात्प्रागेव मया हताः । त्वं तु तेषां हतौ निमित्तं भव ॥ ३३ ॥

इस कारण तू, स्वधर्मरूप युद्धार्थ उठ । यशको प्राप्त कर, शत्रुओंको जीतकर सम्यक् समृद्धि वाले राज्यको भोग । हे वामहस्तसे भी शरों (बाणों) को चलानेवाले वीर अर्जुन ! ये योद्धा तेरे युद्ध करनेके पूर्वही कालरूपधारी मैंने ही मारडाले हैं तू, इनके मारनेमें निमित्तमात्र हो जाओ ॥ ३३ ॥
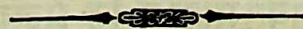
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

T

मया हतान् द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यान्योधवीरान् जहि त्वम्। मा व्यथामधिगच्छ। त्वं युद्धचस्व, रणे शत्रुं नूनं जेतासि। नूनं शत्रुविजयी भविष्यसीत्यर्थः॥ ३४॥

द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह तथा सिन्धुराज जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य भी योद्धाओंमें श्रेष्ठ, वीर मुझ कालरूप परमेश्वरसे हनन किये गये हैं, उनको तू हनन कर। मत पीडाको प्राप्त हो, युद्ध कर और रणमें शत्रुओंको जीतनेवाला हो॥ ३४॥

संजय उवाच।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥३५॥

सञ्जय उवाच। हे धृतराष्ट्र! भगवतः कृष्णस्येदं वचनमाकर्ण्य बद्धाञ्जलिः कम्पमानोऽर्जुनो नमस्कृत्य वासुदेवं गद्गदया वाचा पुनरवोचत्॥ ३५॥

सञ्जय बोला हे धृतराष्ट्र! श्रीकृष्ण भगवान्के इस उक्त प्रकारके वचनोंको सुनकर बद्धाञ्जलि, कांपता हुआ और अत्यन्त भयभीत किरीटी—मुकुटधारी अर्जुन, भगवान कृष्णको नमस्कार करके तथा अत्यन्त नम्र होकर, गद्गद वाणीसे फिर भी बोला॥ ३५॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ३६॥

अर्जुनोऽवदत्—हे हृषीकेश, वासुदेव! तव कीर्तिकथनेनेदं जगत् प्रहृष्यति रागं च विदधाति। राक्षसा भयमाप्नुवन्ति। सिद्धसंघास्त्वां नमस्कुर्वन्ति। युक्तमेतत॥

अर्जुन बोला—हे इन्द्रियोंके प्रेरक भगवन्, श्रीकृष्ण! आपकी परमोत्तम कीर्तिके कीर्त्तन करनेसे सब संसार अत्यन्त हर्षित होता है। और अनुरागवान् होता है। निर्दयी मांसभक्षी राक्षस भयभीत हुए, दशों दिशाओंमें भागे जाते हैं और सर्व सिद्धोंके समूह नमस्कार करते हैं, यह बात युक्त ही है॥ ३६॥

T

तथाच श्रुतौ—

" भयादस्याग्निस्तपाति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः " ॥ ३६ ॥

(स्थानेति-मंत्रोऽयं भूतबाधानिवारणे प्रयोक्तव्यः॥ सपादैकलक्षं पुरश्चरणमस्य)।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

" इस परब्रह्मके भयसे ही अग्नि दग्ध करती है । सूर्य प्रकाश करता है । और इन्द्र वृष्टि करता है, वायु चलती है तथा मृत्यु प्राणोंको हरण करने दौडती है " ॥ ३६ ॥

(स्थाने हृषीकेश यह मंत्र भूतबाधाके दूर करनेमें पढ़ना चाहिये । इसका पुरश्चरण सवालक्षका होता है) ।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन्वासुदेव, जगदाधार ! ब्रह्मण आदिकर्त्रे जनकाय महते तुभ्यं कथं न नमेरन् सर्वे जनाः । हे भगवन् हे देवेश हे अनन्त प्रभो ! भवान् कार्यात्मकं सत्, कारणरूपं चासत् विद्यते । यच्चाविनाशि परं ब्रह्म तदपि त्वमसि ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् हे अनन्त, हे देवताओंके भी ईश हे जगतके अधिष्ठान ! ब्रह्मादिकोंके गुरुरूप तथा जनकरूप आपको सब क्यों नहीं नमस्कार करेंगे । किन्तु करेंगे ही । हे भगवन् ! आप ही कार्यरूप सत् हैं । और कारण रूप असत् हैं तथा उन दोनोंसे परे जो अविनाशी ब्रह्म है वह भी आप ही हैं ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥

हे अनन्तरूप, देशकाल-वस्तु-परिच्छेदातीत! त्वमेव जगतोऽस्योत्पत्तिकारणत्वादादिदेवः पुराणोऽनादिः, सकलपूर्षु स्थितत्वादात्मरूपेण पुरुषोऽस्य विश्वस्य लयस्थानं निधानं, सर्वज्ञो ज्ञाता, ज्ञेयो ज्ञातव्यविषयः, परमं धाम, सकार्याविद्यारहितं व्यापकस्य

हे अनन्तरूपवाले अर्थात् देश काल वस्तु परिच्छेदसे रहित स्वरूपवान ! आप, इस जगतकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे आदिदेव पुराण अर्थात् अनादि, और सकल शरीररूप पुरियोंमें आत्मरूप होनेसे पुरुष हो । तथा आप ही इस विश्वके परम निधान हो अर्थात् इस सर्व विश्वके लयका स्थान रूप हो, सर्वज्ञरूप ज्ञाता हो, और आप ही जाननेके

विष्णोः परमं पदमसि। अथच रज्ज्वाधाराध्यस्तसर्प इवेदं विश्वं त्वयि कल्पितं त्वया व्याप्तं चास्ति ॥ ३८ ॥

योग्य ज्ञेय हो, और परम धाम हो। अर्थात् सत्‌चित् आनंद घन तथा कार्यसहित अविद्यासे रहित जो व्यापनशील विष्णुका परम पद है वह परमपद भी आपही हो। और रज्जुरूप अधिष्ठानमें अध्यस्त सर्पके समान, आपमें ही यह सर्व विश्व कल्पित है। और इसमें आपही व्याप्त हैं ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः पितामहस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ३९॥

त्वं, वायुः यमः पावकः वरुणः शशांकः हिरण्यगर्भः प्रजापतिः तस्यापि पितामहः शुद्धब्रह्मासि। हे देव! तुभ्यं मे सहस्रवारं नमोऽस्तु नमोऽस्तु ॥ ३९ ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, हिरण्यगर्भका भी पितारूप जो कारण ब्रह्म है वह परमेश्वर अर्थात् शुद्ध ब्रह्म, आप हो। आपको हजार अनेक वार नमस्कार हो नमस्कार हो। और आपको फिर भी वारम्वार नमस्कार हो नमस्कार हो ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४०॥

हे सर्वात्मन् विष्णो! तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतश्च नमोऽस्तु। हे सर्व सर्वस्वरूपिन्, सर्वतोऽपि ते नमः। त्वमनन्तसत्तास्फुरणात्मकं तेजोऽसि, परिमाणरहितानन्तविक्रमोऽसि, त्वमेवेदं सर्वं व्याप्नोषि। ततः सर्वोऽसि ॥ ४० ॥

हे सर्वात्मा विष्णु! आपको पूर्व दिशामें आगेसे नमस्कार हो, अनन्तर पश्चिम दिशामें नमस्कार हो, आपको सर्व दिशाओंमें नमस्कार हो। आप अनन्त स्फूर्तिमय तेजरूपवाले, वीर्यवान् और अपारिमित सत्तारूप पराक्रमवाले हुये, इस सर्व जगतको व्याप्त किये हो, इस कारण सर्वात्मा हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥

तवेममलौकिकं महिमानं योगं चाविदित्वा "मम सखेति" मत्वा, त्वन्महिमविस्मृत्यात्मकात् प्रमादात्प्रेम्णा वा, तव जगतो लयस्थितजननात्मकं महिमानम् अजानता मया, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे इत्यनुचितसंबोधनैस्त्वमुक्तोऽसि ॥ ४१ ॥

आपके इस योगरूप महिमाको न जाननेवाले मुझसे, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर आपकी महिमाओंकी विस्मृतिरूप प्रमादसे व प्रेमसे भी, हे भगवन् ! सर्व जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाले तथा ब्रह्मादिक सर्व देवताओंके भी गुरुरूप आप परब्रह्मको "हे कृष्ण हे यादव हे सखा" इस प्रकारके अनुचित सम्बोधन जो कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! यत्परिहासार्थं क्रीडायां विहारे, भोजने, शयने, विजने, सभायां, तत्समक्षे, वाऽसत्कृतोऽसि अवज्ञातोऽभवः । तत्सर्वमपराधं त्वामाचिन्त्यप्रभाविनं क्षामयेऽहम् ॥ ४२ ॥

हे अच्युत ! परिहासके अर्थ क्रीडारूप विहारमें, शय्यापर, आसनपर तथा भोजनमें, अकेले स्थित हुए अथवा परिहास (हँसी) करते हुए उन सखाओंके समीप स्थित हुये भी जो आप असत्कृत हुये हो । हे अप्रमेय अर्थात् हे अचिन्त्यप्रभाववाले ! आपसे उस अपराधकी क्षमा चाहता हूं ॥ ४२ ॥

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ४३

हे अनुपमेययोगसामर्थ्यप्रभाव, श्रीकृष्ण ! त्वमस्य स्थावरजंगमात्मकस्य जगतोऽसि पिता । त्वमेवासि जनक इत्यर्थः । सर्वेश्वरत्वात्पूज्योऽसि । सर्वज्ञानविज्ञानो-

हे उपमारहित मायामय योगभूतसामर्थ्यरूप प्रभाववाले श्रीकृष्णदेव ! इस स्थावर जङ्गमरूप सर्व जगतके आप ही पिता हो और सर्व ज्ञानविज्ञानके उपदेष्टा जगद्गुरु-

पदेशकत्वाद् गरीयान् गुरुरसि। लोकत्रयेऽपि त्वया सदृशो नास्ति कश्चित्। तर्हि त्वदधिकोऽन्यत्र कथं भवेत् ॥ ४३ ॥

रूप हो। तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है तब आपसे अधिक कोई कहाँसे होगा ॥ ४३ ॥
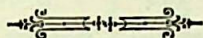
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

तस्माद् भूमौ दण्डवत्कायं निधाय प्रणम्य च त्वां स्तुत्यमीशं भगवन्तं जगदीश्वरं प्रसादयामि। हे देव! यथा पिता पुत्रस्यापराधं, सखा मित्रस्यापराधं, पतिः प्रियाया अपराधं सहते तथैव त्वं ममापराधं सोढुं शक्नोषि ॥ ४४ ॥

इस कारण, साष्टांग प्रणाम करके मैं स्तुतिके योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न करता हूं। हे देव! पुत्रके अपराधको पिताके समान, सखाके अपराधको प्रेमीके समान और पत्नीके अपराधको पतिके समान मेरे अपराधको आप सहन अर्थात् क्षमा करनेके योग्य हो। तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार पिता-पुत्रके अपराधोंको, सखा सखाके अपराधोंको और प्रेमी अपने प्रेमिकाके अपराधोंको क्षमा कर देता है उसी प्रकार आप भी मेरे अपराधोंको क्षमा करो ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

मया पूर्वमदृष्टमिदं विश्वरूपं वीक्ष्य हर्षितोऽहं संजातः। अथ भीषणं तव वपुरवलोक्य, मे मनस्तद्दर्शनभयेन व्यथितमभूत्, अतो हे देव! तदेव सौम्यं रूपं मे दर्शय। हे जगदीश, देवेश! मयि प्रसन्नो भव ॥ ४५ ॥

मुझसे पूर्वमें न देखे हुए इस विश्वरूपको देखकर मैं, हर्षित हुआ हूं और विकरालरूपके दर्शनसे उत्पन्न हुए भयसे मेरा मन अत्यन्त पीडित हुआ है। इस कारण मुझे उस मनोहर शान्तरूपको ही दिखाओ। हे देवोंके देव, ईश्वर, जगदाधार! प्रसन्न होओ ॥ ४५ ॥

T

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥ ४६ ॥

हे भगवन् वासुदेव ! अहं, त्वां पूर्ववन्मुकुटवन्तं किरीटिनं गदाचक्रधारिणं द्रष्टुमवलोकयितुमिच्छामि । येन मे मनः शाम्येत् । अतो हे विश्वमूर्ते देवात्मदेव ! इदं विश्वरूपमाकृष्य तेनैव प्रासिद्धेन चतुर्भुजेन चतुर्भुजो भव ॥ ४६ ॥

हे भगवन् ! मैं किरीट (क्रीट) मुकुटवाले, गदावाले तथा हाथमें चक्रवाले आपके चतुर्भुजी रूपको पूर्वके समान ही देखनेकी इच्छा करता हूं । हे हजार भुजाओंवाले, हे विश्वरूप मूर्तिवाले ! आप उन चार भुजावाले रूपसे ही होओ ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

श्रीवासुदेव उवाच । प्रसीदता मया, योगमायया तुभ्यमिदमुत्कृष्टं विश्वरूपं दर्शितमस्ति । कोटीसहस्रसूर्यवत्प्रकाशमानमिदं विश्वरूपमन्तरहितमनन्तं सर्वकारणमाद्यं च वर्तते । तदिदं रूपं त्वां विना केनापि पूर्वं न दृष्टमस्ति ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! प्रसन्न हुए मैंने, अपने सामर्थ्यरूप मायामय योगबलसे तुझे यह उत्कृष्ट विश्वरूपात्मक श्रेष्ठ रूप दिखाया है । तेजोमय अर्थात् कोटि सूर्यके समान प्रकाशमान सर्व विश्वरूप अन्तरहित और सर्वका कारण जो यह मेरा रूप है, सो तेरे सिवाय दूसरेने पूर्वमें देखा नहीं है ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाऽध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! अस्मिन्मनुष्यलोकेऽहम् एवंभूतो विश्वरूपस्त्वदन्येन केनापि नच वेदाध्ययनैर्नच पूर्वमीमांसाकल्पसूत्रादिभिर्बोधितानां यज्ञानां विधानेन,

हे कुरुकुलमें श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! इस मनुष्य लोकमें इस प्रकारका विश्वरूपधारी मैं भगवान् तुमसे, अन्य किसी भी पुरुषसे, न तो वेदोंके अध्ययनसे अर्थात् ऋक्,

नच स्वर्णतुलादिदानेन, नचाग्निहोत्रादिभिः, स्मार्त्तैः, श्रौतैः कर्मभिः, नच कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरुग्रैस्तपोभिर्द्रष्टुं शक्योऽस्मि ॥ ४८ ॥

यजु, साम और अथर्वण इन चारों वेदोंका जो गुरुमुखसे अक्षरोंका ग्रहणरूप विधिवत् अध्ययन उससे, और न पूर्वमीमांसा कल्पसूत्र इत्यादिकोंसे वेदबोधित कर्मरूप यज्ञोंके करनेसे तथा न स्वर्ण आदि दानोंसे, न अग्निहोत्रादिक श्रौत और स्मार्त कर्मोंसे, और न कृच्छ्र चान्द्रायणादि उग्र तपोंसे देखनेके योग्य हूं॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

मदीयमेवंभूतं भीषणं रूपं दृष्ट्वा ते मोहो न भवेत् । नच व्यथा जायेत । किन्तु विगतभीः प्रीतमनाश्च भूत्वा त्वं पुनर्मे सौम्यं रूपं पश्य ॥ ४९ ॥

मेरे इस प्रकारके इस भयङ्कर रूपको देखकर तुझे पीड़ा न हो। और तू विमूढ भाववाला अर्थात् व्याकुल चित्तवाला न हो। किन्तु भयसे रहित प्रसन्न मन हुआ तू पुनः मेरे शंखचक्र पद्मगदाधारी चतुर्भुज रूपको ही देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥५०॥

सञ्जय उवाच । हे राजन् ! वासुदेवो भगवानर्जुनमेवं कथयित्वा स्वीयं चतुर्भुजं कुण्डलकिरीटगदादिचतुर्भुजयुक्तं पीताम्बरशोभितं रूपम् अदर्शयत् । पुनश्च सौम्यवपुर्महात्मा कृष्णो, भीतमर्जुनं धैर्यवचनैराश्वासितवान् ॥ ५० ॥

सञ्जय बोला—हे राजन् धृतराष्ट्र ! वासुदेव भगवान्ने, अर्जुनसे इसप्रकार कहकर उसी प्रकारका अपना चर्तुभुज रूप अर्थात मस्तक पर किरीट धारण करनेवाला तथा कानोंमें मकराकृति कुण्डल चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला और पीताम्बरादिशोभित अपने पूर्वके रूपको पुनः दिखाया ।

और उस महान् स्वरूपवाले भगवानने, फिर सौम्यमूर्ति होकर भयभीत अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१ ॥

अर्जुनोऽब्रवीत् । हे जनार्दन ! तवेदं मानुषं रूपं समीक्ष्येदानीमनुद्विग्नः स्वस्थः सन्स्वां प्रकृतिं गतोऽस्मि ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोला—हे जनार्दन ! आपके इस मानुषी शान्तस्वरूपको देखकर अब मैं, सचेत अर्थात् चित्तकी व्याकुलतासे रहित हुआ हूँ। और प्राकृतिक स्वस्थताको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

भगवान् वासुदेवोऽवदत् । हे पार्थ! मम यद्विश्वरूपं दृष्टवानसि, तद्रूपमतिशयसाधनैरपि द्रष्टुं दुःशक्यमस्ति । शिवेंद्रादयो देवा अपि अस्य विश्वरूपस्य दर्शनाभिलाषिणः सन्ति ॥ ५२ ॥

वासुदेव भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरे जिस विश्वरूपका तूने दर्शन किया है। यह अतिशय साधनसे देखनेके योग्य है, शिव इन्द्रादि देवता भी सदैव इस विश्वरूपके दर्शनोंके अभिलाषी हैं ॥ ५२ ॥
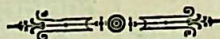
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

यथा त्वं मदीयं विश्वरूपमवलोकितवानसि । तथाहं न चतुर्भिर्वेदैर्न तपसा, न

जिस प्रकार मेरे विश्वरूपको तू देखनेवाला हुआ है। इस प्रकारसे मैं न तो

गोभूमिदानेन, न च अग्निहोत्रादियजनेन द्रष्टुं शक्यः ॥ ५३ ॥

चारों वेदोंके अध्ययनसे, न कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपसे, न स्वर्ण, गो भूमि आदि दानोंसे न अग्निहोत्रादिक श्रौत स्मार्त कर्मरूप यजनसे देखनेके योग्य हूँ ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे परंतप, अज्ञानशत्रुसंतापिन् अर्जुन! एवंविधो विश्वरूपात्मकोऽहं विषयगन्धरहितया अनन्यया परया भक्त्यैव ज्ञातुं, वेदान्तश्रवण–मनन–निदिध्यासनपरिपाकेन च स्वरूपेणात्मसाक्षात्कारं कर्तुं, दर्शनमनु स्वात्मकत्वेन प्रवेष्टुं च शक्ये साधनसम्पन्नैरधिकारिजनैः ॥ ५४ ॥

हे अज्ञान रूपी शत्रुको सन्तापित करनेवाले अर्जुन! इस प्रकारका विश्वरूपधारी मैं परब्रह्म ही, साधन सम्पन्न उत्तम अधिकारियोंसे विषयवासनारहित निरतिशय प्रीतिवाली अनन्य परा भक्तिसे ही जाननेके योग्य हूं। और वेदान्त श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी परिपक्कताद्वारा वास्तवरूपसे साक्षात्कार करनेको, और उस साक्षात्कारकी प्राप्तिके अनन्तर, आत्मरूपसे प्राप्त होनेको शक्य हूँ ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

हे पाण्डव! यो मत्प्रसादाय श्रौतस्मार्तादिकं कर्म करोति, यश्च मत्परमः अहमेव प्राप्तव्य इति निश्चित्य धनस्त्रीपुत्रादिविषयासक्तिसंगरहितो मम भक्तः, सर्वभूतेषु भेदबुद्धिं विहाय सर्वत्राभेददर्शनेन ज्ञानेन निर्वैरो भवति। स मां परमात्मानं गच्छति ॥ ५५ ॥

हे पाण्डुपुत्र, अर्जुन! जो मेरे ही प्रसन्नताके अर्थ वेदविहित अग्नि–होत्रादिक श्रौत, स्मार्त, कर्मोंका करनेवाला, मुझकोही निश्चित मतिसे सर्वात्मा समझनेवाला, धन, पुत्र आदि विषयोंमें आसक्तिरूप सङ्गसे रहित मेरा भक्त, भेदबुद्धिको त्याग कर सर्व प्राणिमात्रमें अभेद दर्शनरूप तत्त्वज्ञानसे, निर्वैर अर्थात् शत्रुता रहित है। वह मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

T

अध्यायसमाप्ति–मंगलाचरणम् ।

सम्यग्वेदैरधीतैःश्रुतिमतिविधिना क्रत्वनुष्ठानतोऽपि,
स्वांतःक्लेशैस्तपोभिर्निजसमकनकैर्ब्राह्मणेभ्योऽपि दत्तैः ।
यः शक्यो नैव लोके कथमपि दिविजैर्द्रष्टुमिच्छद्भिरीशः,
शक्यो योऽनन्यभक्त्या प्रविशतु हृदयं मे स कृष्णः सभक्तिः १॥

सा०–अधीतैः, सम्यग्वेदैः, श्रुति-मति-विधिना क्रतु-अनुष्ठानतः अपि, स्व-अन्तः-क्लेशैः तपोभिः, निजसमकनकैः ब्राह्मणेभ्यः अपि दत्तैः, यः द्रष्टुं शक्यः न लोके, एवं द्रष्टुम् इच्छद्भिः दिविजैः कथमपि द्रष्टुं न शक्यः। यश्च अनन्यया भक्त्या, द्रष्टुं शक्यः। स श्रीकृष्णः सभक्तिर्मम हृदयं प्रविशतु ॥ १ ॥

संसारमें जिस ईश्वर परब्रह्मको, भलीभांति पढ़े हुए वेदोंसे तथा वेदोक्त यज्ञोंके करनेसे भी तथा अन्तःकरणको क्लेश देनेवाली तपस्याओंसे तथा ब्राह्मणोंको अपने समान स्वर्णादि दानोंके देनेसे, अधिकारी मनुष्य तथा दर्शनको चाहनावाले देवता किसी भी प्रकार देखनेको समर्थ नहीं हैं। और जो परमात्मा, अद्वितीय ज्ञान भक्तिसे ही देखे जानेको योग्य है, वह भक्तिसहित श्रीकृष्ण भगवान् मेरे हृदयमें प्रवेश करे ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य–स्वामी–निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत–अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ ११ ॥
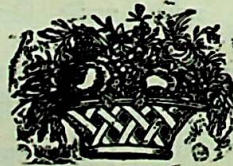
ॐ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

अनादौ संसारे जनिमृतिभये भ्रान्तिनिबिडे,
निमग्नानां पुंसां क्वचिदपि सुखं नास्ति विमलम् ।
तपोभिर्वा दानैः क्रतुभिरपि वेदानुवचनैः,
ऋतेऽत्यन्तप्रेम्णो हरिपदसरोजेऽच्छसुखदे ॥ १ ॥

सा०—अच्छसुखदे हरिपद-सरोजे अत्यन्तप्रेम्णः ऋते, भ्रान्ति-निबिडे जनिमृतिमये अनादौ संसारे निमग्नानां पुंसां तपोभिः दानैः वेदानुवचनैः क्रतुभिरपि क्वचित् विमलं सुखं न अस्ति॥१॥

निर्मल आनंदके दाता विष्णुके चरणारविन्दमें अत्यन्त प्रेमके विना, भयमय जन्म मृत्युके भयको देनेवाले इस अनादि संसारमें डूबते हुए पुरुषोंको, तपस्याओंसे, दानोंसे, यज्ञोंसे तथा वेदके वचनोंसे भी कभी निर्मल सुख नहीं मिलता ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

T

अर्जुनोऽवदत् । हे भगवन्! एवं सततं त्वयि ब्रह्मणि युक्तचेतसः ये भक्तास्त्वां सगुणं ब्रह्मात्मानमुपासते भजन्ति । ये चान्ये त्यक्तसर्वैषणाः त्यक्तकर्माणः संन्यासिनः भक्ता अक्षरमविनाशिनमव्यक्तं मनोनेत्रादिभिरग्राह्यं निर्गुणं त्वां चिन्तयन्ति निर्गुणत्वेनैव त्वामुपासते । तेषामुभयविधानां भक्तानां मध्ये के भक्ता उपासनात्मकस्य योगस्य वेत्तारो भवन्ति ॥

तथाच श्रुतौ—

"एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदंत्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्" ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे भगवन् श्रीकृष्ण ! इस प्रकार निरन्तर एकाग्र चित्तवाले जो भक्त, सगुण रूप आप परब्रह्मकी उपासना करते हैं। और जो सब एषणाओंका तथा कर्मोंका त्याग करनेवाले संन्यासी, अक्षर अविनाशी अव्यक्तरूप अर्थात् मन इन्द्रिय अगोचर निर्गुण ब्रह्मका ही चिन्तनरूप उपासना करते हैं। उनमें कौन, उपासनारूप योगके श्रेष्ठवेत्ता अर्थात् श्रेष्ठ योगी हैं।

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"हे गार्गी ! इस अक्षर ब्रह्मको ब्रह्मवित् ब्राह्मण ऐसा प्रतिपादन करते हैं। यह ब्रह्म, न स्थूल न अणु और न ह्रस्व और न दीर्घ है" ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच । ये भक्ता मयि ब्रह्मणि मनो निधाय सततचित्तैकाग्र्यवंतोऽत्यन्तपरमश्रद्धयोपेताः सन्तो मां परमात्मानं स्नेहात्मिकयान्तःकरणवृत्तिरूपया भक्त्या भजन्त्युपासते। त एव मम युक्ततमा योगविदो मता इष्टा इत्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले-जो, मुझमें मनको स्थापन करके निन्तर एकाग्र चित्तवाले हुए, मुझ परब्रह्मको स्नेहमय अन्तःकरणकी वृत्तिरूप भक्तिसे उपासते हैं। वे, मुझे युक्ततम अभिमत हैं ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

ये तु सगुणोपासकेभ्यो भिन्ना वीतरागा भक्ता अनिर्देश्यं वाचामगोचरम-

सगुण भक्तोंसे विलक्षण वीतरागी यति तो, अनिर्देश्य अर्थात् वाणीका अविषय होनेसे

T

कीर्तनीयमव्यक्तं जाति–गुण–क्रिया-सत्ताशून्यं सत्तया स्फुरणेन च सर्वव्यापिनमचिन्तनीयं कूटस्थं सदोषमायाप्रपञ्चाधिष्ठानं नित्यं स्पन्दनक्रियाविरहितं मामक्षरं षड्विधविकाराभाववन्तं निर्गुणं परमात्मानं ब्रह्मोपासते "अहं ब्रह्मास्मि" इति भावेन।

तथाच श्रुतौ–

"यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" ॥ ३ ॥

कीर्तन करनेको अशक्य और अव्यक्त अर्थात् जाति क्रिया गुण और सम्बन्ध इत्यादिसे रहित, सत्ता और स्फुरणरूपसे सर्वव्यापी और अव्यक्त होनेसे अचिन्तनीय, कूटस्थ अर्थात् कूट जो मिथ्याबुद्धि है उसमें साक्षीरूपसे स्थित, नित्य और स्पन्दन रहित, मुझ अक्षर अर्थात् वृद्धि आदि विकारसे रहित, अविनाशी निर्गुण ब्रह्मको 'मैं ब्रह्म हूं' इसी रूपसे उपासना करते हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" जिस ब्रह्ममें, वाणी और मन न प्राप्त होकर निवृत्त हो जाते हैं। ऐसा वह अव्यक्तादि विशेष युक्त है " ॥ ३ ॥

संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

ये सर्वविषयेभ्यो निवृत्तम् इन्द्रियग्रामं स्वात्मनि निरुध्य सर्वत्र हर्षविषादयोः समत्वमापन्नाः सर्वेषां जीवानां हितावहाः प्रीतिमन्तो मम निर्गुणस्योपासकास्ते भक्ता मामेव निर्गुणं ब्रह्मात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥

तथा च श्रुतौ–

" यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहुः परमां गतिम् ॥ ४ ॥

चक्षुरादि इन्द्रियोंके समूहको विषयोंसे निरोध करके हर्ष विषाद और मानापमान आदि द्वन्द्वोंमें सम बुद्धिवाले, सर्व जीवके हितमें प्रीति रखते हुए, वे मुझ निर्गुण ब्रह्मके भक्त, शुद्ध निर्गुणरूप मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" जिस समय पंचज्ञानेंद्रियें मनके साथ आत्मामें स्थिर होती हैं, और बुद्धि भी चेष्टा रहित होजाती है, उसी ब्राह्मी अवस्थाका नाम परमा गति है" ॥ ४ ॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

T

यद्यपि सगुणोपासकानां क्लेशोऽधिको भवति । तथापि सगुणब्रह्मोपासकजनेभ्यो भिन्नानां निर्गुणासक्तचेतसां भक्तानां तु सकलविषयत्यागपूर्वकं देहाभिमानपरित्यागनिमित्तः विवेकादिचतुष्टयसाधनात्मकोऽधिकतरः क्लेशो भवति । यतो हि मनोवाचामगोचरा अव्यक्ता ब्रह्मणो गतिर्ज्ञानं महता कष्टेन देहवद्भिः देहाभिमानिभिः पुरुषैः प्राप्यते । अर्थाद्देहाभिमानरहितैः सुखेनासाद्यते ॥

तथोक्तं श्रुतौ–

"देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि । यत्रयत्र मनो याति तत्रास्ति ब्रह्मदर्शनम् " ॥ ५ ॥

यद्यपि सगुण उपासकोंको भी क्लेश होता है । तथापि सगुण उपासकोंसे भिन्न उन, निर्गुण ब्रह्मके चिन्तन परायण देहाभिमानी जनोंको, सकल विषयोंका त्याग करते हुये विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट् सम्पत्ति, और मुमुक्षुता आदि साधनसमूहका सम्पादनरूप अधिकतर क्लेश होता है । क्योंकि, देहाभिमानी पुरुषोंसे, वह अव्यक्तरूप गति अर्थात् मन वाणीसे अगम अगोचर निर्गुण ब्रह्मकी गति कष्टसे पायी जाती है । अर्थात् ब्रह्मभावकी प्राप्ति कष्टसाध्य है । परन्तु देहाभिमान रहित पुरुषोंको ब्रह्मप्राप्ति अतिसुगम है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"देहाभिमानके निवृत्त होनेसे परमात्माका साक्षात् होजानेपर जहां जहां मन जाता है, वहीं वहीं वासुदेवका दर्शन होता है" ॥५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

ये च भक्ता जनाः सर्वाणि कर्माणि मयि ब्रह्मणि समर्प्य त्यक्त्वा मत्परायणा भूत्वा अनन्यभक्त्या योगेन, मां विश्वरूपं देवं चिन्तयन्तो ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष, सर्व कर्मोंको मुझ ब्रह्ममें समर्पण करके मेरे परायण हुए, अनन्य भक्तिरूप योगसे मुझ परब्रह्मका ही चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

सगुणे ब्रह्मणि मयि वासुदेवे निवेशितान्तःकरणानां तेषां भक्तानामहं संसारसागरात् समुद्धारकोऽचिरादेव भवामि तत्त्वोपदेशेन ॥ ७ ॥

मुझ सगुण परब्रह्ममें आवेशित चित्तवाले उन पुरुषोंका, मैं परब्रह्म, मृत्युरूप संसारसमुद्रसे शीघ्र ही ज्ञानद्वारा उद्धार करनेवाला होता हूं ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अतो हे अर्जुन ! मयि विश्वरूपे परमात्मनि मनो निधेहि स्थापय । तथा च स्वां बुद्धिमपि मयि निवेशय । यतश्च देहपाते सति त्वं मयि शुद्धात्मके परे ब्रह्मण्येव निवसिष्यसि, स्थितो भविष्यसीत्यर्थः ॥ अत्र नास्ति संशयः ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! तू अपने मनको मुझ ब्रह्ममें ही स्थापित कर, और अपनी बुद्धिको मुझ परब्रह्ममें ही निवेशित कर । जिससे देहपातके अनन्तर मुझ ब्रह्ममें ही तू निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

रिपुधनविजयिन् अर्जुन ! यदि च त्वं मयि सच्चिदानंदके परब्रह्मणि चेतो निधातुं न शक्नोषि, तर्हि योगाभ्यासेन शुद्धः स्थितमनाश्च भूत्वा मामिच्छ ॥ ९ ॥

हे रिपुधनविजयी, अर्जुन ! यदि तू, मुझ परब्रह्ममें चित्तको स्थिरतासे स्थापन करनेको समर्थ न हो । तो अभ्यासयोगसे, शुद्ध और एकाग्र चित्त हो मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

यदि च पुनरपि त्वम्, अभ्यासयोगं विधातुं नार्हसि । तर्हि मदर्थं कर्म

यदि तू, पूर्वोक्त अभ्यासमें भी असमर्थ हो, तो मेरे अर्थ कर्मोंको करो । क्योंकि, मेरे

कुरु । यतो हि मदर्थं कर्माणि कुर्वन् ज्ञानसिद्धिं यास्यसि ॥ १०॥

अर्थ कर्मोंको करता हुआ ज्ञानसिद्धिको प्राप्त होवेगा ॥ १० ॥
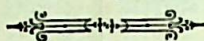
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

यदि च मदर्थं कर्माचरणेऽप्यसमर्थोऽसि । तर्हि मयि ब्रह्मणि भक्तियोगमाश्रित उपाददानः सन्नियमितेन्द्रियो भूत्वा भगवदर्पणबुद्ध्या सर्वेषां कर्मणां फलत्यागं कुरु ॥ ११ ॥

यदि तू, इस तरह कर्म करनेको भी असमर्थ हो, तो मुझ परब्रह्मकी भक्तियोगके आश्रित और नियमित इन्द्रियरूप आत्मावाला हुआ, भगवत् अर्पण बुद्धिसे सर्वकर्मोंके फलोंका त्याग कर ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

· हि पूर्वोक्तादभ्यासादद्दढमपरोक्षज्ञानं श्रेष्ठं विद्यते । यथोक्ताज्ज्ञानाच्च ध्यानं प्रशस्तं भवति । ध्यानात्सर्वकर्मफलत्यागः श्रेष्ठो भवति । यतो हि त्यागानन्तरमेव तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानां श्रवणमनननिदिध्यासनेन ब्रह्मसाक्षात्कारमनु मुक्तिनाम्नीं शान्तिं लभते ।

तथाच श्रुतौ–

" त्यागो हि महती पूजा सद्यो मोक्षप्रदायकः । सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥ ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते" ॥ १२ ॥

उक्त अभ्याससे, अदृढ़ अपरोक्षज्ञान ही श्रेष्ठ है । उक्त ज्ञानसे, ध्यान श्रेष्ठ होता है । ध्यानसे, सर्वलोकगत कामरूप सर्व कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है । त्यागके अनन्तर तत्त्वमसि महावाक्योंके श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेसे, मुक्तिरूपी शान्तिं होती है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"त्याग ही महान पूजा है । क्योंकि, वह शीघ्र ही मोक्षप्रदायक है ।"मैं साक्षात् चेतनस्वरूप ब्रह्म हूं " इस प्रकारके विचारको ही ध्यान कहते हैं । और उस अखण्ड ध्यानमें वृत्तिके लयको ही समाधि कहते हैं । यह सदा जितेन्द्रिय धर्मात्मा पुरुषोंके करने योग्य है" ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

यो ब्रह्मवित् संन्यासी सर्वाणि भूतानि स्वात्मानं मत्वा, न द्वेष्टि। तथा स्वसदृशेषु जनेषु मैत्रो भवति। दुःखिनां प्राणिनां च दयते। देहादिषु निर्ममो भवति,। बलबुद्धयादीनां सत्त्वेऽपि, निरहङ्कारो भवति। रागद्वेषाभावाच्च सर्वत्र सुखदुःखयोः समो भवति। तथाच यः सर्वेषामपराधं सहते ॥ १३ ॥

जो ब्रह्मवित् संन्यासी, स्थावर—जङ्गमरूप सर्व भूतोंको अपना आत्मारूप समझकर किसीसे द्वेष न करनेवाला, स्वसमान जनोंमें मैत्रीवाला और दुःखी प्राणियोंमें दयारूप करुणावाला, देहादिमें ममताबुद्धिसे रहित निर्मम, बल विद्या होते हुए भी अहङ्कारादिसे रहित, रागद्वेषसे रहित, सुख दुःखमें समान और सर्वके अपराधोंको सहन करनेसे क्षमाशील है ॥ १३ ॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

यश्च, सततं सन्तुष्टो योगी समाहितचेता आत्मसंयमी दृढात्मनिश्चयी मयि परमात्मनि समर्पितान्तःकरणो मम मद्भावापन्नो भक्तो भवति। स पूर्वोक्तगुणविशिष्टो ब्रह्मनिष्ठो भक्तो, मम ब्रह्मणोऽतिप्रियो भवति ॥ १४ ॥

जो योगी, सदैव सन्तुष्ट अर्थात् समाहित चित्तवाला, आत्मसंयमी, आत्मतत्त्वमें दृढ निश्चयवाला और मुझ परब्रह्ममें अर्पित मन और बुद्धिवाला, मद्भावापन्न ब्रह्मनिष्ठ मेरा भक्त है, वह मुझ परब्रह्मको प्रिय है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

यस्माच्च जीवन्मुक्तात्पुरुषात्संन्यासिनोऽयं लोको नोद्विग्नो भवति। तथैव यःयोगी सदृशैर्विषमस्वभावैश्च जनैः न सन्तापितो

जिस जीवन्मुक्त संन्यासीसे, यह लोक सन्तापित नहीं होता है तथा जो, अपने सर्वात्मभावसे विषम क्रूर स्वभाववाले लोकोंद्वारा

दुःखी भवति तथाच। हर्षशोकभयादिभ्यो मुक्तो भवति । स एवंभूतो भक्तो मम प्रियोऽस्ति ॥ १५ ॥

सन्तापित नहीं होता है । तथा जो, हर्ष, क्रोध, भय और चिन्तासे मुक्त है, वह मुझ परब्रह्मको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

यो जीवन्मुक्तो यतिः पुरुषो निरिच्छोऽपेक्षाशून्यो बाह्याभ्यन्तरभावेन पवित्रो ब्रह्मविचारे दक्षः शत्रौ मित्रे चोदासीनो गतव्यथः, सर्वेषां लौकिकानां वैदिकानां कर्मणां त्यागी मद्भक्तो भवति । स एव मम प्रियो भवति ॥

तथा च श्रुतौ—

"सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः। धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते " ॥ १६ ॥

जो जीवन्मुक्त यति, अपेक्षा अर्थात् इच्छारहित, बाह्याभ्यन्तर भावसे पवित्र, ब्रह्म विचारमें दक्ष, मित्रशत्रुमें उदासीन, व्यथारहित तथा सर्व लौकिक वैदिक आरंभोंका अर्थात् कर्मोंका परित्याग करनेवाला मेरा भक्त है, वह मुझ परब्रह्मको प्रिय है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जिसने, संपूर्ण इच्छायें, शंकायें और निश्चयोंको अपनी बुद्धिसे त्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त है " ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७ ॥

यश्च जीवन्मुक्तो मद्भक्तो मानवः सर्वेषु नामरूपात्मकेषु पदार्थेषु कार्येषु मिथ्यात्वनिश्चयज्ञानित्वात् किमपि प्रियं वस्तु लब्ध्वा न हृष्यति । नच गतं नष्टं शोचति। नाप्रियं लब्ध्वा द्वेष्टि । नाप्राप्यमभिवाञ्छति। तथा च शुभाशुभकर्माणि परित्यजति । अथ च ब्रह्मात्मानुसंधानात्मिकां भक्तिमाचरन् भक्तिमान् भवति । स एव मम प्रियो भवति ॥ १७ ॥

जो, सर्व नाम रूपमें मिथ्याबुद्धिवाला होनेके कारण न प्रियवस्तुको पाकर हर्ष करता है और न अप्रियको पाकर द्वेष करता है । और न नष्टवस्तुका शोक करता है । न अप्राप्त वस्तुको इच्छता है, और जो, शुभ अशुभ कर्मोंका परित्याग करनेवाला है, तथा ब्रह्मानुसन्धान युक्त भक्तिमान् है, वह मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

तथा यः, शत्रौ मित्रे वापि स्वात्मैकत्वेन समो भवति। तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोः शीतोष्णयोःसुखदुःखयोः द्वन्द्वयोः समत्वं प्राप्नोति समो भवति । विषयासक्तिं च जहाति ॥

तथाच श्रुतौ–

" अन्तःसंगं बहिःसंगमात्मसंगं च यस्त्यजेत्। सर्वसंगनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः " ॥ १८ ॥

जो,शत्रुमें और मित्रमें एक आत्मभावसे सम अर्थात् समदृष्टिवाला है। तथा मान अपमानमें और शीत उष्ण, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वोंमें, सम अर्थात् समदृष्टिवाला है। और विषयोंमें आसक्तिरूप सङ्गसे रहित है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जो जीवन्मुक्त पुरुष, वासनारूपी अंतःसंग और बाह्यसंग तथा विषयासक्तिको त्यागकर सब संगोंसे निवृत है, वही मुझे प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं ॥ १८ ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

निन्दास्तुत्योः समः, मिथ्याभाषणपराङ्मुखो मौनी, येन केनिचिद्-दैवबलेन लब्धवस्तुना स्वजीवनं यापयन् सन्तोषी, गृहरहितस्त्यक्तसदनो भक्तिमान् स्वस्थमतिर्भक्तो भवति। स,मम परब्रह्मणः प्रियो भवति ॥

तथाच भारते–

" येन केनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः। यत्र क्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः" ॥ १९ ॥

निन्दा स्तुतिमें समान रहनेवाला, अनृत आलापसे रहित, मौनी, जिस किसी दैवलब्ध देहनिर्वाहके उपयोगी वस्तुसे सन्तुष्ट, गृहसे रहित तथा स्थिर मतिवाला, भक्तिमान जीवन्मुक्त पुरुष, मुझ परब्रह्मको प्रिय है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, जिस किसी वस्त्रादिसे अपनेको ढांक लेवे, जिस किसी पदार्थसे क्षुधाको शांत करले, जहां कहीं भी किसी जगहमें सोनेवाला हो, उसे देवता लोग ब्राह्मण जानते हैं" ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

ये च ब्रह्मनिष्ठाः संन्यासिनः श्रद्धालवो मत्परायणाः सन्तो, मदुक्तं धर्म्यामृतं पालयिष्यन्ति। ते, परमार्थज्ञानलक्षणया भक्त्या युक्ता मां परमात्मानम् 'अहंब्रह्मेति' वृत्त्या सेवमाना भजमाना मम ब्रह्मणः प्रिया भवन्ति॥ २०॥

पुनः जो ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी, श्रद्धावान हुये तथा मेरे परायण हुए, इस उक्त धर्म रूप अमृतको सम्पादन करते हैं। वे परमार्थ ज्ञान लक्षण भक्ति सम्पन्न मेरे भक्त, मुझ परब्रह्मको अत्यन्त ही प्यारे हैं॥ २०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

॥ अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम्॥

यो ब्रह्मात्माक्षराख्यः शमदमनिरतैर्नित्यमध्यात्मविद्भिः,
ध्येयोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मस्तनुयुगमतिभिर्दुष्कराराधनोऽज्ञैः।
भक्तिर्यस्योदितान्तर्हृदि सपदि जनान्मोचयेद्भ्रान्तिजन्यात्,
देहाद्यध्यासपाशात् स च वसतु मतौ कृष्ण एवेश्वरो मे॥ १॥

य अत्यन्तसूक्ष्मः ब्रह्मात्मा अक्षराख्यः, शमदमनिरतैः अध्यात्मविद्भिर्नित्यं ध्येयः। यश्च तनुयुगमतिभिरज्ञैर्दुष्कराराधनः। यस्य चान्तर्हृदि उदिता भक्तिः, भ्रान्तिजन्यात् देहाध्यासपाशात्, जनान् सपदि मोचयेत्। स कृष्ण ईश्वरो मे मतौ वसतु एव॥ १॥

जो ब्रह्म (अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा अक्षर आदि नामक) परमात्मा, सर्वदा मनोनिग्रह और इन्द्रिय दमनमें लगे हुये ब्रह्मज्ञानियोंसे ध्यान करने योग्य है। और शरीरको आत्मा समझनेवाले मूर्ख अज्ञानीजनों द्वारा, जिसका ज्ञान होना कठिन है। तथा आराधना, सेवा और हृदयके भीतर उत्पन्न हुई जिस ब्रह्मकी भक्ति, तत्क्षण मनुष्योंको भ्रमोत्पादक देहादिके अध्यास जालसे छुड़ा देती है। वह सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण भगवान् ही मेरी बुद्धिमें वास करें॥ १॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी-निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः समाप्तः॥ १२॥

T

ॐ

प्रधानपुरुषेश्वराय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

मुमुक्षूणां वित्तं स्थिरचरनिमित्तं स्थिरपदम्,
महामायाचित्तं श्रुतिहृदयमद्वैतचरितम् ।
अखण्डानन्दं श्रीपतिमजमनन्तं यदुपतिम्,
मुकुन्दं नन्दांके विलसितमहं नौमि शतशः ॥ १ ॥

मुमुक्षूणां वित्तं, स्थिर--चर--निमित्तं, स्थिर-पदं, महा-माया-चित्तं, श्रुति-हृदयम्, अद्वैत-चरितम्, अखण्ड-आनन्दं, श्रीपतिम्, अजम्, अनन्तम्, यदुपतिम्, नन्द--अङ्के--विलसितम्, मुकुन्दं शतशः, अहं नौमि ॥ १ ॥

मुक्ति चाहनेवालोंके परमधन, चराचरका कारण, अचल स्वरूप, सृष्टि उत्पादनार्थ शुद्ध सत्त्व युक्त, महामायामें चित्त रखनेवाले, हृदयमें वेदोंके भावोंको रखनेवाले, तथा अद्वैतमें विचरण करनेवाले, अखण्ड परमानन्दस्वरूप, अजन्मा, लक्ष्मीके स्वामी, अनन्त, यदुकुलपति, नन्दकी गोदमें शोभा देनेवाले मुकुन्द श्रीकृष्ण भगवानको, मैं सैकडों बार नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

वासुदेवो भगवानुवाच। हे पार्थ ! इदं (त्रिविधं स्थूल-सूक्ष्म-कारणकं) शरीरं क्षेत्रमिति कथ्यते। यश्चैतत्क्षेत्रं वेत्ति, तं क्षेत्रज्ञातारं क्षेत्रज्ञं कथयन्ति क्षेत्रक्षत्रज्ञविवेकिनः। अर्थात् अस्मिन् क्षेत्रे शरीरत्रये, भोगाश्रयत्वेन वासनाश्रयत्वेन उत्पत्त्याश्रयत्वेन च पापपुण्योत्पत्तिर्भवति। अज्ञानजनिताध्यासबलेन चास्य शरीरस्य यो जीवोऽभिमानी, स क्षेत्रज्ञः कथ्यते तत्त्वविद्भिः। वस्तुतस्तु क्षेत्रज्ञः शुद्धः सच्चिदानन्दो मुक्तोऽसंगश्चास्ति॥

तथाचोक्तं श्रुतौ—

"साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च"॥१॥

श्रीवासुदेव भगवान् बोले-हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! इस (स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप) त्रिविध शरीरको क्षेत्र कहते हैं। जो, इस त्रिविध क्षेत्रको जानता है उसको विवेकी विद्वान् पुरुष, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। "तात्पर्य यह है कि, स्थूल-आदि शरीर क्षेत्र अर्थात् खेतके समान है। क्योंकि, क्रमसे स्थूल शरीरमें भोगरूपसे, सूक्ष्म शरीरमें वासनारूपसे, और कारणशरीरमें आधार रूपसे, पाप और पुण्य (इसीमें) उत्पन्न होते, और रहते हैं। इसी हेतुसे इसे क्षेत्र कहते हैं। और जो अज्ञानजनित अध्यासके कारण इसका अभिमानी है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं"॥ वास्तवमें क्षेत्रज्ञ, शुद्ध सच्चिदानन्द असंग नित्य और मुक्त है॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वह क्षेत्रज्ञ, साक्षी चेतनरूप और निर्गुण है"॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

हे भरतकुलोत्पन्न, अर्जुन ! ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तेषु सर्वेषु क्षेत्रेषु यो वर्तमानः क्षेत्रज्ञोऽस्ति, तमपि मां परमेश्वरमसंसारिणं विद्धि। अथच क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानमस्ति। तत्संसारभ्रमापनोदकत्वाद्यथार्थज्ञानमेवास्तीस्ति मे मतम्॥

हे भरत कुलावतंस अर्जुन ! और सर्व क्षेत्रोंमें जो, क्षेत्रज्ञ है, उसको उपाधि रहित ब्रह्ममय मेरा स्वरूप जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो, ज्ञान है, वह संसाररूप भ्रमका निवर्तक होनेसे यथार्थज्ञान है। ऐसा मेरा निश्चित मत है॥

तथा च श्रुतौ—

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च" ॥ २ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" यह आत्मारूप ब्रह्म ही, अनेक भूतोंमें उपाधिद्वारा प्रतिरूपसे प्रतीत होता है। जैसे-एकचन्द्र जलकी उपाधिद्वारा नाना प्रतीत होता है।"

"जिसतरह एक ही अग्नि, भुवनमें प्रविष्ट हुई अनेक काष्ठोंसे अनेकरूप दिखाई देती है। उसीतरह सर्वोपाधियुक्त सर्वात्मा ब्रह्म, नानारूपसे अज्ञानियोंको प्रतीत होता है" ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

तत्पूर्वोक्तं क्षेत्रं, यादृशं यत्स्वभावम्, यत्कामादिधर्मयुक्तम्, यदिन्द्रियविकारवत्, यतः प्रकृतिपुरुषोभयसंयोगाज्जायते। यश्च क्षेत्रज्ञः स्थावरजङ्गमभेदभिन्नः प्रतीयते। अथच यश्च क्षेत्रज्ञोऽचिन्त्यैश्वर्यादिगुणसंपन्नः प्रभावयुक्तोऽस्ति। तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं मत्तः संक्षेपेण शृणु ॥३॥

वह क्षेत्र अर्थात् स्थूलादिशरीर, जिस प्रकार जड दृश्य स्वभाववाला और जैसा इच्छादि धर्मवाला और जैसा इन्द्रियादि विकारसे युक्त, जिस(प्रकृति और पुरुषके संयोग)से होता है। और जो क्षेत्रज्ञ, स्थावर जङ्गमके भेदसे भिन्न है, और (वह क्षेत्रज्ञ) जो साक्षी है, और जिस अचिन्त्य ऐश्वर्य तथा योगशक्ति आदि प्रभावसे युक्त है। सो इन दोनोंका स्वरूप मुझसे संक्षेपमें श्रवण कर ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

इदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपं वसिष्ठादयो मुनयोऽवोचन्। तथैवानेकशाखावद्भिर्वेदैरपि गीतम्। अथवा वेदान्तर्गतैर्गायत्र्या-

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप, पराशर, व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषियोंने बहुत प्रकारसे गायन किया है। और विविध अर्थात् अनेक

T

दिछन्दोभिर्मन्त्रैश्च भिन्नं भिन्नं गीतम् । तथाच वादिप्रतिवादिभ्यां निर्णीतैर्व्यासमहर्षिप्रणीतैः ब्रह्ममीमांसासूत्रैरपि तयोः स्वरूपं वर्णितमस्ति । अथच ब्रह्मबोधकैः उपनिषदात्मकैर्ब्राह्मणमंत्रभागैरपि गीतम् ॥ ४ ॥

शाखाओंवाले, वेदोंने वा वेदगत गायत्री छन्दरूप मंत्रोंने, अनेक प्रकारसे गायन किया है। और हेतुवाले वादियों और प्रतिवादियोंसे निर्णीत, श्रीव्यासप्रणीत ब्रह्ममीमांसके सूत्रके पदोंसे, और वेदके उपनिषद्रूप ब्राह्मणभागके पदोंसे भी गायन किया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥

आकाशादिपञ्चकं महाभूतं, त्रिविधोऽहङ्कारो, बुद्धिरेतानि सप्त, वृक्षबीजाङ्कुरमिवाव्यक्तनाम्नः क्षेत्रस्यैव धर्माः सन्ति । तथैव च अव्यक्तं मायामयमज्ञानमेवास्य समष्टिव्यष्टिरूपात्मकस्य क्षेत्रस्य कारणमस्ति। यानि च दश श्रोत्रादीनि करणानीन्द्रियाणि, मनश्चैकं, पञ्च इन्द्रियविषयाः शब्दादयश्चैतानि कार्यात्मकविकारात्मकानि सन्ति ॥ ५ ॥

आकाशादि पञ्चमहाभूत, त्रिविध अहङ्कार, बुद्धि, ये सप्त वृक्ष बीजके अंकुरकी नाईं अव्यक्तरूप क्षेत्रके धर्म हैं । और अव्यक्त अर्थात् मायामय अज्ञान ही, समष्टिव्यष्टिरूप शरीरोंका कारण है । तथा जो दश श्रोत्रादिक और एक मन ऐसी ११ इन्द्रियां हैं । और पांच शब्दादिक गुण जो इन्द्रियोंके विषय हैं । ये सोलह कार्यरूप विकार हैं ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं-दुःखं,संघात इन्द्रियमनसां च समुदायः, चेतना चिदाभासाभासिता बुद्धिः, कामक्रोधादीनां वेगसहनात्मकं धैर्यं चैतत्पूर्वोक्तपदार्थसमुदायात्मकं विकारसहितं क्षेत्रं, संक्षेपेण कथितम् ॥ ६ ॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् इन्द्रिय और मन इनका समुदाय, चेतना अर्थात् चिदाभास युक्त बुद्धि और कामक्रोधादिके वेगका सहनारूप धैर्य, इस पूर्वोक्त सब समुदाय रूप क्षेत्रको विकार सहित संक्षेपसे कहा ॥ ६ ॥

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

निरहङ्कारत्वं, स्वधर्मप्रकाशात्मिकख्यातिरूपदंभत्वहीनताऽदंभित्वम्, शरीरवाक्कायैः परपीडानिवृत्तिरेवाहिंसा, क्षमा, कुटिलत्वाभावः, श्रोत्रियाणामाचार्याणां ब्रह्मनिष्ठानां सेवनम्, बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरेव शौचम्, मोक्षप्राप्तौ पुनःपुनः विघ्नैः प्रतिघातेऽपि प्रयत्नाधिक्यमेव स्थैर्यम्, देहेन्द्रियादीनामात्मप्रतिकूलिनीं स्वाभाविकीं प्रवृत्तिं निरुध्य मोक्षसाधने निधानमात्मविनिग्रहः। एतत्सर्वं ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानमेवोच्यते ॥ ७ ॥

निरभिमानता, स्वधर्मका प्रकटीकरण ख्यातिभावसे राहित्यरूप अदंभभाव, शरीर, वाणी और मनसे प्राणियोंको पीडित न करने रूप अहिंसा, क्षमा, अकुटिलता, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्योंका यथाविधि सेवन, मृत्तिका और जलादिसे बाह्य और रागद्वेष आदि रहित आभ्यन्तरिक शुद्धि शौच अर्थात् पवित्रता, मोक्षके साधनोंमें विघ्नोंके आनेपर भी उद्यमका परित्याग न करके पुनःपुनः प्रयत्नकी अधिकतारूप स्थैर्य, और देह इन्द्रियोंको आत्ममोक्षके प्रतिकूल स्वाभाविक प्रवृत्तिसे निरोध कर मोक्षसाधनमें ही व्यवस्थित करनेरूप आत्मविनिग्रह, ये सब ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानरूप हैं ॥ ७ ॥

इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु भोगेषु दृष्टादृष्टेषु रागाभावोऽहङ्कारविहीनता जन्ममृत्युजराव्याधिषु च पुनः पुनः दोषदर्शनात्मकं वैराग्यसाधनमेतानि सर्वाणि ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानमेवास्ति ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके दृष्टादृष्ट शब्दादिक अर्थोंमें दोष दर्शनरूप वैराग्य, आर निरभिमानता, तथा गर्भवास युक्त जन्ममृत्यु जरा और व्याधि इनमें दुःख और दोषका पुनःपुनः अनुसंधान, ये ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानरूप ही हैं ॥८॥

असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

T

पुत्रस्त्रीगृहादिषु ममताऽऽसक्तिरहितत्वमसक्तिः, तेषु सुखिषु दुःखिषु च सत्सु, स्वस्य तद्भावापत्तिराहित्यमनभिष्वंगः। इष्टानिष्टप्राप्तौ सततं हर्षविषादोदासीनत्वं, सर्वमेतज्ज्ञानशब्देनोच्यते ॥९॥

पुरुष, स्त्री और गृह आदिकोंमें ममतारूप आसक्तिसे रहितपना, और उन स्त्री पुत्रादिकोंके सुखी दुःखी होनेपर निजको सुखी और दुःखी माननेरूप अभिष्वंगसे रहितपना, और सदा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें हर्ष और विषादसे रहितपना, ये सब ही ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानरूप हैं ॥ ९ ॥
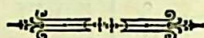
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अभेदेन मयि परमेश्वरेऽव्यभिचारिणी भक्तिः, व्याघ्रादिशून्ये विजने देशे वासः, संसारगोष्ठीष्वरुचिरेतत्सर्वं ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानं कथ्यते ॥ १० ॥

तथा मुझ परमेश्वरमें अव्यभिचारी-(अभेदरूपसे कभी विचलित न होनेवाली) भक्ति, और सर्पव्याघ्रादिसे रहित एकान्त पवित्र देशमें वास, विवेकशून्य सांसारिक जनोंकी सभामें अरुचि, ये भी ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञानरूप हैं ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञाने वेदान्तविचारे निष्ठात्वम्, तत्त्वज्ञाननिवर्त्याविद्यानिवृत्तिप्राप्यपरमानन्दार्थस्य दर्शनं चैतज्ज्ञानमेवोच्यते सर्वैः शास्त्रैर्वेदैश्च। एतस्मात्पूर्वोक्तज्ज्ञानात् भिन्नं विपरीतं सर्वमज्ञानं प्रोक्तम् ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा, और तत्त्वज्ञानसे अविद्यानिवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिमय प्रयोजनरूप अर्थका दर्शन, यह ज्ञान है, इस प्रकार वेद और शास्त्रमें कहा है। और इससे विपरीत जो मानित्व आदिक भाव हैं, वे ज्ञानके विरोधी होनेसे अज्ञान हैं ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अधुना यज्ज्ञेयं (ब्रह्म) तद्ब्रवीमि। यज्ज्ञात्वा बुद्ध्वा ब्रह्मनिष्ठो मुनिर्मोक्षं लभते। तज्ज्ञेयमादिमतः कार्यात् कारणाच्च परं श्रेष्ठं विद्यते। परिच्छेदत्रयातीतत्वात् व्यापकं भिन्नं च विद्यते। न च न्यायशास्त्रे प्रतिपादितपरमाणुवत् सत्, न च शून्यमिवासदस्ति। इदमेव ज्ञेयात्मकस्य शुद्धस्य ब्रह्मणः शुद्धरूपं स्वरूपलक्षणमास्ति।

तथोक्तं श्रुतौ—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" ॥

"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः। निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्"॥ १२ ॥

जो (ब्रह्म) ज्ञेय है उसको अब कहता हूं। जिसे जानकर ब्रह्मनिष्ठ पुरुष मोक्ष पाता है। वह ज्ञेय, आदिमान् कार्यसे भिन्न और श्रेष्ठ है। अथवा आदिमान् कार्य और उसके परे जो कारण है, उन दोनोंसे भिन्न है। और त्रिविध परिच्छेदसे रहित होनेसे सबसे अधिक व्यापक है। न नैयायिकोंके परमाणु आदिके समान सत् और न शून्यके समान असत् कहा जाता है। यह ज्ञेयरूप शुद्ध ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"ब्रह्म-सत्य, ज्ञान, अनन्तरूप है" ॥

"यह आत्मा ब्रह्म अमृत है। और अभय है। ब्रह्मवेत्ता इस परात्माको पाता है। यह आत्मा, प्राण और मनसे भिन्न तथा अक्षरसे भी परे है और यह ब्रह्म कलातीत तथा सर्वविध क्रियाओंसे रहित और शान्तरूप है" ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

तत्पूर्वोक्तं ज्ञेयं परब्रह्मैव सर्वतो हस्तपादम्, सर्वतो मुखनेत्रादियुक्तं, चतुर्दशलोकात्मकं सर्वं लोकमेकपदेन गृहीत्वा, आवृत्य वा तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह ज्ञेय स्वरूप परब्रह्म, सब ओरसे हाथ-पैरवाला, सब ओरसे चक्षु मुख और शिर-वाला, और सब ओरसे श्रवणेंद्रियवाला है। और चर्तुदश लोकमय ब्रह्माण्डरूप सर्व जगत्को एकपादसे वेष्टित करके स्थित है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

तज्ज्ञेयं ब्रह्म, सर्वेन्द्रियगुणाभासं मायां द्वारीकृत्य श्रोत्रादीनां बाह्येन्द्रियाणामाभ्यन्तराणां मनोबुद्धिचित्तानां गुणादीनां शब्दादीनां च साक्षित्वेन प्रकाशकमस्ति । अथच सर्वेन्द्रियविवर्जितामिन्द्रियतद्धर्माणां चोपाधिसंबंधेन रहितमद्वैतं विद्यते । असक्तं ग्राह्यग्राहकरूपे करणविषयमये प्रपंचे लोके न केनापि संबंधेन सक्तमस्ति । सर्वभृत्, दृश्यादृश्यात्मकस्य चतुर्दशभुवनस्य धारकमस्ति । गुणभोक्तृ च, पूजाबलिभोक्तारः सूर्यादयो देवा इव शब्दादीनां गुणविषयाणां च भोक्तृ ज्ञातृ भूत्वापि सत्त्वादिगुणधर्मभावहीनं निर्गुणमस्ति ॥

तथाच श्रुतौ—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । निष्कलं निष्क्रियम् । असंगोऽह्ययं पुरुषः । यत्तदृश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रमपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" ॥ १४ ॥

यह ब्रह्म, मायाद्वारा सब मन आदिक आन्तरिक और श्रोत्रादिक बाह्य इंद्रियोंका तथा उनके गुणोंका साक्षीरूपसे प्रकाशक है किन्तु यथार्थमें सब इन्द्रियोंके और इन्द्रियोंसे उपलक्षित विषयरूपगुणोंसे रहित है । और असक्त है अर्थात् ग्राह्य ग्राहकरूप प्रपंचसे रहित है, और सर्व प्रपंचका आधार है । तथा पूजाबलिके भोक्ता सूर्यादि देवताओंके समान, शब्दादिक गुणोंका भोक्ता अर्थात् ज्ञाता है, किन्तु सत्त्वादि गुणोंसे रहित निर्गुणरूप है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वह ब्रह्म, पाणिपादसे रहित हुआ भी चलता और ग्रहण करता है तथा कर्ण नेत्रसे रहित होकर भी सुनता है, नेत्रशून्य होनेपर भी देखता है वह निष्कल और क्रियाशून्य है । जो अदृश्य है, इन्द्रियोंसे रहित है, नित्य है, चेतन है, व्यापक है, साक्षी और निर्गुण है ॥ १४ ॥

बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

तद् ज्ञेयं परब्रह्म, महाकाशमिव भूतेभ्यो बाह्यं शुद्धं पादत्रयाविशिष्टमस्ति । अथच मेघाकाशमिव मायाशबलितैक-

वह ज्ञेयरूप परब्रह्म ही, मेघाकाशके बाहर महाकाशके समान, भूतोंके बाहर शुद्ध स्वयंप्रकाश तीनपादरूप है । और मेघाकाशके

पादेन भूतग्रामात्मके ब्रह्माण्डेऽपि स्थितमस्ति। तथैव स्थावरजङ्गमात्मकं च विद्यते। तथा सूक्ष्मत्वात्प्रमाणादीनामविषयमविज्ञेयम्। अज्ञानां जनानां तु वैकुण्ठादिदेशवर्तित्वात् दूरस्थम्। ज्ञानिनामभ्रान्तचेतसां तु समीपे स्थितमिति बुद्ध्यते, स्वात्मरूपेण स्वात्मनि स्थितत्वात्। एतद्ब्रह्म सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरं विद्यते। समीपेऽपि दूरेऽनतिदूरे च विद्यते॥

तथाच श्रुतौ–

"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। सर्वं ह्येतत् ब्रह्म सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्"॥ १५॥

समान मायाविशिष्ट एक पादसे भूतसमुदायरूप ब्रह्माण्डके भीतर है। और स्थावरजङ्गम रूप है, और सूक्ष्म होनेसे प्रमाणोंका अविषय है। तथा वह भ्रान्त अज्ञजनोंको, वैकुण्ठादि देशगत प्रतीत होनेसे दूर स्थित है। और अभ्रान्त ब्रह्मज्ञानीको आत्मरूप होनेसे अति समीप है। वह ब्रह्म जगतके अन्तर (मध्य) में है, और इसके बाहर भी है॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"यह सर्व ब्रह्म ही है। सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, दूरसेभी अधिक दूर है और समीपमें ही है, देखनेवालोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित है॥ १५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥

उपाधिनिरुपाधिभ्यां,तज्ज्ञेयं ब्रह्म चराचरात्मकेषु भूतेषु चाभिन्नमेकत्वेन स्थितमपि विभक्तमिव भिन्नं पृथगिव स्थितं विद्यते। स्वाप्निकसृष्टिसाक्षीव, भूतानां पालकं भक्षकमुत्पत्तिकर्तृ च विद्यते॥

तथाच श्रुतौ–

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। व्यक्ताव्यक्तं भाति विश्वमीशः परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति १६

वह ब्रह्म, उपाधि निरुपाधिसे चराचर भूतोंमें अभिन्न है और भिन्नके समान स्थित है। स्वप्न सृष्टिके साक्षीके समान, भूतोंका पालक और ग्रास कर्त्ता तथा उत्पत्तिरूप प्रभवका कर्त्ता है॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"वह एक देव सर्व भूतोंमें गुप्त हुआ है। उसकी कान्ति प्रभावसे ही यह जगत् भासित है। वह ईश ही व्यक्त अव्यक्त विश्वका पालक है। उस अव्यय एक देवमें सब लीन होते हैं"॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

तज्ज्ञेयात्मकं ब्रह्म, बाह्यानां चन्द्रसूर्यादीनां ज्योतिषामाभ्यन्तराणां मनोबुद्धीन्द्रियाणां च प्रकाशकमात्मचैतन्यं ज्योतीरूपमस्ति । अथच भ्रमादिवशकल्पितसर्पेणासंपृक्ता रज्जुरिवाज्ञानकार्यात्मकादन्धकारात्परमसंपृक्तमसंगं चास्तीति कथ्यते। तच्चेतनात्मरूपं ज्ञानं वृत्तिमात्रग्राह्यत्वाद् वृत्तिव्याप्तित्वाज्ज्ञेयं चास्ति । अमानित्वादिसाधनसहितेन अहंब्रह्मास्मीति वृत्तिज्ञानेन प्राप्यमस्ति । साम्यभावेन सर्वत्र व्यापकत्वेन स्थितमपि स्वाविर्भावस्थले हृदि प्रकाशकत्वादपरोक्षत्वेन स्थितमस्ति। एतादृशं ज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वस्वरूपं निरूपितं शास्त्रविद्भिः ।

तथाच श्रुतौ—

"येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च, श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः ॥ आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् । गुहाहितं प्राणिभिर्गुह्यमानमाविः सन्निहितं गुहाचरम् । स एव ज्योतिषां ज्योतिः । स एव परमेश्वरः । स एव हि परब्रह्म । तद्ब्रह्माहमसंशयः" ॥ १७ ॥

वह ज्ञेय रूप ब्रह्म, सूर्य चन्द्र आदि बाह्य ज्योतियोंका तथा मन और बुद्धि आदि रूप अंतर्ज्योतियोंका प्रकाशक आत्मचेतनरूप ज्योति है और कल्पित सर्पसे असङ्ग रज्जुके समान, अज्ञान और तत्कार्य रूप अन्धकारसे परे असङ्ग कहा जाता है । तथा ज्ञेय ब्रह्म चेतन स्वरूप, ज्ञान है, और ज्ञेय है अर्थात ज्ञानरूप वृत्तिमात्रकी विषयतारूप वृत्तिव्याप्तिसे ज्ञेय रूप है, और अमानित्वादि साधन सहित "अहं ब्रह्मास्मि" इस वृत्तिरूप ज्ञानसे प्राप्य है। और सामान्य भावसे सर्वत्र व्यापक हुआ भी सर्वके (स्वाविर्भावके स्थानरूप)हृदयमें प्रकाशक होनेसे अपरोक्ष स्थित है। यह ज्ञेय ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

" जिससे सूर्य अपने तेजद्वारा प्रकाशित है, जो श्रोत्रका भी श्रोत्र है और मनका भी मन है । जो आदित्य वर्ण और तमसे पेर है, जो बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ है । प्राणियोंके द्वारा उसी बुद्धिरूप गुहामें प्रकाशित होरहा है वही ब्रह्म मैं हूं, इसमें संशय नहीं है " ॥ १७ ॥
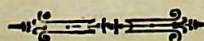
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण महाभूतानीत्यारभ्य धृतिपर्यन्तं क्षेत्रस्वरूपम्, अमानित्वादिश्लोकमारभ्य तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं यावत्साधनरूपं ज्ञानम्, अनादिमत्परं ब्रह्मेत्यारभ्य हृदि सर्वस्य विष्ठितमेतावत्पर्यन्तं ज्ञेयं च समासेन तुभ्यं प्रतिपादितम् । द्वादशाध्यायोक्तलक्षणैः सम्पन्नो मद्भक्त एतां त्रिपुटीं ज्ञात्वा मद्भावाय ब्रह्मभावाय संपद्यते, योग्यो भवतीत्यर्थः॥

तथाच श्रुतौ—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः । " 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'॥१८॥

इस प्रकार महाभूतादिसे लेकर धृति पर्यन्त क्षेत्र, तथा निरभिमानता आदिसे लेकर तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनपर्यन्त साधनारूप ज्ञान, और अनादिमत्पर इससे लेकर हृदि सर्वस्य विष्ठितम् तक ज्ञेयको, मैंने संक्षेपसे कहा है । मेरा भक्त, इन पूर्वोक्त क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"जिसकी परमात्मा देवमें पराभक्ति है और वैसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुमें है । साधन सहित उपदेश किया हुआ ब्रह्म ज्ञान, उस भक्त महात्माके हृदयमें प्रकाशित होता है, ब्रह्मवित् ब्रह्म ही होता है " ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! त्वं, प्रकृतिं मायां पुरुषं चोभावनादी जानीहि । तथाच पञ्चभूतानि सान्तःकरणान्येकादशेन्द्रियाणि तेषाञ्च गोचरा विषयाः शब्दादय इच्छादयश्च त्रयः सत्त्वादयो गुणाः इत्येतत्सर्वं प्रकृतिजन्यमिति विद्धि ॥ १९ ॥

प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही उत्पत्ति रहित जान, और पञ्चभूत और मन सहित ग्यारह इन्द्रियें ये षोडश, और उनके विषय इच्छा आदिक इन विकारोंको, और सुख दुःख मोहमय सत रज तम इन तीनों गुणोंको, प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले ही जान ॥ १९ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

T

कार्यकरणयोः शरीरस्य मनोबुद्धिचित्तसहितस्येन्द्रियदशकस्य करणस्य च कर्तृत्वे हेतुः, प्रकृतिः कथ्यते । संसारोपादानकारणं प्रकृतिरेव भवतीति । अथ च सुखदुःखयोर्भोक्तृत्वे अन्तःकरणविशिष्टपुरुषः कारणमुच्यते श्रुतिस्मृतिषु ।

तथाच श्रुतौ-

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" ॥ २० ॥

कार्य अर्थात् शरीर और करण अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और चित्तरूप त्रयोदश इन्द्रियोंके कर्तापनमें प्रकृति ही हेतु कही जाती है । अर्थात् संसारकी उपादानकारण प्रकृति कही जाती है । तथा सुख दुःखके भोक्तापनमें अन्तःकरण विशिष्ट पुरुष ही, श्रुति और स्मृतियोंमें कारण कहा जाता है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है-

"बुद्धिमान पुरुष, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं । वास्तवमें अभोक्ता है" ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अयं पूर्वोक्तः जीवः क्षेत्रज्ञः पुरुषो देहेन्द्रियसंघातरूपायां प्रकृतौ तादात्म्याध्यासेन स्थितः सन् प्रकृतिजातान्सुखदुःखादीन्गुणाननुभवति भुंक्ते। अथ चास्य पुरुषस्य शुभाशुभात्मिकासु देवराक्षसादिषु योनिषु जन्मनः कारणमस्य गुणत्रयस्वरूपायाः प्रकृतेः जायमानैर्गुणैः सह तादात्म्यसम्बन्ध एवास्ति । वस्तुतस्तु पुरुषोऽयं घटाकाशमिवासंगो विद्यते ॥

तथाच श्रुतौ-

"असंगो ह्ययं पुरुषः आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" ॥ २१ ॥

यह पुरुष, देहेन्द्रियके संघातरूप प्रकृतिमें स्थित हुआ अर्थात् उनके साथ तादात्म्यअध्यासको प्राप्त हुआ, प्रकृतिजन्य सुख दुःखादिक गुणोंको भोगता है । और इसका शुभ देवादियोनियोंमें और पश्वादि अशुभ योनियोंमें जन्म लेनेका कारण अभिमानपूर्वक प्रकृतिजन्य गुणोंके साथ संयोग ही है । वास्तवमें आत्मा घटाकाश महाकाशके समान असङ्ग ही है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है-

"यह आत्मा, आकाशके समान असंग सर्वगत और नित्य है" ॥ २१ ॥

उपद्रष्टाऽनुमंता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

जडचेतनसंघातात्मके देहेऽयमेव क्षेत्रज्ञः पुरुषः परः परमात्मा, स एव व्यापारक्रिया-शून्यत्वात्केवलमुपद्रष्टा तथैवानुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वरः, परमेश्वरः, परमात्मा च, स एव अस्तीति श्रुतिशास्त्रैः कथितः ॥

तथाच श्रुतौ--

" उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा । ईशानो भूतभव्यस्य । चिदेकरसो ह्ययमात्मा । स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" ॥ २२ ॥

इस जड़ चेतन संघातरूप देहमें जो क्षेत्रज्ञ परपुरुष है, वह, उपद्रष्टा अर्थात् व्यापारसे रहित हुआ केवल देखनेवाला और अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर तथा परमात्मा (नामोंसे) श्रुति शास्त्रोंमें कथन किया गया है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है--

"यह आत्मा उपद्रष्टा और अनुमन्ता है । यह भूत भविष्योंमें होनेवालोंका स्वामी है । यह एकरस चित्तरूप है । हे श्वेतकेतो ! यह आत्मा तुमही हो" ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

य प्राप्ताधिकारो मुमुक्षुरेवं संगरहितं शुद्धं क्षेत्रज्ञं पुरुषं सविकारां गुणत्रयविशिष्टां प्रकृतिं च वेत्ति । सः पुरुषः सर्वेण प्रकारेण वर्तमानो जनकादिवत् वैदिक-लौकिक-व्यवहारं कुर्वाणोऽपि पुनर्जन्म न लभते ॥

तथाच श्रुतौ--

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति । तस्य तावदेव चिरम्, इषीकातूलवत्सर्वाणि कर्माणि प्रदूयन्ते" ॥

जो अधिकारी पुरुष, इस पूर्वोक्त प्रकारसे असङ्ग और शुद्ध क्षेत्रज्ञरूप पुरुषको तथा विकाररूप गुणोंसहित अविद्यारूप मिथ्या प्रकृतिको जानता है । वह, सर्वथा वैदिक लौकिक व्यवहारोंको जनक शुकादिकोंकी नाई करता हुआ भी पुनः जन्म नहीं लेता ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है--

"उस परमात्मदेव परावरका साक्षात्कार करनेपर विद्वान पुरुषके समस्त कर्म नाश होजाते हैं । ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होजाता है । उस विद्वान्‌को जीवन्मुक्त दशामें उतनेही काल तक, विलम्ब है । जबतक उसका

T

यथाच भागवते–

"बीजान्येवाग्निदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः । ज्ञानदग्धैस्तथाक्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः" ॥ २३ ॥

शरीर नहीं छूटा है । तिनकाके पुंजके समान इस ब्रह्मवेत्ताके सब कर्म दग्ध होजाते हैं" ।

जैसा भागवतमें कहा है–

"जिस तरह अग्निदग्धबीज पुनःनहीं उगता है । उसीतरह ज्ञानसे सर्वक्लेशोंके दग्ध हो जानेपर पुनःशरीरको ग्रहण नहीं करता है"२३

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

केचन पुरुषाः, अहंब्रह्मास्मीति ध्यानधारया ब्रह्मरूपात्मनि महाकाशे घटाकाशमिव ब्रह्माभिन्नं साक्षिणमात्मानं सर्वविषयविकाररहितेन शुद्धचेतसाऽऽत्मना पश्यन्ति । अन्ये च, सांख्येन श्रवण-मनन-निदिध्यासनविधानेनात्मचिन्तनात्मकयोगद्वारेण च जानन्ति । अन्ये कर्मिणो जनाः निष्कामवैदिककर्माचरणेन कर्मयोगेन स्वान्तःकरणशुद्धिपूर्वकं श्रवणमननरीत्या स्वात्मसाक्षात्कारं कुर्वन्ति ॥२४॥

कई एक, अहंब्रह्मास्मि ध्यानसे ब्रह्मरूप आत्मामें महाकाशमें घटाकाशके समान ब्रह्मसे अभिन्न साक्षीरूप आत्माको ब्रह्माकार बुद्धिरूप आत्मासे देखते हैं । और अन्य पुरुष, सांख्य अर्थात् श्रवण–मननद्वारा आत्मचिन्तनरूप योगसे देखते हैं । तथा अन्य अधिकारी पुरुष, निष्काम वैदिक कर्मयोगसे अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा, श्रवण–मननादिसे आत्माका साक्षात्कार करते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

ये च पुरुषा एवंप्रकारेणात्मानं न जानानास्तत्त्वविदो गुरोः सकाशात् वेदान्तश्रवणं कृत्वा तदर्थमननं च विधाय प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मोपासते । तेऽपि श्रवणपरायणा जन्ममृत्युरूपं संसारमतितरन्त्येव । विष्णुपदं यान्ति ते ॥

जो अन्य पुरुष, इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको न जानते हुए, तत्त्ववेत्ता गुरुओंसे वेदान्त शास्त्रका श्रवण करनेके बाद उस अर्थका मनन करके प्रत्यक्अभिन्न ब्रह्मरूप स्वात्माको उपासते हैं । वे अधिकारी जन भी, श्रवणपरायण हुए, इस जन्म मृत्युरूप संसारको अवश्य अतिक्रमण करते हैं अर्थात्

तथाच श्रुतौ—

"तदेतद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ २५ ॥

विष्णुपदको प्राप्त होते हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वही विष्णुका परम पद है, जिसको जितेन्द्रिय वीर संन्यासी पुरुष, 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा साक्षात्कार करते हैं" ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ,अर्जुन ! यावत्किमपि स्थावरजङ्गमात्मकं त्रिगुणं वस्तु समुत्पद्यते, तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्योन्यतादात्म्याध्यासरूपात् संयोगादेव जायते, इति विद्धि ॥ २६ ॥

हे भरतकुलभूषण, अर्जुन ! जितना कुछ त्रिगुणात्मक स्थावर जङ्गम रूप, प्राणियोंका समुदाय उत्पन्न होता है । उसे, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्योन्यतादात्म्य अध्यासमय सम्बन्धरूप संयोगसे ही उत्पन्न हुआ जान ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

यो, विनाशस्वभावेषु सर्वेषु शरीरमयेषु ब्रह्मादिस्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु समस्वभावेन स्थितमविनाशिनं परमेश्वरं परमात्मानं पश्यति, स एव पश्यति । स एव यथार्थदर्शी जीवन्मुक्तोऽस्तीत्यर्थः ॥

यथाच श्रुतौ—

"अशरीरं शरीरेष्ववनस्थितेष्ववास्थितम् । अविनाशी वारेऽयमात्मा" ॥ २७ ॥

विनाशशील ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सर्व प्राणियोंमें समान भावसे स्थित, अविनाशी क्षेत्रज्ञ पुरुषरूप सर्व देवोंके ईश्वर परमेश्वरको, जो देखता है, वह देखता है अर्थात् वह यथार्थदर्शी जीवन्मुक्त है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"शरीरोंमें वह शरीररहित है, विनाशी पदार्थोंमें अविनाशी रूपसे स्थित है । यह आत्मा अविनाशी है" ॥ २७ ॥

T

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु समवस्थितमीश्वरं परमात्मरूपं स्वात्मानं सममेकत्वेन पश्यन् ब्रह्मनिष्ठः पुरुषो येन भेददृष्टेरभावेनात्मनात्मानमज्ञ इव न हिनास्ति न हन्ति, स तेनैव अभेदज्ञानेन भेदाभावकारणात् परां गतिं मोक्षमाप्नोति ॥

तथा च श्रुतौ—

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् " ॥ २८ ॥

सर्व भूतोंमें सम तथा भलीप्रकारसे स्थित ईश्वररूप आत्माको समरूपसे देखता हुआ, परब्रह्मनिष्ठ पुरुष, जिस भेद रूप दृष्टिका अभाव होनेसे आत्माको अज्ञानी पुरुषके समान हनन नहीं करता है । इसी कारणसे वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"एकही आत्मा,सब भूतोंमें स्थित है । वही जलमें चन्द्रके प्रतिबिम्बोंके समान नानारूपसे प्रतीत होता है" ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

सर्वथा शरीरादिमय्या प्रकृत्यैव प्रेर्यमाणानि क्रियमाणानि सर्वाणि कर्माणि भवन्तीति यः पश्यति । तथा स्वात्मानमकर्तारं च पश्यति जानाति । स एव सम्यग्दर्शी ॥

तथाच श्रुतौ—

" मायां तु प्रकृतिं विद्यात् " ॥ २९ ॥

जो, शरीरादि क्षेत्ररूप प्रकृतिसे ही सर्व प्रकारके कर्मोंको क्रियमाण देखता है । तथा आत्माको अकर्त्ता देखता है, वही देखता है । अर्थात् वह सम्यग्दर्शी है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"मायाको प्रकृति समझना चाहिये" ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

यदा मुमुक्षुर्जनो भूतानां भिन्नं भावमेकस्मिन्नधिष्ठाने ब्रह्मणि स्थितम् अध्य-

जब भूतोंके भिन्न भिन्न भावोंको एक अधिष्ठान ब्रह्ममें स्थित (अर्थात् अध्यस्त

स्तत्वाद्ब्रह्मणोऽभिन्नमनुभवपूर्वकं पश्यति। अथच मूलाविद्योपहिताद्ब्रह्मण एव जीवानां देहाभिमानिनां प्रारब्धकर्मानिमित्तेन जायमानस्य प्रपञ्चस्य स्वप्ने प्रतीयमानस्य गजादेरिव रज्ज्वां सर्पादेरिव तस्य संसारस्य स्थितलयोपलक्षणं विस्तारं पश्यति जानाति,बाधसमानाधिकरणेनानुभवति। अर्थात् ब्रह्मणो जायमानं जगत्कार्यं न ततो भिन्नं, किन्तु तद्रूपमेवास्तीति वेत्ति। तदैव स ब्रह्म समाप्नोति॥

तथाच श्रुतौ—

"यथा स्वप्नप्रपंचोऽयं मयि मायाविजृम्भितः। तथा जाग्रत्पपंचोऽयं मयि मायाविजृम्भितः॥ इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत्" "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"॥ ३०॥

होनेसे ब्रह्मसे अभिन्न है ऐसा) गुरुशास्त्रद्वारा अनुभवपूर्वक देखता है। और मूला अविद्या उपहित उस ब्रह्म चेतनरूप अधिष्ठानसे ही जीवोंके प्रारब्धकर्मरूप निमित्तद्वारा उत्पन्न प्रपञ्चको, स्वप्नके गजादिक वा रज्जुमें सर्पादिके समान असत् होते हुए भी भासमान देखता है, अर्थात् ब्रह्मका कार्य जगत्, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। किन्तु ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार जानता है, तब ब्रह्मको प्राप्त होता है॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जिस तरह यह स्वप्नरूपी प्रंपच मुझमें मायासे कल्पित है, उसीतरह यह जाग्रत् प्रपंच भी मुझमें मायासे कल्पित है। ऐसा जो वेदान्त और अनुभवसे जानता है। वही जीवन्मुक्त संन्यासी परमहंस अति आश्रमी है। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होता है"॥ ३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते॥ ३१॥

हे कौन्तेय! निर्गुणत्वादनादित्वाच्चायं परमात्माऽव्ययः सन्नपि शरीरे स्थितोऽपि, शरीरोपयोगीनि कर्माणि कुर्वाण इति मूढैः प्रतीयमानः सन्नपि वस्तुतस्तु न करोति। अतएव कर्मणः शुभाशुभात्मकैः फलैर्न लिप्यते। एतत्पदेन ब्रह्मनिष्ठानां

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन! अनादि होनेसे तथा निर्गुण होनेसे यह(परमात्मा)अव्यय है। ऐसा आत्मा, इस शरीरमें स्थित हुआ भी,तथा मूढ पुरुषोंको कर्मोंको करते हुएके समान भासता हुआ भी, वास्तवमें आप नहीं करता है। इसी कारण वह शुभाशुभकर्मके सुखदुःखरूप फलोंसे लिप्त नहीं होता है। इस पदसे

T

संन्यासिनां कर्माधिकारो निरस्त इति सूचितम् ॥ ३१ ॥

ब्रह्मनिष्ठ परम हंस संन्यासियोंको कर्म करनेके अधिकारको निषिद्ध किया है ॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा कृत्स्नजगद्व्यापि नभः, सूक्ष्मत्वादसंगत्वाच्च धूल्यादिदोषैर्न लिप्यते, तत्संसर्गदोषरहितं भवति । तथैव सर्वत्र व्यष्टिसमष्टिरूपे देहेऽवस्थितोऽप्यसंगोऽयमात्मा देहव्यापारैर्न लिप्यते ।

तथाच श्रुतौ–

"असंगो ह्ययमात्मा, आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" ॥ ३२ ॥

जिसप्रकार समग्र ब्रह्माण्डमें पूर्ण असङ्ग महाकाश सूक्ष्म होनेसे धूलि-धूम-आदि दोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसीप्रकार सर्व समष्टिव्यष्टिरूप देहमें स्थित, यह एक असंग आत्मा, देहके व्यापारोंसे लिप्त नहीं होता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"यह एक आत्मा असंग है । और आकाशके समान सर्वगत नित्य है"॥ ३२ ॥

यथाऽप्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे भरतर्षभ ! यथा चैकः सूर्यः कृत्स्नं जगदिदं प्रकाशयाति । तथैवायं क्षेत्रज्ञो क्षेत्री परमात्मा व्यष्टिसमष्टिरूपं सर्वं क्षेत्रं स्वसत्तया प्रकाशयति । स्वयमलिप्तश्च भवति ॥ ३३ ॥

हे भरतवंशी, अर्जुन ! जिस प्रकार एक सूर्य इस संपूर्ण लोकको प्रकाशित करता है । उसीप्रकार क्षेत्रज्ञ क्षेत्री परमात्मा, समष्टिव्यष्टिरूप सम्पूर्ण क्षेत्रको अपनी सत्ताद्वारा प्रकाशित करता है, और स्वयं अलिप्त है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

T

ये च मुमुक्षवो विद्वांसो जनाः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरन्तरभेदं विनाशाविनाशत्वादिकं, आचार्यश्रुतिशास्त्रोपजनित-ज्ञानदृष्टया पश्यन्तो भूतकारणस्य मायायाश्च,अत्यंताभावं विदंति। ते ब्रह्मविदः, कैवल्यलक्षणां मुक्तिमासादयन्ति। न जन्म लभन्ते॥

जो विद्वान, क्षेत्रके विनाशादिधर्मोंको और क्षेत्रज्ञ आत्माके अविनाशी आदि धर्मोंको, श्रुति और आचार्यके उपदेश द्वारा स्वयं अपने ज्ञान चक्षुसे देखते हैं। तथा भूतोंके उपादान कारणरूप मायाका अत्यन्ताभाव आत्मामें जानते हैं। वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष,कैवल्य मोक्षरूप परमपदको प्राप्त होते हैं। पुनः जन्मको ग्रहण नहीं करते॥ ३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

अध्यायसमाप्ति-मंगलाचरणम्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञभेदं विमलमतिमतां प्राह मुक्त्यै य ईशो,
ज्ञानज्ञेयावबोधं प्रतिपदममृतं दर्शयामास सम्यक्।
भक्तेभ्यः प्रीतिमद्भ्यो विशदपदमुदेत्यस्य भक्त्या मुमुक्षो-
स्तं श्रीकान्तं मुकुन्दं निरवधिचरितं कृष्णमाराधयामि॥१॥

यः, ईशः विमलमतिमतां मुक्त्यै क्षेत्र-क्षेत्रज्ञभेदं प्राह। यः प्रीतिमद्भ्यः भक्तेभ्यः प्रतिपदं ज्ञान-ज्ञेयावबोधममृतं सम्यक् दर्शयामास। यस्य भक्त्या अस्य मुमुक्षोः विशदपदमुदेति। तं निरवधिचरितं श्रीकान्तं मुकुन्दं कृष्णमाराधयामि॥ १॥

जो ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान्, शुद्ध बुद्धिवालोंको मुक्तिके लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेद बोले, और प्रेमरखनेवाले अपने भक्तोंको, हर एक पदमें ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है ? इसका रहस्य अमृत अच्छी तरह दिखाया। और जिस परब्रह्मकी भक्तिसे मुमुक्षु पुरुषको निर्मल ब्रह्मपद प्राप्त होता है। उस अपरिमितचरित्रवाले लक्ष्मीके पति मुकुन्द श्रीकृष्ण भगवान्की, मैं आराधना करता हूँ॥ १॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य-स्वामी-निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत-अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः॥ १३॥

T

ॐ

परमात्मने नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ गुणत्रयविभागो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

अध्याय–मंगलाचरणम् ।

गुणातीतालम्बं परमपदमम्भोधररुचम्,
विचित्रारम्भान्तर्गतगुणकलालम्बममलम् ।
स्वयंभूशंभुश्रीनिधिगुणविलासांकितपदम्,
मुकुन्दं वन्देऽहं प्रकृतिगुणदम्भादिहरणम् ॥ १ ॥

गुण–अतीत–आलम्बं, परमपदम्, अम्भोधररुचम्, विचित्र-आरम्भ-अन्तर्गत-गुण–कला-आलम्बम्, अमलम्, स्वयंभू-शंभु-श्री-निधि-गुण-विलास--अङ्कितपदम्, प्रकृति-गुण-दम्भ–आदि–हरणं मुकुन्दम्, अहं वन्दे ॥ १ ॥

निर्गुण स्वरूप, गुणातीत पुरुषोंके आधार परम पद ब्रह्मस्वरूप, मेघके सदृश कान्तिमान, सृष्टिके विचित्र आरम्भके भीतर आये हुए गुण और कलाओंके आधारभूत, मायादिदोषोंसे रहित, ब्रह्मा महेश लक्ष्मी सब प्रकारकी नव निधि तथा गुण और भोग विलासादि वैभवोंसे युक्त चरणवाले, प्रकृतिके गुण अहंकार आदि दोषोंको हरण करनेवाले, मुकुन्द श्रीकृष्ण भगवानको, मैं नमस्कार करता हूँ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

T

वासुदेवो भगवानुवाच । हे अर्जुन ! सर्वेषां ज्ञानानां मध्ये उत्तमं परं श्रेष्ठं ज्ञानं सविस्तरं पुनः कथयामि, सूक्ष्मत्वात्तस्य । यद् बुद्ध्वा सर्वे शुकादयः संन्यासिनो मुनयोऽस्माल्लोकाद्विदेहमुक्तिरूपां परमोत्कृष्टां सिद्धिं गता आसन् ॥

तथा च श्रुतौ—

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति । विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी, आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" ॥ १ ॥

श्री वासुदेव भगवान् बोले—हे अर्जुन ! सर्व ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञानको विस्तारसहित फिर कहता हूं । जिसे जानकर सर्व शुक सनकादिक—मननशील संन्यासी मुनि, इस लोकसे परामुक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जब द्रष्टा मुनि, कनकवर्णवाले ब्रह्म (वेद) के योनि पुरुषका दर्शन करता है । तभी पुण्य और पापोंको दूरकर निरंजन मायामलरहित परम पुरुषकी साम्यताको प्राप्त होता है । यह प्राणरूप सर्वभूतोंसे युक्त हुआ शोभित है । इस तत्त्वको जाननेवाला अतिवादी नहीं होता । वह आत्मक्रीड और आत्मरति होता है । तथा वही विद्वानोंमें श्रेष्ठ क्रियावान् कहाता है" ॥ १ ॥
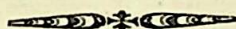
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

एतत् वक्ष्यमाणं प्रधानब्रह्मज्ञानसाधनावान्तरज्ञानं समाश्रित्य मम ब्रह्मणः साधर्म्यं ब्रह्मभावं प्राप्ता ज्ञानिनो जनाः सृष्टिकाले नोत्पद्यन्ते । न च प्रलयावसरे प्रपीडचन्ते ॥ २ ॥

मुख्य ज्ञानके साधनरूप इस अवान्तर ज्ञानको आश्रय करके मुझ शुद्ध ब्रह्मके साधर्म्य अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त हुये तत्त्वज्ञानी, न सृष्टिकालमें उत्पन्न होते हैं । और न प्रलय अर्थात् ब्रह्माके विनाशकालमें पीडित होते हैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

T

हे भरतकुलसंभूत, अर्जुन! त्रिगुणात्मिका मायैव महद्ब्रह्म ममेश्वरस्य गर्भाधानस्य स्थानं योनिरस्ति। तस्यां महद्ब्रह्मात्मिकायां योनौ सङ्कल्परूपं गर्भं दधामि। ततो गर्भादेव सर्वभूतोत्पत्तिर्भवति। अर्थात् ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तं जगदुत्पद्यते॥

यथाच श्रुतौ—

"एकोऽहं बहुस्यामथ प्रजायेय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"॥ ३॥

हे भरतकुलसंभूत, अर्जुन! महत् ब्रह्म अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया ही, मुझ-ईश्वर अर्थात् परब्रह्मके गर्भाधानका स्थान है। उस मायामें मैं—ईश्वर, सङ्कल्परूपी गर्भ धारण करता हूं। उस गर्भाधानसे ही सर्व भूतोंकी उत्पत्ति होती है अर्थात् हिरण्यगर्भसे लेकर पिपीलिकापर्यन्त सबकी उत्पत्ति होती है॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

"मैं एक ही परमात्मादेव अनन्तरूप होता हूं, इन्द्र परमात्मदेव अपनी मायासे बहुतसे रूप धारण करता है"॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्त्तयः संभवंति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ ४॥

हे पार्थ! देव-पितृ-मनुष्य-पश्वादि-योनिषु ये शरीरधारिणो जना जायन्ते तेषां शरीराणां माता सैव माया महद्ब्रह्म भवति। अहं परं ब्रह्म तु, तेषां गर्भाधानकर्तृत्वात्पिता भवामि॥ ४॥

हे कुन्तीतनय, अर्जुन! देव मनुष्य पितर पशु और मृग आदि सर्व योनियोंमें जो शरीरधारी उत्पन्न होते हैं, उन शरीरोंकी वह महद्ब्रह्म (माया) ही माता रूप है। मैं परब्रह्म तो, गर्भाधानका कर्त्ता पिता हूँ॥ ४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ ५॥

हे महाबाहो! इमे सत्त्वरजस्तमोगुणाः मायासमुत्पन्नाः सन्ति। इमे त्रयो गुणाः, देहेऽस्मिन् अव्ययं देहिनमात्मानं, अहंममाध्यासेन बध्नन्ति॥ ५॥

हे ज्ञानवैराग्यरूप महान् भुजाओंवाले, अर्जुन! सत्त्व, रज और तम ये मायासे उत्पन्न हुए तीन गुण, अहंममरूपअध्याससे इस देहमें (स्थित) अविनाशी देही अर्थात् आत्माको बांधते हैं॥ ५॥
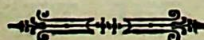
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चाऽनघ ॥ ६ ॥

हे अनघ पापरहितार्जुन ! तेषां गुणत्रयाणां मध्ये निर्मलत्वात्प्रकाशकोऽनामयो दुःखरहितः सत्त्वगुणोऽसङ्गिनमात्मानं सुखाध्याससङ्गेन ज्ञानाध्यासात्मकसङ्गेन च बध्नाति । स्ववशवर्तिनं करोतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

हे निष्पाप, अर्जुन ! उन उक्त तीन गुणोंमेंसे निर्मल, प्रकाशक, और दुःख–रहित सत्त्वगुण, असङ्ग आत्माको सुखके अध्यासरूप सङ्गसे और ज्ञानके अध्यासरूप सङ्गसे बांधता है अर्थात् स्ववश करता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे पार्थ ! वस्तुप्राप्तीच्छारूपायास्तृष्णायाः तथा प्राप्तवस्तुसंरक्षणेच्छारूपसंगाच्च जायमानं रजोगुणं, रागस्वरूपमेव विद्धि । स च रजोगुणो, देहाध्यासिनं क्षेत्रज्ञं कर्मसंगेन स्वात्मानि कर्मणामारोपणात्मकेन सङ्गेन बध्नाति ॥ ७ ॥

हे कुन्तीतनय, अर्जुन ! अप्राप्त वस्तुकी इच्छारूप तृष्णा और प्राप्त वस्तुके संरक्षणकी इच्छारूप सङ्गसे रजोगुणकी उत्पत्ति होती है, इससे रजोगुणको तू रागरूप जान । वह, देहाध्यासको प्राप्त क्षेत्रज्ञ आत्माको कर्मके संगरूप अध्याससे बांधता है ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भरतकुलभूषण, अर्जुन ! तमोगुणं तु द्वाभ्यां भिन्नमावरणरूपमज्ञानजं विद्धि । स च, सर्वान्देहाध्यासिनो जनान् मोहयति । तेषाममविवेककारणं भवतीत्यर्थः । स एव प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान् बध्नाति॥८॥

हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! तमोगुणको तो, उन दोनोंसे भिन्न आवरणरूप अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान । वह, सर्व देहाभिमानी जीवोंको मोहित करनेवाला है अर्थात् उसे अविवेकरूप भ्रान्तिका कारण जान, वह, प्रमाद आलस्य और निद्रासे बांधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयन्युत ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण इमं जीवात्मानं सुखे योजयाति, रजोगुणः कर्मणि नियुंक्ते, तमोगुणश्च ज्ञानमाच्छाद्य प्रमादे संजयाति, निक्षिपतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

हे भरतवंशी अर्जुन ! सत्त्व गुण, इस पुरुषको सुखमें संयुक्त करता है, रजोगुण, कर्ममें संयुक्त करता है और तमोगुण तो, ज्ञानको आच्छादित करके प्रमादमें ही संयुक्त करता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सत्त्वगुणस्तु,रजस्तमसी निर्धूय स्वकार्ये सुखे ज्ञाने च प्रवर्त्तते। रजोगुणश्च, सत्वं तमश्च तिरस्कृत्य वृद्धिंगतः स्वकार्ये प्रवृत्तो भवति। तमोगुणोऽपि सतोगुणं रजोगुणश्चाभिभूय, स्वकर्मणि सक्तो भवति॥१०॥

हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको तिरस्कृत करके बुद्धिको प्राप्त हुआ सतो गुण, स्वकार्यमें प्रवृत होता है । और रजोगुणभी, सतोगुण और तमोगुणको ही तिरस्कृत करके वृद्धिको प्राप्त हुआ स्वकार्यमें प्राप्त होता है । वैसे ही तमोगुण भी, सतोगुण और रजोगुणको दबाकर स्वकार्यमें प्रवृत्त होता है ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

यदा, भोगायतनेऽस्मिन् देहे सर्वेषु श्रोत्रादीन्द्रियात्मकेषु द्वारेषु बुद्धिवृत्त्या ज्ञानं प्रकाशो जायते । तदा सत्त्वं वृद्धिं गतमेव विद्धि त्वम् ॥ ११ ॥

इस भोगके आयतन देहस्थित श्रोत्रादि इन्द्रियरूप सर्वद्वारोंमें, जब बुद्धिवृत्तिसे ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है, उस समय सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त हुआ है, इसप्रकार जानो ॥ ११ ॥

T

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

रजसि वर्धमाने तु, लोभो भोग्यानि वस्तूनि लब्धुं प्रयतनात्मिका राजसी राग-द्वेषात्मिका प्रवृत्तिः, काम्यकर्मणां समारंभ उद्योगः, इदं कृत्वेदं करिष्यामीति कार्यादनुपरामोऽशमः, अन्येषां वैभवं प्रसमीक्ष्य तत्प्राप्तिस्पृहा च जायते, अर्थात् रजोलिंगानि पूर्वोक्तान्येतानि जायन्ते ॥१२॥

हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर, लोभ–नित्यभोग वस्तुकी प्राप्तिके अर्थ प्रयत्नशीलतारूप राग द्वेषादि प्रवृत्ति, काम्यकर्मोंका उद्यमरूप आरम्भ, "यह करके यह करूंगा" इसप्रकार कर्मसे अनुपरामरूप अनुपशम अर्थात् अशान्ति, और दूसरोंके वैभवादि देखकर उसीके समान प्राप्तिकी अभिलाषारूप स्पृहा, ये चिह्न उपजते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥

हे पार्थ ! तमोगुणे वृद्धिं याते तु, बोधकारणे गुरुशास्त्रादौ सत्यपि स्वात्मबोधनाभावोऽप्रकाशः, धर्मेऽप्रवृत्तिः, कर्त्तव्यकर्मणां विस्मरणं प्रमादः विपरीतज्ञानं वा, मोहः कार्याकार्ययोरविवेकः,एतत्तमोलिंगानि जायन्ते ॥ १३ ॥

हे कुरुकुलके आनन्दकारी अर्जुन ! तमोगुणकी वृद्धि होनेपर ही, गुरुशास्त्र आदिक बोधका कारणोंके विद्यमान होते हुए भी, बोधके अनुत्पत्तिरूप अप्रकाश, और धर्ममें प्रवृत्तिकी अयोग्यतारूप अप्रवृत्ति । कर्त्तव्यतासे प्राप्त कर्त्तव्यका विस्मरण,कार्य और अकार्योंका अविवेक प्रमाद, और आलस्य, विपरीत ज्ञानरूप मोह, ये तमोगुणके चिह्न उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

यदा प्राणी, सत्त्वे गुणे वृद्धिं याते सति प्राणान्मुञ्चति । तदा स, उत्तमज्ञानिनां ब्रह्मलोकविदां रजस्तमोमलादूषितान् दिव्यभोगपूर्णानुत्तमलोकान् यांति ॥ १४ ॥

देहधारी अर्थात् देहाभिमानी जीव, जब सत्त्व गुणके अतिवृद्धिको प्राप्त होनेपर मरणको प्राप्त होता है । तब उत्तम ज्ञानियोंके, रज तम रूप मल रहित दिव्य भोगयुक्त सत्यादिलोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

वृद्धिं प्राप्ते रजोगुणे मृत्युं गतो मानवः, कर्मफलासक्तिमतां पुरुषाणां लोके सञ्जायते । तथैव तमसि वृद्धे प्रलयं गतः तिर्यक्स्थावरादिषु पश्वादियोनिषु जन्म लभते ॥ १५ ॥

वृद्धिको प्राप्त हुये रजोगुणमें मरणको प्राप्त हुआ पुरुष, कर्मके सङ्गी अर्थात् कर्मफलासक्त सकामी पुरुषोंमें उत्पन्न होता है । तथा वृद्धिको प्राप्त हुए तमोगुणमें मृत हुआ पुरुष,तिर्यक् और स्थावररूप पश्वादिक योनियोंमें जन्म लेता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

रजस्तमोरहितस्य सात्त्विकस्य धर्मपर्यायस्य पुण्यकर्मणो यन्निर्मलं फलं, तत्सत्त्वोपादानकं कार्यमुच्यते । ततो भिन्नं रजोगुणोपादानकं पापमिश्रितपुण्यनिमित्तेन जायमानं सुखमिश्रितं दुःखं, रजसो गुणस्य फलमस्ति । अज्ञानं च, तमोगुणात्मकस्योपादानस्य फलं भवति ॥१६॥

रज-तम-रूप मलोंसे रहित, सात्त्विक पुण्य कर्मके निर्मलफलको, सत्त्व गुणका कार्य कहते हैं । उससे विलक्षण रजोगुणरूप उपादानका, पापमिश्रित-पुण्यकर्मरूपनिमित्तसे उत्पन्न सुखमिश्रित दुःख फल है । और तमोगुणरूप उपादानका, अज्ञान फल है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणात्प्रकाशकरूपं ज्ञानमुत्पद्यते । रजसश्चाप्राप्तवस्तुनोऽभिलाषो लोभ एवो-त्पद्यते । तमसश्च प्रमादमोहौ, तथा तद्धे-तुरज्ञानं च जायते ॥ १७ ॥

सत्त्वगुणसे, प्रकाशरूप स्पष्टज्ञान उपजता है । और रजोगुणसे, अप्राप्तवस्तुकी इच्छा-रूप लोभ ही उपजता है । और तमोगुणसे, प्रमाद और मोह होते हैं, प्रमाद और मोहका हेतु अज्ञान भी वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥

सत्त्वे गुणेऽवस्थिताः पुरुषा आब्रह्मलोकं देवाँल्लोकान्यान्ति । रजोगुणिनो जनाः, पुण्यपापोभयात्मके मध्ये मानुषे लोके तिष्ठन्ति । निद्रादितामसगुणे रता निकृष्ट-तमोगुणवन्तो जनाः, निकृष्टां पश्वादियोनिं यान्ति । ते क्षुद्राःपशुकीटपतङ्गादिषु योनिषु जन्म लभन्ते ॥ १८ ॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष, ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊपरके देवलोकोंको प्राप्त होते हैं । और रजोगुणी पुरुष, पुण्यपापमिश्रित मध्यरूप मनुष्य लोकमें स्थित होते हैं । और निद्राआदिरूप तामस आचरणमें रत, निकृष्ट तमोगुणीवृत्तिमें स्थित तमोगुणी पुरुष, पश्वादिक नीचयोनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

यदाऽयं द्रष्टा क्षेत्रज्ञः पुरुषः, सत्त्वादि-गुणान् विनाऽन्यं कर्मणां कर्त्तारं न पश्यति । आत्मानं च विशेषावस्थामाप-न्नेभ्यो गुणेभ्यश्च परं प्रत्यगभिन्नं गुणा-तीतं साक्षिणं च वेत्ति । तदा स मुमुक्षुः, मद्भावं ब्रह्मरूपतामेति ॥

जब यह द्रष्टा-अर्थात् ज्ञाता पुरुष, सात्त्वि-कादि गुणोंसे अन्य किसी कर्त्ताको नहीं देखता है । अर्थात् गुणही करते हैं, ऐसा समझता है । और अवस्थाविशेषरूप परिणामको प्राप्त हुए जो सत्त्वादिक गुण हैं, उन गुणोंसे आत्माको पर अर्थात्-प्रत्यक्-अभिन्न ब्रह्मरूप गुणातीत साक्षी जानता है । तब वह मुझ परब्रह्मके भावको अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त होता है ॥

तथाच श्रुतौ-

"ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" ॥ १९ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है-

"ब्रह्मका वेत्ता ब्रह्म ही है" ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

देहोत्पत्तिकारणानि इमान्सत्त्वादिगुणान् त्रीन् त्यक्त्वा जन्म-मृत्यु-वृद्धत्वादि-दुःखैर्विमुक्तो देही ज्ञानी पुरुषो मोक्षं प्राप्नोति ॥ २० ॥

देहकी उत्पत्तिके बीजरूप इन सत्त्वादि तीनों गुणोंको परित्याग करके जन्म मृत्यु और बुढ़ापेके दुखोंसे विमुक्त हुआ यह ज्ञानी पुरुष, मोक्षको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥ २१ ॥

अर्जुनोऽवदत् । हे प्रभो, वासुदेव ! एतत्त्रिगुणातिक्रांतो जीवन्मुक्तः पुरुषः, कैश्चिह्नैर्लक्षणैर्युक्तो भवति । गुणातीतः कथं भवतीत्यर्थः । तथाच किमाचारः, कीदृशाचारः स इमान् त्रीन्गुणान् अतिक्राम्याति ॥ २१ ॥

अर्जुन बोला-हे वासुदेव, प्रभो ! इन तीन गुणोंके अतिक्रमण करनेवाला जीवन्मुक्त पुरुष, किन चिह्नोंसे विभूषित होता है, तथा किस प्रकारके आचरणवाला होता है और वह इन तीनों गुणोंको किस प्रकारसे अतिक्रमण करता है ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

वासुदेवो भगवानुवाच । हे अर्जुन ! स गुणातीतः पुरुषः सत्त्वगुणकार्यं प्रवर्तमानं प्रकाशं, रजोगुण-कार्यं प्रवृत्तिं, तमोगुणजं कार्यं मोहं च, जायमानमिमं न कदाचित् द्वेष्टि, न निवृत्तानि पूर्वोक्तानि तानि कदापीच्छति, स गुणातीतः कथ्यते ।

तथा चोक्तं श्रुतौ—

"अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः । अहमेव परब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः" ॥२२॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! संप्रवृत्त हुए सत्त्व गुणके कार्यरूप प्रकाश, तथा रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्ति, और तमोगुणके कार्यरूप मोहको, (द्वेष्य जानकर) कदाचित् भी न द्वेष करता है और न उनके निवृत्त होने पर उनको इच्छता है वह गुणातीत है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है—

" मैं ही गुणातीत हूं, मैं ही प्रकृतिसे परे हूं, मैं ही परब्रह्म हूं और मैं ही सर्व गुरुओंका परमगुरु हूं " ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो यो गुणैर्न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३

यश्च ज्ञानी, समाधौ स्थित पुरुष इव रागद्वेषशून्यः सन्नुदासीनोऽवस्थितो भवति । तथा गुणैश्च न चाल्यते । समाधेरुत्थितोऽपि " गुणागुणेषु वर्तन्त" इतिज्ञात्वा स्वरूपावस्थित इव तिष्ठन् गुणकृतादिष्टानिष्टसंयोगान्न चेष्टते, चलायमानो न भवति । स संन्यासी एव गुणातीतः कथ्यते ॥ २३ ॥

जो ज्ञानी, समाधिस्थ पुरुषके समान रागद्वेषरहित उदासीनरूपसे स्थित है, और जो गुणोंसे चलायमान नहीं होता है, उत्थानको पाया हुआ भी "गुण ही अपने अपने कार्यमें वर्तते हैं" ऐसा जानकर निश्चेष्टस्वरूपावस्थामें स्थित रहता है, परन्तु गुणकृत इष्ट और अनिष्टके स्पर्शोंसे चलायमान नहीं होता है । वह संन्यासी गुणातीत कहा जाता है ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

यस्य च सुखं दुःखं समं विद्यते । यस्य च स्वरूपेऽवस्थितिरस्ति । यस्य च लोष्टा-

जिसकी, सुखदुःख एक समान हैं, जिसकी स्वरूपमें स्थिति है, तथा जिसको

T

श्मकांचनानि समानि विद्यन्ते । यश्च प्रियाप्रिययोर्निन्दास्वात्मस्तुत्योश्च समो भवति । स जितेन्द्रियो धीरः पुरुषो गुणातीतः कथ्यते ॥ २४ ॥

लोहा पत्थर और सोना एक समान है, तथा जो, प्रिय और अप्रिय वस्तुमें तुल्य अर्थात् हर्ष शोकादि विकाररहित है, और जिसको, अपनी निन्दा और स्तुति एक बराबर है। वह जितेन्द्रिय धीर पुरुष, गुणातीत कहा जाता है ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुलयस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

यः, मानापमानयोस्तुल्यो विकाररहितो मित्रारिपक्षयोः समो भवति । सर्वेषां वैदिकानां लौकिकानां च कर्मणां त्यागी भवति । स गुणातीतः कथ्यते ॥

तथोक्तं श्रुतौ--

"अहमेव गुणातीतोऽहमेव परात्परः । अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः॥ शुद्धो निरञ्जनोऽनन्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः । चेष्टमानमिमं देहं पश्याम्यन्यशरीरवत्"२५

जो पुरुष, मान और अपमान दोनोंमें तुल्य है, मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष दोनोंमें तुल्य है, तथा सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंका परित्याग करनेवाला है, वह संन्यासी पुरुष गुणातीत कहा जाता है। श्रुतिमें कहा है—

"वह गुणातीत इस अनुभवको करता है कि, मैं ही गुणातीत हूं, मैं ही प्रकृतिसे परे ब्रह्म हूं, मैं ही परब्रह्म हूं, मैं ही गुरुओंका गुरु हूं। मैं सर्वशुद्ध निरंजन मायातीत ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिका साक्षी हूं, चेष्टा करनेवाले शरीरको, मैं अन्यशरीरकी नाईं देखता हूं" ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

यः साधको मां नारायणं परब्रह्मात्मानमनन्यया भक्त्या चिन्तयाति सेवते । स मदीयो भक्त इमान्सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य मम ब्रह्मभावाय मोक्षाय कल्पते, योग्यो भवति ॥ २६ ॥

और जो यति, मुझ परब्रह्मको अनन्य भक्तियोगसे सेवन करता है अर्थात् चिन्तन करता है वह मेरा भक्त, इन पूर्वोक्त सत्त्वादिक गुणोंको अतिक्रमण करके ब्रह्मभावापन्न होनेके अर्थ योग्य होता है। अर्थात् मोक्षप्राप्तिमें समर्थ होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

यतो ह्यहं, ध्येयज्ञेयोभयब्रह्मप्रकाशकत्वात् मोक्षसाधनत्वाच्चामृतस्य नित्यस्य ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठास्मि । वेदानां तात्पर्यभूमिरहमस्मि । तथाच—शाश्वतस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य मोक्षस्य च प्रतिष्ठाऽहं वासुदेवोऽस्मि ॥ २७ ॥

क्योंकि—मैं वासुदेव परब्रह्म ही, ध्येय और ज्ञेयरूप ब्रह्मका प्रकाश करनेवाला अमृतरूपी अविनाशी ब्रह्मरूप वेदका प्रतिष्ठा—आश्रय हूं । अर्थात् वेदोंकी तात्पर्य भूमि मैं हूं । और ज्ञाननिष्ठारूप जो शाश्वत धर्म है, तथा एकान्तिक अविनाशी जो मोक्षरूप सुख है, उसका भी मैं वासुदेव ही आश्रय याने प्रतिष्ठा हूं ॥ २७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

सत्त्वादीनां गुणानां जनिमृतिगहने दुस्तरेऽस्मिन्भवाब्धौ,
कार्याकारेण नित्यं परिणतवपुषां पातहेतुत्वमुक्त्वा ।
तेभ्यो मोक्षं स्वबोधात्स्वपदरतधियां लक्षणादि प्रदर्श्य,
स्वीयां निष्ठां जगौ यो विमलमतिमतां नौमि श्रीकृष्णमीड्यम्॥१॥

सा०-यो, जनिमृतिगहने दुस्तरे अस्मिन् भवाब्धौ सत्त्वादीनां गुणानां कार्याकारेण परिणतवपुषां नित्यं पातहेतुत्वम् उक्त्वा, स्वबोधात् तेभ्यः मोक्षं लक्षणादि च प्रदर्श्य, स्व-पद-रत-धियां जनानां विम-

अर्थ—जिस परमात्माने, जन्म मरणसे गूढ और दुःखसे तरने योग्य इस संसाररूपी सागरमें कार्य कारणसे परिपक्व शरीरवाले सत्त्व रज तम गुणोंको नित्य अधःपतनका कारण होना कहकर, और पुरुषोंको आत्मज्ञानसे उन गुणोंकी निवृत्ति (नाश) बताकर अपने चरण

लमतिमतां स्वीयां निष्ठाम्, जगौ,तम् ईड्यं श्रीकृष्णं नौमि ॥ १ ॥

अर्थात् ब्रह्म पदमें लवलीन बुद्धिवालोंको, भाग-त्यागादि लक्षणा दिखाकर, राग—द्वेषादिसे रहित निर्मल बुद्धिवालोंको, अपनी निष्ठा कही । उस स्तुति करने योग्य श्रीकृष्ण परमात्माको, मैं नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी-निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १४ ॥

ॐ

श्रीपुरुषोत्तमाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

अविद्याकामाद्यैर्दृढतरसुमूलैरुपचितम्,
फलैर्दुःखाकारैर्निबिडमजरं भ्रान्तिबहुलम् ।
द्रुमं संसाराख्यं विषमगतिमुच्छेत्तुमचिरात्,
क्षमा यत्पादाब्जौ रतिरनुदिनं नौमि तमजम् ॥ १ ॥

सा०—अविद्या—कामाद्यैः दृढतरसुमूलैः उपचितम्, फलैः दुःख-आकारैः निबिडम्, अजरम्, भ्रान्तिबहुलम्, विषमगतिम्, संसार-आख्यम्, द्रुमम्, उच्छेत्तुम्, यत् पाद-अब्जौ रतिः अचिरात् क्षमा । अनुदिनम् तम् अजं नौमि ॥ १ ॥

अर्थ-जिस परब्रह्म परमात्माके चरणकमलोंकी प्रीति, अविद्या अज्ञान काम इच्छा आदि अति प्रबल जड़ोंसे सने हुए और दुःख-दायी फलोंसे घनिष्ठ अत्यन्त गहन अवि-नाशी अर्थात् ज्ञानविना जिसका नाश नहीं है, तथा भ्रममय, कठिन गतिवाले संसारना-मक वृक्षको, थोड़ीही देरमें नष्ट करनेको समर्थ है उस अजन्मा श्रीकृष्ण भगवानको मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

T

श्रीभगवानुवाच । यस्य संसाराख्यस्य वृक्षस्य सर्वोत्कृष्टः परमात्मा विवर्तोपादानकारणमधिष्ठानं मूलमस्ति । यस्य च मायोपहिताद्ब्रह्मणोऽनन्तरं जायमानाः हिरण्यगर्भादयः शाखा विद्यन्ते । श्वो न तिष्ठन्तं तं संसारवृक्षमश्वत्थं विनाशधर्माणमविनाशिनमूचुः पूर्वमीमाँसाकर्त्तारः । यस्याश्वत्थस्य, वेदाः पत्राणि सन्ति । यतो हि, तत्त्वस्यावरणकर्तृत्वादथवा संसारवृक्षस्य रक्षकत्वात् वेदाः पत्राणि कथ्यन्ते । यो दैवी संपद्भावापन्नोऽधिकारी, पूर्वोक्तमश्वत्थं श्रवणादिरीत्या जानाति । स एव वेदज्ञोऽस्ति ।

उत्कृष्ट अर्थात् सर्वोत्तम परमात्मा है मूल अर्थात् अधिष्ठानरूप विवर्त्तोपादानकारण जिसका, और नीची अर्थात् माया उपहित ब्रह्मसे पीछे होनेवाले हिरण्यगर्भादि हैं शाखा जिसकी, ऐसे अश्वत्थ अर्थात् कालतक न ठहरनेवाले विनाशशील वृक्षको, पूर्वमीमांसाके कर्त्ताओंने अविनाशी कहा है। और जिसके छन्द अर्थात् वेद पत्र हैं। अर्थात् तत्त्ववस्तुका आवरण कर्त्ता होनेसे, अथवा संसारूप वृक्षका रक्षक होनेसे, वेद उस वृक्षके पत्तोंके समान परिरक्षण करता है, उस अश्वत्थको, जो दैवी सम्पत्ति सम्पन्न-अधिकारी, श्रवणमननादिविचारद्वारा जानता है । वह पुरुष वेदवेत्ता है ॥

तथाच श्रुतौ–

" ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोश्वत्थः सनातनः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"यह अश्वत्थनामधारी सनातन वृक्ष है । जिसका मूल ऊपर है । और नीचे शाखायें फैली हैं । यही निर्मल शुद्ध अमृत ब्रह्म है, इसमें सर्व लोक स्थित हैं । कोई भी इसका उल्लंघन नहीं कर सक्ता है ॥"

पुराणे च–

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः ॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा ।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः ॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः । एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माऽचरति

जैसा पुराणमें कहा है–

" अव्यक्तरूप मूलसे उत्पन्न हुआ और उसीके अनुग्रहसे बढ़ा । बुद्धिरूपी प्रधानशाखायें हैं तथा इन्द्रियें कोटर हैं । और महाभूतरूप शाखा प्रतिशाखाओंवाला है । विषयरूप पत्तोंवाला, धर्म और अधर्मरूप सुन्दर पुष्पोंवाला तथा जिसमें सुखदुःखरूप फल लगे हैं, ऐसा सब जीवोंका सहारा देनेवाला यह सनातन ब्रह्म वृक्ष है । यही ब्रह्मवन है ।

नित्यशः। एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नाऽवर्तते पुनः" ॥ १ ॥

इसीमें ब्रह्म सदा रहता है, ऐसे इस ब्रह्मवृक्षको ज्ञानरूपी श्रेष्ठ खड्गद्वारा छेदन भेदन करके आत्मामें प्रीति करे। जिससे फिर नहीं जन्म लेता ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

तस्य संसाराख्यस्य वृक्षस्य, दुष्कृतिनो जीवा अधःप्रसरणशीलाः शाखाः सन्ति। ते पापिनो जनाः पश्वादीनां नीचां योनिमापद्यमाना अधोविसृताः शाखा इव सन्ति। अथच शास्त्रीयाचरणमाचरन्तः सुकृतिनो लोका ऊर्ध्वंप्रसृता विस्तारं प्राप्ताः शाखाः सन्ति। ते हि ब्रह्मदेवादियोनिं प्राप्य तत्र विस्तारं लभन्ते। ता हि शाखाः सत्त्वादिजलैर्वर्धिताः, सत्त्वादिजलैर्वर्धितैर्विषयैः पल्लविताः सन्ति। यस्य च ब्रह्ममूलस्याधः कर्माधिकारके मनुष्यलोके प्रवाहरूपेण नित्यानि शुभाशुभफलदानि वासनाख्यानि अवांतरमूलानि च सन्ति ॥ २ ॥

पापी जीव, नीचे पसरी हुई संसारवृक्षकी शाखायें हैं। अर्थात् वे पापी जीव, पश्वादिक नीच योनियोंमें विस्तारको प्राप्त हुई शाखायें हैं। और शास्त्रविहित आचरणवाले सुकृतिजीव, इस संसारवृक्षकी ऊपर पसरी हुई शाखायें हैं। अर्थात् ब्रह्मादिदेवादिक उत्तम योनियोंमें विस्तारको प्राप्त हुई शाखायें हैं, और सत्वादिक गुणरूप जलसे वे शाखायें वृद्धिको प्राप्त हुई हैं। तथा विषयरूप पल्लवोंवाली हैं। और जिसके ऊर्ध्व मूलरूप ब्रह्मसे नीचे अर्थात् निकृष्ट कर्मके अधिकारी मनुष्यलोकमें प्रवाहरूपसे नित्य और शुभाशुभफलसे संबन्ध रखनेवाली वासनायें अवान्तर मूल अर्थात् कारण हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञानबाधितत्वादस्य मिथ्याभूतस्य संसारस्यास्मिन्नधिष्ठानात्मके इह ब्रह्मणि, मूढैः सत्यमिव त्रिकालाबाधितरूपमिवास्य रूपं ज्ञायते। ज्ञानदृष्ट्या तु

तत्त्वज्ञानद्वारा बाधित होनेसे, इस ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें इस संसाररूप अश्वत्थको, जिसप्रकार वेदोक्त संस्काररहीन मूढ़लोक त्रिकालमें सत्यरूप जानते हैं,

तत् रूपं न प्रतीयते । तथैव तत्त्वज्ञानं यावत्प्रवाहानुच्छेदादन्तो नास्ति । अथ बीजांकुरवदस्यानादिमत्त्वादादिः कारणमपि नोपलभ्यते । न चाद्यंतत्वाभावात् ज्ञातरज्जुगतसर्पस्येव, ब्रह्मज्ञानेन नश्यमानस्याज्ञानोपादानस्य, अस्य संप्रतिष्ठा माया आधारस्थानमस्ति, तस्या ब्रह्मज्ञाननाश्यत्वात् । एवं दृढमूलमश्वत्थं संसाराख्यं वृक्षं, तीव्रतरवैराग्यासिधारया दृढेन "असंगोऽहं ब्रह्मास्मि" इति भावयुक्तेन असंगशस्त्रेण च छित्त्वा, परिमार्गितव्यमित्यनेन सम्बन्धः ॥ ३ ॥

उस प्रकारका स्वरूप, विचारदृष्टिसे प्रतीत नहीं होता है । और निर्मल ब्रह्मज्ञानपर्यन्त इसका नाश न होनेसे इसका अंत नहीं है । और बीजांकुरके समान प्रवाहरूपसे अनादि होनेके कारण इसका आदि नहीं है । और इस वृक्षका आदि अंत न होनेसे रज्जुसर्पके समान ब्रह्मज्ञानसे नष्ट होनेवाली माया भी प्रतिष्ठा आधार नहीं है । इसप्रकारके दृढ़मूलवाले इस अश्वत्थरूप संसारवृक्षको, अत्यन्त दृढ़ (धनपुत्रादिकोंमें) वैराग्ययुक्त "असंग, अहं ब्रह्मास्मि" रूप ज्ञानशस्त्रसे छेदन करके ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

छेदनानन्तरं, तत्प्रसिद्धं ब्रह्मैव ज्ञातव्यमस्ति । यस्मिन्पदेऽवस्थिता ब्रह्मविदो न पुनर्जन्म लभन्ते । यस्माच्च पुरुषादस्य संसारस्य वृक्षस्य प्रवृत्तिरुत्पत्तिरनादिर्विद्यते । तमाद्यं पुरुषं शरणमहं प्रपन्नोऽस्मि॥

यथाच श्रुतौ—

" यतो वा इमानि भूतानि जातानि " ॥ ४ ॥

उसके अनन्तर वह ब्रह्मरूप पद ही जानने योग्य है । जिस पदमें स्थित हुए ब्रह्मवेत्ता पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते । और जिस आद्य पुरुषसे इस संसार वृक्षकी प्रवृत्ति अनादिरूपसे पसरी हुई है । उस आद्य पुरुष परब्रह्मके ही मैं शरणापन्न हुआ हूँ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

" जिस ब्रह्मसे ये सर्व प्राणी उत्पन्न हुए हैं " ॥ ४ ॥

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

ये च सततं मानमोहविवर्जिताः, वर्जितममताऽऽसक्तिदोषाः, सदैव ब्रह्मविचारपरायणाः, निवृत्तविषयभोगेच्छवः, सुखदुःखैर्द्वन्द्वधर्मैर्मुक्तास्तत्संसर्गेणापि न दूषितान्तःकरणा ब्रह्मविदः सन्ति । त एव संन्यासिनस्तस्याविनाशिनोऽप्रमेयस्य पदस्यानुभवितारो भवन्ति । त एव ब्रह्मविदोऽव्ययं ब्रह्मपदं यान्ति ॥ ५ ॥

मान और मोहसे रहित, ममतामय आसक्ति रूप दोषको जीतनेवाले, सदैव ब्रह्मात्मस्वरूपके विचारमें तत्पर, सर्व विषय-भोगकी इच्छारूप कामसे निवृत्त और सुख-दुःखनामवाले शीतोष्णादि द्वन्द्वधर्मोंसे मुक्त, जो तत्त्ववेत्ता संन्यासी हैं वे, उस अविनाशी ब्रह्मरूपपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

यत् तत् पदं लब्ध्वा, तत्त्वविदो जना न पुनरावर्तन्ते । जीवनमरणबन्धनान्मुक्ता भवन्ति । तत्पदं, न सूर्यो नाग्निर्नच चन्द्रः प्रकाशयितुं शक्नोति । यतो हि तत्पदं, मम ब्रह्मणोऽव्ययं स्वयंप्रकाशमानं सर्वोत्कृष्टं धाम स्वरूपमेवास्ति ॥

यथोक्तं श्रुतौ—

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारका नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । तत्पदं प्राप्य न स पुनरावर्तते" ॥ ६ ॥

जिस पदको प्राप्त होकर तत्त्ववेत्ता पुरुष परावृत्त नहीं होते हैं, अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं । उस पदको, न सूर्य, न चन्द्र, और न अग्नि, प्रकाशता है । क्योंकि मुझ परब्रह्मका स्वरूपभूत वह पद, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंप्रकाशस्वरूप है—

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"उस ब्रह्ममें सूर्यका प्रकाश नहीं, चन्द्र और तारागण भी प्रकाश नहीं कर सक्ते हैं । फिर यह अग्नि तो कैसे प्रकाश कर सक्ती है । क्योंकि उसी ब्रह्मके प्रकाशसे सब प्रकाशित होते हैं । वह ब्रह्मवेत्ता, फिर जन्म नहीं लेता है, पुनरावृत्तिसे छूट जाता है " ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

अस्मिञ्जीवलोके, मम परमात्मनः अंश इव अंशः सनातनोऽविनाशी जीवो विद्यते। अयमर्थः मयि ब्रह्मणि तु-अंशांशिभावविरहात् जलयुक्ते घटे सूर्यस्य प्रतिबिम्बमिव घटस्थानीये स्वान्तःकरणोपाधौ जीवात्मा भिन्न इव प्रतीयते। सच जीवः, सुषुप्तौ अविद्योपादाने प्रलये समाधिकाले च सूक्ष्मरूपेण स्थितः सन् मनःषष्ठानि श्रोत्रादीन्द्रियाणि स्वस्थानेभ्य कर्षति प्रकृतिं नयति च ॥ ७ ॥

इस जीवलोक संसारमें, मुझ-परमात्माका, सूर्यप्रतिबिम्बवत् चिदाभासरूपजीव, सनातन अंश है। अर्थात् मुझ परमातमामें अंशअंशी भावके न होते हुये भी जलयुक्त घटोंमें विबरूप सूर्यके प्रतिबिंबके समान यह आत्मा अन्तःकरणरूपी (घट) उपाधिके विद्यमान होनेसे जीवरूप प्रतीत है । वह, सुषुप्ति प्रलय और समाधिकालमें मनके सहित छे इन्द्रियोंका आकर्षण करता है । और प्रकृतिस्थानमें लेजाता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

यदाऽयमेव(जीवात्मा)ईश्वरः शरीरमिदं त्यक्त्वाऽतिक्रम्यान्यन्नवतरं शरीरमुपादत्ते तदा सवासनमनःसहितानि षडिन्द्रियाणि गृहीत्वाऽऽशयाद्गंधान् वायुरिव याति। यथा वायुर्गन्धानादाय याति, तथैवायं जीवात्मा स्वशरीरात्सवासनमनःसहितानि षडिन्द्रियाणि गृहीत्वा प्रयाति ॥ ८ ॥

जिस समय यह जीवात्मारूप ईश्वर, इस देहसे उत्क्रमण करता है । अथात् निकलता है। और जिस समय दूसरे शरारको प्राप्त होता है, उस समय मनसहित सव इन्द्रियोंको भी ग्रहण करके जाता है। जिस प्रकार पुष्पवाटिका आदिसे वायु गन्धको ग्रहण करके जाती है ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अयं जीवात्मा, श्रोत्रं, चक्षुर्नयनं, स्पर्शनं त्वगिन्द्रियं, रसनं जिह्वां, घ्राणेन्द्रियं नासिकां, मनश्चाधिष्ठाय तेषु स्थित्वा, शब्दादीन् विषयान्भुंक्तेऽनुभवतीत्यर्थः। वस्तुतस्तु स्वरूपेणाभोक्ता विद्यते ॥ ९ ॥

यह जीवात्मा, श्रोत्र इन्द्रिय तथा चक्षु इंद्रिय और त्वग् इन्द्रिय तथा—रसन इन्द्रिय और घ्राण इन्द्रिय तथा मनको आश्रय करके ही शब्दादिक विषयोंको भोक्ता है। वास्तवमें स्वरूपसे अभोक्ता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः॥ १०॥

स्थूलशरीरादुत्क्रमणं कुर्वन्तं, नवे शरीरे स्थितिं विदधानं, विषयान्भुञ्जानमनुभवंतं, गुणैरन्वितमिममेतादृशं जीवात्मानं विमूढाः शास्त्रादिज्ञानशून्यचेतसो न जानन्ति न च पश्यन्ति। किन्तु ये ज्ञानचक्षुषः सन्ति त एव एतादृशं जीवात्मानं पश्यन्ति॥१०॥

देहसे उत्क्रमण करते हुए अवथा उसी देहमें स्थित हुए, अथवा विषयोंको भोगते हुए, तथा गुणोंसे युक्त हुए आत्माको, विमूढ़-पुरुष नहीं देखते हैं, किन्तु ज्ञानरूप चक्षुवाले पुरुष ही उस आत्माको देखते हैं॥ १०॥

यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम्।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतसः॥ ११॥

यतमाना योगिनः समाहितचेतसः पुरुषा एव स्वात्मबुद्धौ स्थितमिममसंगमात्मानं प्रपश्यन्ति। नेतरे यतमाना अप्यशुद्धान्तःकरणाः विषयलम्पटा जनाः उपायशतैरपि द्रष्टुं शक्नुवन्ति।

श्रुतौ योगस्वरूपमुच्यते–

"लक्ष्यैकतां समासाद्य निर्विकारतयात्मनि। मनसो निश्चलत्वेन स्थितिर्योग इतीर्यते"॥ ११॥

प्रयत्न करते हुए समाहित चित्तवाले योगी महापुरुष ही, अपनी बुद्धिमें स्थित इस असङ्ग आत्माको देखते हैं। और प्रयत्न करते हुए भी अशुद्ध अन्तःकरणवाले अविवेकी पुरुष, इस आत्माको नहीं देखते हैं॥

श्रुतिमें योगस्वरूप कहा है–

"जीव ब्रह्मात्माके अभेद ज्ञानको पाकर निर्विकाररूपसे आत्मामें मनकी निश्चलरूपसे स्थितिको ही योग कहते हैं। इस योगके धारण करनेवालोंको योगी कहते हैं"॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ १२॥

प्रकाशात्मनि सूर्येऽवस्थितं यत्तेजो ज्योतीरूपं ब्रह्म चैतन्यात्मकमस्ति। यच्च चन्द्रमसि तेजो विद्यते। अग्नावपि यद्दहनात्मकं तेजो विद्यते। यत्सर्वं तेजो मायां

प्रकाशरूप सूर्यमें स्थित जो चैतन्य ज्योतिरूप तेज है, और चन्द्रमामें जो तेज है, और अग्निमें जो तेज है, और जो तेज, माया तत्कार्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशता है, वह

तत्कार्यं कृत्स्नं जगच्च प्रकाशयति । तत्तेजो मामकं मम विष्णोः ब्रह्मणो विद्धि, अहमेव तत् ॥ १२ ॥

तेज, मुझ परब्रह्मका ही जान अर्थात् वह तेज मैं ही हूँ ॥ १२ ॥

—०—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

अथ स्वसत्तया स्वतेजोबलेन वा पृथ्व्युपलक्षितं जगदिदं प्रविश्य स्थावरजंगमात्मकानि सर्वाणि भूतानि दधाम्यहम् । रसस्वभावश्चन्द्रो भूत्वा, सर्वा औषधीश्च पुष्णामि ।

यथा च श्रुतौ—

"येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा सदाधारपृथ्वीमुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥ १३ ॥

और स्वसत्तारूप तेज व बलसे, पृथ्वी उपलक्षित सर्व जगत्के प्रति (सत्सङ्कल्परूप बलसे) प्रवेश करके स्थावर-जङ्गम-रूप भूतोंको, मैं सर्व शक्तिमान् ईश्वर धारण करता हूँ और रस स्वभाववाला सोमरूप होकर, सर्व व्रीहि यवादि ओषधियोंका पोषण करता हूं ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जिस देवसे अन्तरिक्ष उग्र है, और पृथ्वी दृढ़ है, जिसने पृथ्वीको अर्थात् सर्व जगत्को धारण किया है, उस किसी देवके लिये हम प्रार्थना विधानसे यजन करते हैं" ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अहमेव जगत्पिता परब्रह्मात्मा, जाठराग्निर्भूत्वा, सर्वेषां प्राणिनां देहानाश्रित्य, प्राणापानाभ्यां संयुक्तो भूत्वा, चतुर्विधं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यमन्नं पचामि ॥

मैं परब्रह्म ही, जाठराग्निरूप होकर सर्व प्राणियोंके देहके आश्रित होकर, प्राण और अपान वायुसे संयुक्त हुआ, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्यरूप चार प्रकारके अन्नको पचाता हूं ॥

तथाच श्रुतौ–

" अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषो येनेदमन्नं पच्यते । अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अंगुष्ठं च समाश्रितः। ईशः सर्वस्य जगतः प्रभुः प्राणीति विश्वभुक् ॥ अहमन्नमहमन्नादः " इति ॥ १४ ॥

जैसा कि श्रुतिमें कहा है–

" यह वैश्वानर अग्नि मैं हूं, जो पुरुषके अन्तर्मध्यमें विद्यमान है। जिससे यह चतुर्विध अन्न पचता है। यह पुरुष अंगुष्ठ-मात्र है। और सर्वका स्वामी होकर चेष्टा करता हुआ विश्वभोक्ता है। मैं ही अन्न हूं और मैं ही भोक्ता हूं" ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अहमेव परमात्मा, सर्वेषां प्राणिनां हृदयेऽन्तर्यामित्वेनात्मत्वेन स्थितोऽस्मि । मत्तः साक्षिब्रह्मणः सकाशादेव तेषां प्राणिनां स्मृतिर्ज्ञानं च जायते। तथा सर्वैर्वेदैश्चाहमेव वासुदेवो वेदितव्योऽस्मि । अहमेव वेदान्तसम्प्रदायप्रवर्तकोऽस्मि । अहमेव सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञोऽस्मि ॥

मैं परब्रह्म ही, सर्वप्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी अमृतरूप साक्षी आत्मासे स्थित हूं, मुझ साक्षी परब्रह्मसे ही उन सर्व उत्तम अधिकारी प्राणियोंको स्मृति तथा ज्ञानका आविर्भाव होता है। तथा पापाचारी पुरुषोंकी स्मृति और ज्ञानका नाश भी मुझसे होता है। तथा सर्व वेदोंसे मैं परब्रह्म परमात्मा देव ही जानने योग्य हूँ। तथा मैं वासुदेव ही वेदान्तके संप्रदायका प्रवर्त्तक हूं। और मैं परब्रह्म ही सर्व वेदोंका वेत्ता हूँ ॥

यथा श्रुतिराह–

" सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥ १५ ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" जिस ब्रह्मका सर्व वेदान्त वर्णन करते हैं, जिसने ब्रह्माको रचकर सबसे प्रथम वेद पढ़ाया। जो भूतात्मा ब्रह्म सर्वप्राणियोंके हृदयमें अनेक चिदाभास रूपसे वर्तमान है। जैसे–जलोंमें चन्द्रका नाना प्रतिबिंब"॥ १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

अस्मिन्संसारे द्वावेव पुरुषौ मतौ स्तः। द्वयोरेकः क्षरोऽन्योऽक्षरश्च । क्षरस्तु सर्वाणि भूतानि सन्ति । अक्षरस्तु कारणरूपमायाविशिष्टः कूटस्थ ईश्वर अक्षरः पुरुषः शास्त्रेषु कथ्यते ॥ १६ ॥

संसारमें ये दो ही पुरुष हैं । एक तो क्षर, तथा दूसरा अक्षर । कार्य रूप सर्व भूत तो क्षर–पुरुष, कहा जाता है, और कारणरूप मायाविशिष्ट कूटस्थ ईश्वर को अक्षर इस नामसे श्रुतियोंने कथन किया है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

यश्चोत्कृष्टचेतनः परब्रह्मपुरुषः स तु क्षराक्षराभ्यां भिन्नो वर्तते। स परमात्मेतिशब्देन, वेदेषु वेदान्तेषु च प्रतिपादितः । योऽव्यय ईश्वरस्त्रीन्भूर्भुवःस्वआख्यान् लोकान्प्रविश्य तानेव बिभर्ति धारयति पोषयति च । स एव सर्वज्ञो नारायणाख्य ईशनशीलो भवति ॥

तथाच श्रुतौ–

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः । "

" पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"॥ १७ ॥

और अत्यन्त उत्तम ब्रह्मपुरुष तो, उन क्षर अक्षर दोनोंसे भिन्न ही है। तथा परमात्मा इस नामसे वेद और वेदान्तोंमें कथन किया गया है । वह तीनों लोकोंको अपने आश्रित करके धारण करता है । तथा अव्यय रूप है । और सर्वज्ञ ईश्वर नारायण पुरुषोत्तम है–

जैसा श्रुतिमें कहा है–

" इन्द्रियोंसे अर्थ श्रेष्ठ–सूक्ष्म है । अर्थोंसे परे मन है, और मनसे सूक्ष्म उत्कृष्ट बुद्धि है, और बुद्धिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अव्यक्त (प्रकृति) श्रेष्ठ है, और प्रकृतिसे उत्कृष्ट सूक्ष्म पुरुष है । उस पुरुषरूप ब्रह्मसे कोई श्रेष्ठ नहीं है" ॥

"इस ब्रह्मके एक पादसे सारी सृष्टि होती है। और त्रिपाद अमृतरूप शुद्ध है"॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

यतोऽहमेव परमेश्वरः वासुदेवः क्षरमतिक्रान्तस्तथाऽक्षरान्मायाकारणादप्युत्कृष्टोऽस्मि । अतएव लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति नाम्ना प्रथितोऽस्मि ।

तथाच श्रुतौ—

"अयमात्मा—सन्मात्रो, नित्यः, शुद्धो, बुद्धः, सत्यो, मुक्तो, निरञ्जनो, विभुरद्वयानन्दः, परः प्रत्यगेकरसः तेभ्योऽक्षराक्षराभ्यां भिन्नो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" ॥ १८ ॥

क्योंकि, मैं परमेश्वरने ही क्षरको अतिक्रमण किया है । और मैं, अक्षर मायासे भी अत्यन्त उत्कृष्ट हूँ, क्योंकि मायाका अधिष्ठान होनेसे । इस लिये लोकमें तथा वेदमें पुरुषोत्तमनामसे प्रसिद्ध हुआ हूँ ।

जैसा श्रुतिमें कथन किया है ।

"यह आत्मा सत् रूप ही है । नित्य त्रिकालमें बाधारहित, शुद्ध, पापपुण्योंके सम्पर्कसे रहित, चेतन ब्रह्म-रूप, सत्य, मुक्त, निरञ्जन, व्यापक, अद्वैत आनन्द, पर, प्रत्यग् एकरस है ॥ तथा यह ब्रह्म, उन दोनोंसे विलक्षण, निरुपाधि साक्षी चेतन सदाशिव कल्याणरूप हैं" ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! यस्तत्त्वविन्मां परमात्मानमेवंविधं प्रत्यगभिन्नं पुरुषोत्तमं "वासुदवोऽहमस्मिभावेनानेन" जानाति । स सर्वज्ञो माम् सर्वभावेनोपास्ते भजतीत्यर्थः ॥१९॥

हे भरतकुलावतंस-अर्जुन ! जो तत्त्वदर्शी विद्वान्, मुझ परब्रह्मको, उस उक्त प्रकारसे "प्रत्यक् अभिन्न परमात्मास्वरूप पुरुषोत्तम वासुदेवोऽहमस्मि" ऐसा जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष, सर्वात्मभावसे मुझको भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

T

हे अनघ, भारत—ज्ञानरतार्जुन ! मया ते तुभ्यमनया पूर्वोक्तरीत्या, निवृत्तिशास्त्रमिदं कथितमस्ति । एतज्ज्ञात्वा पुरुष आत्मवेत्ता भवति । तथाचैतज्ज्ञानेन कृतकृत्यो भवति । न तस्य किंचिन्मात्रं करणीयमवशिष्यते ॥

तथा च श्रुतौ—

"एकं ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवेन्मुनिः । सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम् ॥ सच्चिदानन्दरूपं तद्वाङ्मनसगोचरम् । अहमिति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः" ॥

तथाचोक्तं मानवे—

"एतद्धि जन्मसामग्र्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा" ॥ २० ॥

हे सर्व व्यसनोंसे रहित, निष्पाप भरतवंशी अर्जुन ! मैंने, तुमको इस पूर्वोक्त प्रकारसे अत्यन्त गुह्य यह निवृत्ति शास्त्र कहा । इसको जानकर पुरुष, आत्मज्ञानी होता है । तथा उस ज्ञानद्वारा कृतकृत्य होता है । अर्थात् उसको करने योग्य कर्त्तव्य कर्म शेष नहीं रहता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"एक ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा जाननेवाला मुनि कृतकृत्य होता है,जो ब्रह्म सब पदार्थोंका अधिष्ठान है, द्वन्द्वरहित है, सत्‌चित् और आनंदरूप है, सनातन है, वाणी और मनके अगोचर है, उस परब्रह्मको 'अहमस्मि' मैं हूं ऐसा बुद्धिसे निश्चय करनेवाला मुनि वीतशोक होता है" ॥

जैसा-मनु भगवानने भी कथन किया है। "कि ब्राह्मणके जन्मकी यही पूर्ण विशेषता है कि, श्रवणादि उपायद्वारा ब्रह्मतत्त्वको जाने। क्योंकि,जिससे द्विज कृतकृत्य होता है। और अन्य कोई उपाय नहीं है" ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां पुरुषोत्तमविभागयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

संगृह्यैवागमार्थं विजयरथगतः शास्त्रयोनी रमेशो,
गीताख्ये शास्त्रसारे विततपदपरे विस्तृतं तत्त्वमुक्त्वा ।
तत्राप्यत्यन्तसारं प्रकृतिविकृतितोऽत्यन्तभिन्नं रहस्यं,
स्वीयं प्रोवाच योऽन्तस्तमहमतिमुदा संश्रये कृष्णमीड्यम् १॥

T

सा०—यो विजयरथगतः शास्त्रयोनिः रमेश आगम-अर्थं संगृह्य एव, विततपदपरे गीताख्ये शास्त्रसारे विस्तृतम् तत्त्वम् उक्त्वा, तत्र अपि अत्यन्तसारं प्रकृतिविकृतितः अत्यन्तभिन्नं स्वीयं रहस्यं प्रोवाच। अहम् अतिमुदा तम् ईड्यं कृष्णं संश्रये ॥ १ ॥

विजयरथमें बैठनेवाले और शास्त्रयोनिवाले, जिस लक्ष्मीके पति श्रीकृष्ण भगवान्ने संसारकी भलाईके लिये वेदोंके अर्थका संग्रह करके ही विस्तृत पद अर्थात् ब्रह्मपद बोधक सब शास्त्रोंके सारभूत गीतामें विस्तृत तत्त्व कहकर उसमें भी अत्यन्त सारभूत कारणकार्यसे अत्यन्त भिन्न अपने अन्तःकरणका रहस्य अर्थात् तत्त्व कहा है। मैं, अत्यन्त प्रेमके साथ उस स्तुति करने योग्य श्रीकृष्ण भगवान्का सम्यक्प्रकारसे आश्रय लेता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी—निरञ्जनदेवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां पुरुषोत्तमविभागयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १५ ॥

T

ॐ

विष्णवे नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ।

अध्याय—मंगलाचरणम् ।

रताः केचिद्योगे विजितकरणाः संयतधियः,
क्रियाजाले केचित्सुखलवरसास्वादनपराः ।
रताः शास्त्राभ्यासे विशदमतयः केचिदजडाः,
वयं तु श्रीकान्ताननवचनमास्वाद्य कृतिनः ॥ १ ॥

सा०—विजितकरणाः संयतधियः केचित् योगे रताः, सुख-लव-रस-आस्वादनपराः केचित् क्रिया—जाले, विशदमतयः केचित् अजडाः शास्त्र—अभ्यासे रताः । वयं तु श्रीकान्त-आनन—वचनम् आस्वाद्य कृतिनः ॥ १ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंको जीतकर बुद्धिका संयम कर कोई पुरुष योगमें मग्न हैं । लेशमात्र सुखके रसास्वादमें लवलीन हो कोई मनुष्य कर्म करनेमें तत्पर हैं । और राग द्वेषादिकोंसे रहित स्वच्छ बुद्धिवाले कोई पण्डित षट् शास्त्रोंके अभ्यास करनेमें ही अनुरक्त हैं । किन्तु हम तो लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण भगवान्के मुखारविन्दके वचनामृतका आस्वादन करके कृतकृत्य हैं ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच हे पार्थ! भयराहित्यमभयं, सत्त्वशुद्धिरन्तःकरणशुचिता, ज्ञानयोगयोरवस्थितिः, दानं, बाह्येन्द्रियाणां दमः, यज्ञाः, स्वाध्यायस्तपश्चार्जवं मृदुभावत्वमेतानि दैव्याः सम्पत्ते रूपाणि सन्ति ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अभय, अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञान और योग दोनोंमें स्थिति, दान तथा दम और यज्ञ तथा स्वाध्याय और तप तथा आर्जव अर्थात् मृदुस्वभाव ये, सब दैवी सम्पत्तिरूप हैं ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

मनसा,वाचा,शरीरेण च परपीडानिवृत्तिरहिंसा,मिथ्या अप्रियं त्यक्त्वा सत्यवादित्वम्, अक्रोधः फलत्यागः, शान्तिरपैशुन्यं, प्राणिषु च दया, विषयेष्वनासक्तित्वम्, चित्तस्य मार्दवं, दुष्टेषु निन्दितेषु कर्मसु ह्रीः लज्जाभावोऽचापल्यमिन्द्रियाणां स्थैर्यमेतत्, दैवीसंपत्तेः रूपमस्ति ॥ २ ॥

प्राणीमात्रको मन वाणी और शरीरसे पीड़ित नहीं करनारूप अहिंसा, अप्रिय अनृतको त्याग कर सत्यभाषण, क्रोधका अभाव सब फलाशाओंका त्याग, शान्ति, चुगली न करनेरूप अपैशुनता, प्राणियोंपर दया, विषयोंमें अलोलुपता, चित्तकी मृदुतामय कोमलता, अशुभ कर्मोंमें शिष्ट पुरुषोंसे लज्जा, इन्द्रियों और मनकी अचपलता, ये सब दैवी सम्पत्ति हैं ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

हे पार्थ! तेजः, क्षमा, धैर्यम्, पवित्रता, द्रोहाभावोऽनतिमानित्वम्, चेमे गुणा दैवीसम्पत्तिमुपादाय जन्मवतां पुरुषाणां जायन्ते ॥ ३ ॥

हे भरतवंशी, अर्जुन! तेज, क्षमा, धैर्य, बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता, द्रोहसे निवृत्ति, अत्यन्त मानीपनका अभाव, ये गुण दैवी सम्पत्तिको लेकरके जन्मे हुए पुरुषको स्वभावसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

T

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

हे पार्थ ! आसुरीं सम्पदमादाय जन्मवतां पुरुषाणां च दम्भो धनपुत्रादिनिमित्तोऽभिमानो, गर्वः, क्रोधस्तथा कटुभाषणम्, अविवेकित्वं च भवति ॥ ४ ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन आसुरी ! सम्पत्तिको लेकरके जन्मे हुए पुरुषको, पाखण्ड घमण्ड, स्त्री, धन,पुत्र, परिवार आदिके निमित्तसे होनेवाला गर्व । और क्रोध तथा कटु भाषण और अविवेक–सत्यासत्यका विवेचन न करना, ये भाव होते हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

दैवी सम्पत्तु, मोक्षाय भवति । बन्धनाय चासुरी भवतीति लोकशास्त्रविद्भिर्मता ज्ञातेत्यर्थः । हे पाण्डुपुत्र, अर्जुन ! त्वं च, दैवीं सम्पदं गृहीत्वा जननं लब्धवानसि, अतः शोकं मा कुरु ॥ ५ ॥

दैवी सम्पत्ति ! मोक्षके अर्थ, और आसुरी सम्पत्ति वन्धनके अर्थ मानी है । हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! तू, दैवी सम्पत्तिको लेकर जन्मको प्राप्त हुआ है । तू शोक मत कर ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! संसारेऽस्मिन्, द्वौ भूतसर्गौ स्तः । दैवः सर्गोऽन्यश्चासुरः । दैवसर्गस्य वर्णनं तु विस्तरेण प्रतिपादितम् । अधुनाऽऽसुरसर्गं कथयामि । तं शृणु मत्तः।

तथाच श्रुतौ–

“ द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ” ॥ ६ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! इस संसारमें दो ही प्रकारके भूतसर्ग हैं–अर्थात् मनुष्योंकी सृष्टि है । एक तो दैवसर्ग और दूसरा आसुरसर्ग । उनमेंसे दैवसर्ग का पूर्व ही विस्तारसे कथन किया गया है । अब आसुरी सर्गको मुझसे सुनो ॥

जैसा श्रुतिमें कथन किया है–

“ प्रजापतिकी दो सन्तानें हैं–दैव और आसुर ” ॥ ६ ॥

T

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

आसुरा जनाः विधिवाक्यात्मिकां प्रवृत्तिं, निषेधवंचनात्मिकां निवृत्तिं च, न जानन्ति। न च तेषु आसुरजनेषु, सत्यं शौचं वेदोक्ताचारश्च विद्यते ॥ ७ ॥

आसुरी स्वभाववाले मनुष्य, वेद विधिवाक्यरूप प्रवृत्ति और निषेधवाक्यरूप निवृत्तिको भी नहीं जानते हैं। उनमें न शौच-पवित्रता, न वेदोक्त आचार, और न सत्य भाषण रहता है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

ते असुरस्वभावाः पुरुषाः, जगदिदमसत्यमधिष्ठानशून्यमनीश्वरम्, परस्परस्त्रीसंयोगाज्जायमानं, कामैकहेतुकं वदन्ति। अस्य जगतोऽन्यत्कारणं किमपि नास्तीति वदन्ति च। लोकायतिकमतमेव गृह्णन्ति।८।

वे आसुरी स्वभाववाले पुरुष, इस जगतको असत्य और अधिष्ठानरूप प्रतिष्ठासे रहित है, अनीश्वर है अर्थात् नहीं है ईश्वर नियन्ता जिसका ऐसा है, तथा अपरस्पर अर्थात् ईश्वरसे उत्पन्न न मानकर, स्त्रीपुरुषकी परस्परकी विषयाभिलाषासे उत्पन्न होता है इसीलिये कामकारणवाला अर्थात् कामही जगतका कारण है इस प्रकार कहते हैं, और कहते हैं कि इस जगत् का दूसरा कोई कारण नहीं है। इस तरह देहात्मवादियोंका कथन है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इमां पूर्वोक्तां दृष्टिमवलम्ब्य नष्टबुद्धयः, स्वल्पबुद्धयः तमोगुणाच्छादितबुद्धयः, उग्रकर्माणोऽहिताः परेषामनुपकारकर्त्तारः,

इस पूर्वोक्त दृष्टिको आश्रय करके विनष्ट बुद्धिवाले, हिंसादि उग्र कर्म करनेवाले, अपकार कर्त्ता, सर्वप्राणियोंके नाशके

T

जगतः लोकस्य क्षयाय विनाशाय सर्पादिवज्जायन्ते ॥ ९ ॥

अर्थ, व्याघ्रसर्पादिकोंके स्वभावके समान उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥
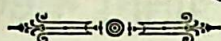
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्ततेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

ते, दुःखेन पूरयितुमशक्यं दुष्पूरं विषयभोगेच्छारूपं कामं समाश्रित्य दंभमदमानयुक्ताः,शौचाचारविहीनाः, मोहेनासदशुभकर्मणां गृहीतारः, ऐहिकभोगहेतुकेऽसत्कर्मणि स्वैरं प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

वे आसुरी सम्पत्तिवाले पुरुष, दुःखसे भी पूर्ण होनेको अशक्य ऐसे विषयादि भोगोंकी उत्कट अभिलाषारूप इच्छाको आश्रय करके दंभ मान और मदसे युक्त हो, स्नान शौचादि रहित मलिन हुये, भ्रमरूप मोहसे अशुभ सिद्धान्तोंको ग्रहण करके, ऐहिक भोगहेतु स्वेच्छानुसार कर्ममें प्रवृत्त होते हैं ॥ १० ॥

चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

आमरणमपरिमितां चिन्तामाश्रिताः, विषयोपभोगपुरुषार्थास्ते कामपरायणाः, एतावदेव सुखमिति निश्चयवन्तो भवन्ति ॥ ११ ॥

और मरणपर्यन्त अपरिमित चिन्ताके आश्रित, विषयको परम पुरुषार्थ मान कामभोगपरायण हुये, इतना ही (दृष्टिगोचर) भोग विलास ही सुख है । इस प्रकारके निश्चयवाले होते हैं ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

नानाविधभोगाशापाशैर्बद्धा ग्रस्ताःकामक्रोधतत्परास्ते जना विषयभोगार्थं स्तेयद्यूतादिकर्मभिर्द्रव्यसञ्चयमिच्छन्ति ॥१२॥

अनंत प्रकारकी भोगकी आशाओंके पाशमें बँधे हुये कामक्रोधपरायण हुये वे,विषयभोगार्थ चोरी जुवां और वञ्चनादि अन्यायसे धनके सञ्चय करनेकी इच्छा करते हैं ॥१२॥

T
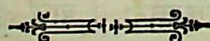
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

इदं धनमद्य लब्धं मया, पुनश्चेमं विचारितं मनोरथं श्वः प्राप्स्ये। एतन्मे धनमस्ति। सङ्कल्पितमिदं धनं मे भविष्यति। धनीति विख्यातो भविष्यामि॥ १३॥

यह धन, आज मैंने स्वपुरुषार्थ प्रयत्नसे प्राप्त किया है। और इस निर्धारित मनोरथको पाऊंगा, यह मेरा धन है, और यह सङ्कल्पित धन भी फिर मेरा होगा अर्थात् धनी विख्यात होऊंगा॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥

मयाऽसौ शत्रुर्हतः, अन्यांश्च हनिष्यामि। अहमेवेश्वरो निगृहीता सर्वेषाम्, अहं भोगी, सर्वविधसाधनसम्पन्नः स्त्रीपुत्रादिमान्बलवान् सुखी च अहं विद्ये॥ १४॥

मैंने इस शत्रुको हनन किया है, और दूसरे शत्रुओंको भी मैं हनन करूंगा। मैं ईश्वर अर्थात् सर्वके निग्रहमें समर्थ हूँ। मैं भोगी हूं। मैं सर्व साधन—सम्पन्न स्त्रीपुत्रादियुक्त सिद्ध हूं। मैं बलवान् हूं और मैं सुखी हूं॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥

अहमेवाढ्योऽभिजनवान्कुलीनो बहुकुटुम्बोऽस्मि। कोऽन्यः पुरुषो मया सदृशो विद्यते अस्मिँल्लोके। अहं दानं दास्यामि। देवान्यक्ष्यामि। हृष्यामि च, एवंविधाज्ञानेन विमोहिता भवन्ति ते जनाः॥ १५॥

मैं धनवान और स्वसम्बन्धीयुक्त कुलवान हूँ, मेरे बराबर दूसरा कौन संसारमें है, मैं याग करूंगा, दान दूंगा, और हर्षित होऊंगा। इस प्रकार अज्ञानसे अनेकप्रकारके मोहको प्राप्त होते हैं॥ १५॥

अनेकचित्तविभ्रांता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अनेकैर्दुष्टैः सङ्कल्पैः भ्रान्तचेतसो मोह-पाशबद्धाः स्त्रीधनपुत्रादिविषयेषु सक्तास्ते, विण्मूत्रमयेऽशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

अनेकदुष्टसङ्कल्पोंसे विशेष भ्रान्त हुये मनवाले, स्त्री पुत्रादि विषयोंके मोहरूपी जालमें फँसे हुये, और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुये, वे, मलमूत्रमय अपवित्र रौरव नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजंते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

स्वात्माभिमानिनोऽविनीता धनमदगर्वितास्ते, केवलं नाम-मात्रैर्यज्ञैरविधिपुरस्सरं दम्भभावेन यजन्ति ॥ १७ ॥

आत्माभिमानी, अनम्र, धनसे गर्वरूप मान और उन्मत्ततारूप मदसे युक्त वे, नाममात्रके यज्ञोंसे अविधिपूर्वक दम्भसे अर्थात पाखण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥
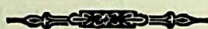
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

सर्वोत्कृष्टत्वरूपमहंकारं, धनजनशरीरोत्थं बलं, दर्पं, कामं, क्रोधं चाश्रित्य स्वपरात्मसु स्थितं मां परमात्मानं, द्विषन्तोऽभ्यसूयाकारिणो भवन्ति ॥ १८ ॥

सर्वश्रेष्ठपनका अहङ्कार,और धन जन और शारीरिक बल, तथा गर्व, काम और क्रोधका आश्रय करनेवाले, अपने आपकी और पर की देहोंमें स्थित मुझ आत्माका द्वेष करनेवाले, और श्रेष्ठपुरुषोंमें दोषारूपणरूप असूयाके करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

स्वपरदेहेष्ववस्थितं मां द्विषतः क्रूरतरांस्तान्मनुष्याधमानशुभकर्तॄन् पामरानहं सर्वनियन्ता परमात्मा, पापामासुरीं योनिं प्रति क्षिपामि। तास्वेव योनिषु ते जन्म लभन्ते ॥ १९ ॥

अपनी और परकी देहमें स्थित मुझसे द्वेष करनेवाले, राक्षसोंसे भी क्रूर, मनुष्योंमें अधम, निरन्तर अशुभ कर्मोंको करनेवाले, उन पामरोंको, मैं सर्वका नियन्ता परब्रह्म ही, पापकारिणी आसुरी योनिरूप संस्मृतियोंमें ही वारंवार डालता हूँ ॥ १९ ॥
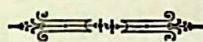
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कौन्तेय! ते, आसुरी योनिं प्राप्ता जन्मानि जन्मानि विवेकमलभमानाः, प्रत्यगभिन्नं परब्रह्मात्मानं मामीश्वरमनासाद्याधमां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

हे कुन्तीतनय, अर्जुन! आसुरी योनिको प्राप्त हुये, जन्म जन्मान्तरोंमें अविवेकी हुये वे पुरुष, मुझ परमात्माको न पाकर ही अधम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥
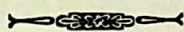
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

जीवात्मनो नाशकमधमयोनिप्रापकमिदं नरकस्य त्रिविधं द्वारं कामः, क्रोधो, लोभश्च विद्यते। अतो हेतोरेतत् त्रयं त्याज्यमेवास्ति ॥ २१ ॥

जीवात्माका नाश करनेवाले अर्थात् इस जीवको अधम योनियोंकी प्राप्ति करानेवाले ये तीन, नरकके द्वार हैं, काम क्रोध और लोभ। इसकारण इन तीनोंको अतिप्रयत्नसे परित्याग करना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

हे कौन्तेय! नरकद्वारभूतैरेतैः कामादिभिर्मुक्तो यो नरः, स्वात्मश्रेयःसाधनं

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन! नरकके द्वाररूप इन कामादि तीनोंसे रहित, जो

वेदोक्तश्रवणमननादिकम् "श्रुत्वा" गुरुमुख्येभ्यः करोति । ततः स मोक्षं परां गतिं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

विवेकी पुरुष है वह, आत्माके श्रेयरूप मोक्ष साधन वेदान्तश्रवण मनन आदिको सम्पादन करता है । जिससे कि वह मोक्षरूपी परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

यः पुरुषः शास्त्रोक्तं कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं विधिं त्यक्त्वा स्वैरमाचरति । स नेष्टसिद्धिं न च चित्तशुद्धिं न च सुखं न च परां गतिमेति ॥ २३ ॥

जो पुरुष शास्त्रविहित परमहितकारी विधिको परित्याग करके अपनी इच्छानुसार आचरण करता है वह, न चित्तशुद्धि, न सुख, और न मुक्तिरूप परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

तस्मात्पार्थ ! ते कर्त्तव्याकर्त्तव्यकर्मसु, शास्त्रमेव प्रमाणं भवति । अतोऽस्यां संसारस्थल्यां शास्त्रीयविधिवाक्योक्तानि कर्माणि युद्धादीनि स्वधर्मरूपाणि, कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

इस कारण, हे अर्जुन ! तुझे करने योग्य कार्य और न करने योग्य कार्यकी व्यवस्थामें, शास्त्र ही प्रमाण है । इसलिये इस संसारकी कर्मस्थलीमें शास्त्रोंद्वारा विधानपूर्वक किये हुये स्वधर्मरूप कर्मको करनेके योग्य है ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अध्यायसमाप्ति—मङ्गलाचरणम् ।

दैवीसंपद्विमोक्षं जनयति सुधियामासुरी दुःखहेतुः,
ह्यासुर्यास्त्यागहेतुर्हरिचरणरतिर्नान्यथाऽतोऽप्यनन्यः ।
स्वान्ते प्रेम्णैव कृष्णं स्मर भज सततं स्वात्मभूतं महेशं,
मुक्तिस्तेनैव सिद्धा भवति हरिवचो मानमत्रानवद्यम् ॥ १ ॥

T

दैवी संपत् सुधियां मोक्षं जनयति ! आसुरी संपद् दुःखहेतुर्भवति। आसुर्यास्त्यागहेतुः,हरिचरणरातिः। अन्यथा न। अतः स्वात्मभूतं महेशं कृष्णं प्रेम्णैव स्वान्ते स्मर भज च। तेनैव मुक्तिः सिद्धा। अत्र अनवद्यं हरिवचो मानमस्ति ॥ १ ॥

निश्चयसे ही दैवी सम्पत्ति, बुद्धिमानोंके लिये मुक्ति उत्पन्न करती है और आसुरी सम्पत्ति दुःखका कारण होती है । उसके त्यागका कारण, विष्णु भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें अनुराग करना ही है । और दूसरा उपाय नहीं है । इस कारण हे पुरुष ! प्रेमसे ही अपने आप उत्पन्न हुये महान देव श्रीकृष्णका अपने चित्तमें स्मरण कर और भजन कर । उसीसे मुक्ति सिद्ध है । इसमें भगवान् श्रीकृष्णका पवित्र वचन ही प्रमाण है ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य—स्वामी-निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत—अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १६ ॥
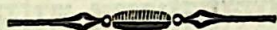
ॐ

श्रीमाधवाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।

अध्याय–मंगलाचरणम् ।

स्वयंज्योतिर्ब्रह्म श्रुतिशिखरगीतं निरवधिं,
जगद्धामाद्वैतं प्रकृतिपुरुषान्तर्गतमजम् ।
महेशाद्याराध्यं व्रजयुवतिभिः स्वाद्यममृतम्,
महः श्रीकृष्णाख्यं सुखनिधिमहं नौमि सततम् ॥ १ ॥

सा०–स्वयंज्योतिः, ब्रह्म, श्रुतिशिखर-गीतम्, निरवधिम्, जगद्–धाम, अद्वैतम्, प्रकृतिपुरुष-अंतर्गतम्, अजम्, महेश-आदि-आराध्यम्, व्रज-युवतिभिः स्वाद्यम्, अमृ-तम्, सुख-निधिम्, श्रीकृष्ण-आख्यम्, महः, अहं सततं नौमि ।

अर्थ–अपने आप ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म वेदोंके ॐ कारादिपदोंसे गाये हुए, अपरिमित, जगत-प्रकाशक, अद्वैत, प्रकृति और पुरुषके मध्यमें व्याप्त, अजन्मा, रुद्रआदिदेवोंसे आराधना करने योग्य, व्रजमण्डलकी युवतियोंसे साक्षात्कार किये गये, अमृतस्वरूप, सुखके सागर, श्रीकृष्णनामक तेजको, मैं निरन्तर नमस्कार करता हूं ॥

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच। हे भगवन् वासुदेव कृष्ण! ये जनाः शास्त्रीयं विधिं विहाय श्रद्धया देवादीन्यजन्ति। तेषां पुरुषाणां निष्ठा का? सात्त्विकी राजसी तामसी वा भवति॥

तथा च श्रुतौ—

"वेदविहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः" ॥ १ ॥

अर्जुन बोला—हे भगवन् श्रीकृष्ण! जो शास्त्रविहित विधिको उलंघन करके श्रद्धायुक्त हुए देवपूजनादि करते हैं। उन पुरुषोंकी किस प्रकारकी निष्ठा है? सतोगुणी अथवा रजोगुणी या तमोगुणी।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"वेदविहित ही धर्म है और तद्विपरीत अधर्म है" ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीवासुदेवोऽवदत्। देहवतां प्राणिनां, स्वभावजा श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसीति त्रिविधा भवति। ताः सर्वाः मत्तः शृणु ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले—हे अर्जुन! देहधारी पुरुषोंकी स्वभावजन्य श्रद्धा, सात्विकी राजसी तथा तामसी इस भेदसे तीन प्रकारकी होती है, उसको सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भरतकुलोत्पन्नार्जुन! सर्वेषां प्राणिनामन्तःकरणसदृशी श्रद्धा भवति। अयमपि पुरुषः श्रद्धामयोऽस्ति। यस्य यादृशी श्रद्धा जायते, स तत्सदृशो भवति। सत्त्वादिगुणविशिष्टाः श्रद्धावन्तो जनास्तादृशं कर्म कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

हे भरतकुलसंभूत, अर्जुन! सब प्राणियोंकी अपने अन्तःकरणके रूप ही श्रद्धा होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। जो पुरुष जिस श्रद्धावाला होता है, वह तत्सदृश ही होता है अर्थात् जो पुरुष जिस सात्त्विक आदि श्रद्धावाला होता है, वह अपनी श्रद्धाके अनुसार ही सतोगुणी आदि कहलाता है ॥ ३ ॥

यजंते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सात्त्विका जनाः विष्ण्वादिदेवान् यथाशास्त्रमर्चन्ति । राजसाः कामनायुक्ताः, यक्षराक्षसांश्च यजन्ति, अन्ये च तामसाः, भूतान्प्रेतान्पूजयन्ति ॥ ४ ॥

सात्त्विक जन, विष्णु आदि देवताओंको पूजते हैं तथा राजसी जन, कामनावश हुये यक्ष राक्षसोंको यथाशास्त्र पूजते हैं । और अन्य बहुतसे तामसी जन, प्रेत और भूतोंके गणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

ये पुरुषा अशास्त्रोक्तं घोरं तपश्चरन्ति। ये च दम्भाहंकारवन्तः कामेच्छायुक्ताः शरीरेऽवस्थितं कीटसमूहं वृथाऽत्मन्यवस्थितं माँ साक्षिणं परमात्मानं च, पीडयन्तः कृशं कुर्वन्तो विवेकहीनाः संति । तानासुरस्वभावान् विद्धि त्वम् ॥५॥ ६ ॥

जो पुरुष,शास्त्रसे विहित घोर तप तपते हैं, दंभ और अहङ्कारसे युक्त हैं, काममें दृढ़ आसक्तिरूप राग और साहससे भी विषयके साधनोंमें बलसे संयुक्त हैं, तथा शरीरमें स्थित कृमि आदिक जीवोंके समूहको तथा शरीरके मध्य (हृदय) में स्थित मुझ साक्षीभूत परमेश्वरको भी कृश करते हैं। और विवेकसे रहित हैं । उन पुरुषोंको, तू आसुरी—निश्चयवाले अर्थात् तामसी तपस्वी जान ॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

सर्वेषां प्राणिनामाहारोऽपि त्रिविधः प्रियो भवति। यज्ञो, दानं, तपश्चैव त्रिवि-

सर्व प्राणियोंका प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है । तथा सब यज्ञ, तप

धर्मस्ति । तेषां सर्वेषां सात्त्विकादीन् भेदानिमान् शृणु ॥ ७ ॥

और दान ये भी तीन प्रकारके होते हैं । उन सबके सात्त्विकादिक भेदको तू श्रवण कर ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥८॥

सात्त्विकानां जनानां तु, सत्त्वायुर्बलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रसयुक्ताः स्निग्धाः स्थैर्यवन्तो मनोहराः सुस्वादाः क्षीराज्यसितयुक्ता आहाराः प्रिया भवन्ति ॥

तथाचोक्तं श्रुतौ—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धेः ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः । अन्नमयं हि सौम्य मनः"॥ ८ ॥

आयु,सतोगुण, सात्त्विक बल, निरोगता सुख और प्रीति बढ़ानेवाले, मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर-अर्थात् चिरकालतक रहनेवाले, क्षीर, मिश्री और घृतादिक आहार, सात्त्विक जनोंको प्रिय हैं ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"आहारकी शुद्धिसे चित्तकी शुद्धि और उससे अहं ब्रह्मास्मिरूप स्मृति । तथा चित् जडरूपी ग्रन्थीका नाश होता है और उसीसे मोक्ष होता है । क्योंकि मन अन्नमय है । जैसा भोजन करोगे वैसा मन बनेगा" ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

राजसानां रजोगुणविशिष्टानां तु कषायाम्ल—लवण--क्षारात्युष्ण-तीक्ष्ण-शुष्क-विदाहिनो दुःख-शोक-रोग-प्रदा आहारा इष्टा भवन्ति ॥ ९ ॥

अति कटु, खट्टे, खारे, अत्यन्त उष्ण, रूखे, दाह करनेवाले, तथा दुःख, शोक, रोग करनेवाले आहार, राजसी प्रकृतिके पुरुषोंको प्रिय हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

तामसानां निर्बुद्धीनां तु, पक्कार्धं, व्यपगतरसं, पूति, यातयामम्, उच्छिष्टम्, अपवित्रं, भोजनं प्रियं भवति ॥ १० ॥

जो अर्ध पक्क या जला, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, और बासा, उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन है, वह, तामसी प्रकृतिवालोंको प्रिय है ॥ १० ॥

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

फलेच्छाविमुखैः पुरुषैर्यष्टव्यमेवेति विनिश्चित्य यः शास्त्रविहितो यज्ञोऽनुष्ठीयते । स यज्ञादिको धर्मः, सात्त्विक उच्यते ॥ ११ ॥

फलकी इच्छासे रहित पुरुषोंसे, "विधिपूर्वक यजन करने योग्य ही है" इसप्रकार मनको निश्चय करके जो शास्त्रविहित यज्ञका अनुष्ठान कियाजाता है । वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

हे पार्थ ! स्वर्गादिकं फलमुद्दिश्य दंभार्थमपि च, यत् यज्ञानुष्ठानं क्रियते । तं यज्ञं धर्मं, राजसं जानीहि ॥ १२ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ—अर्जुन ! स्वर्गादिक फलको उद्देश करके तथा दम्भार्थ भी जो यज्ञानुष्ठान किया जाता है । उस यज्ञको तू राजस जान ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

शास्त्रविधिशून्यं मंत्ररहितं, श्रद्धाविरहितम्, दक्षिणा-विधिरहितं यज्ञं, तामसं कथयन्ति तत्त्वविदो वेदविदो जनाः॥१३॥

शास्त्रविधिरहित, अन्नदानरहित, मंत्ररहित, दक्षिणा रहित और श्रद्धारहित यज्ञको, वेदवेत्ता शिष्टपुरुष तामस—यज्ञ कहते हैं ॥ १३ ॥

T

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

विष्ण्वादीनां देवानां श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां गुरूणां ब्राह्मणविदुषां च पूजनम्। बाह्याभ्यन्तरतः शरीरशुद्धिः, कौटिल्यरिक्तता, अष्टविधमैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यम्, परपीडादायककर्मणामभाव इति शारीरं तप उच्यते ॥ गुरुव्याख्या शास्त्रे—

"गुरुभक्तिसमायुक्तः। पुरुषज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते। गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निवर्तकः। अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम्। गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् ॥ यस्मात् हितोपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरो गुरुः ॥" यः सकृदुद्धारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वकामानाप्नोति। सर्वसिद्धिर्भवति॥१४॥

विष्णुआदि देव, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु, ब्राह्मण, और ब्रह्मनिष्ठ विद्वानका पूजन, शरीरकी शुद्धि, अकुटिलता, अष्ट प्रकारके मैथुनका त्याग, और अहिंसा, यह शरीरका तप कहा जाता है॥

यहां इस श्लोकमें जो गुरुपद आया है उसकी व्याख्या—"ब्रह्मात्मनिष्ठ विशेष पुरुष गुरु कहाता है। जो अंधकारको निवारण करता है वही गुरु है, ऐसा गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परम गति है, वही गुरु परा विद्या और परम अयन है, वही परा काष्ठा और परम धन है, क्योंकि, गुरु ही हितका उपदेशक होनेसे गुरुतर है। जो एकही समयमें उद्धार करता है, संसारसे मुक्त करता है, उसके उपदेशसे ही सब जन्मोंमें किये पापोंका नाश होता है। सर्वकामनाओंकी सिद्धि होती है" ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

केषामपि नोद्वेगकरं वाक्यं यत् सत्यं प्रियं हितं च भवेत्, स्वाध्यायाभ्यसनं वेदानामभ्यसनं वा, सर्वमेतत् वाङ्मयं तपः कथ्यते ॥ १५ ॥

प्राणिमात्रके मनको दुःखरूप उद्वेगको न करनेवाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारी जो वाक्य हैं, तथा वेदादिका जो अभ्यास है, यह सब वाणीका तप कहा जाता है ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

चित्तनैर्मल्यं सौम्यत्वम्, सत्य—प्रयोजनाभ्यां विना नोक्तिर्मौनम्, मनसो निग्रहोऽन्तःकरणशुद्धिः, एतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनकी प्रसन्नता, कोमल स्वभाव, सत्य, और विना प्रयोजनके न बोलनेरूप मौन, मनोनिग्रह, अन्तःकरणकी शुद्धि इत्यादि सब तपको, मानस तप श्रुति—शास्त्रोंमें कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

फलाभिलाषारहितान्तःकरणैरेकाग्र्यमानसैः पुरुषैर्यत्परमया श्रद्धयोक्तं त्रिविधं तपो विधीयते । तत्सात्त्विकं तपो विधीयते ॥ १७ ॥

फलकी इच्छा रहित, एकाग्र चित्तवाले पुरुषोंसे, परम श्रद्धासे किया हुआ जो पूर्वोक्त तीनप्रकारका कायिक वाचिक मानसिक तप है उसको व्यास वसिष्ठादि शिष्ट पुरुष सात्त्विक तप कहते हैं ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

यच्च तपो, मानपूजाप्रतिष्ठार्थं लोकानां रंजनात्मकेन दंभेन क्रियते, तत्तपो राजसमुच्यते । तद्धि तपोऽस्मिँल्लोके फलं प्रयच्छति । तच्च विनाशि ध्रुवताराहितं च विद्यते ॥ १८ ॥

जो तप, सत्कार मान और पूजाके अर्थ लोकरञ्जनके दंभसे किया जाता है, वह राजस तप कहा जाता है । वह इस लोकमें ही तुच्छ सुखरूप फल देनेवाला है । तथा विनाशी और अनिश्चित है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

T

यत्तपो, दुर्निर्बन्धातिशयेन, देहेन्द्रियसंघातस्य शरीरस्य पीडया च क्रियते। अथवा परस्योत्सादनार्थं क्रियते, तत्तामसं तपोऽभिधीयते ॥ १९ ॥

जो तप, दुष्ट हठरूप दुराग्रहसे और देहेन्द्रियरूप संघातकी पीडासे किया जाता है। अथवा अन्य किसी प्राणीके विनाशार्थ किया जाता है वह तामस कहा गया है ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

फलेच्छाविमुखैः पुरुषैर्देयमिति बुद्ध्या देशे कुरुक्षेत्रादिभूमौ, ग्रहण—पर्वादिकाले वाऽनुपकारिणे ब्रह्मविदे पात्राय दानं दीयते, तत्सात्त्विकदानमभिहितं शास्त्रवेतृभिः ॥

फलकी इच्छासे रहित होकर "दिये जानेके योग्य है" इस प्रकार जानकर जो दान, कुरुक्षेत्र और हरिद्वारआदि उत्तम देशोंमें और ग्रहण तथा सोमवती आदि पर्वकालमें, तथा अपनेपर उपकार न करनेवाले ब्राह्मणादि उत्तम पात्रको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा है ॥

तथाच श्रुतौ—

"यत्फलं लभते मर्त्यः कोटिब्राह्मणभोजनैः। तत्फलं समवाप्नोति ज्ञानिनं यस्तु भोजयेत् ॥ यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ब्राह्मणा नाममात्रेण जीवन्ति कुक्षिपूरकाः" ॥२०॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जो वर्णाश्रमी गृहस्थ,कोटि नाममात्रधारी ब्राह्मणोंको खिलानेसे फल पाता है। वह, केवल ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी अथवा ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणादिके खिलानेसे उस फलको प्राप्त होता है। जिस तरह काठका हाथी और चर्मका मृग, वैसेही विना पढ़ा लिखा ब्राह्मण, ये तीनों नामधारी हैं। ब्राह्मण जातिका केवल अभिमान करनेवाले अपनी उदर (कुक्षि)को पूरण करके जीवित हैं" ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

यद्दानं, प्रत्युपकारेच्छया फलमुद्दिश्य वा दीयते ब्राह्मणादिभ्यः। अथवा क्लेशसहस्रपूर्वकं प्रदीयते। तद्दानं राजसमुच्यते। तदनिष्टकारि जायते ॥ २१ ॥

जो दान, प्रत्युपकार अर्थ अर्थात् बदलेमें उपकारके अर्थ, अथवा फलकी प्राप्तिको उद्देश करके और पश्चात्तापपूर्वक ब्राह्मणादिकोंको दिया जाता है, वह दान राजस कहाजाता है, वह अनिष्टकारी होता है॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

यच्च दानम्, अदेशे म्लेच्छादिसंपृक्तदेशे, संक्रान्तादिपुण्यकालारहिते समये वा, शास्त्रसंस्कारहीनाय मूर्खाय प्रियवचन—सत्कार-पादप्रक्षालनादिविधिविहीनपूर्वकं दीयते। तत्तामसं दानं प्रोच्यते ॥ २२ ॥

जो दान, अदेश और अकालमें अर्थात् म्लेच्छादि संयुक्त प्रदेश और संक्रान्ति आदि रहित अशुभ कालमें शास्त्रसंस्कारहीन मूर्खादि अपात्रोंको प्रियवचन पादप्रक्षालनादि सत्कारसे रहित अवज्ञायुक्त दिया जाता है, वह तामसदान कहलाता है ॥ २२ ॥

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ॐ तत्सदिति पदत्रयात्मकं, ब्रह्मणो नाम, ब्रह्मवेतृभिः स्मृतौ, श्रुतौ, शास्त्रे च प्रतिपादितमस्ति। तेनैव नाम्नादौ सृष्टिप्रारम्भे, प्रजापतिना ब्राह्मणाः, वेदाः, कर्मस्वरूपा यज्ञाश्च, लोकोपकाराय निर्मिताः सन्ति ॥ २३ ॥

ॐ तत्सत् इस प्रकारका तीन पदोंवाला ब्रह्मका नाम, ब्रह्मवेत्ताओंने चिन्तन किया है। उस नामसेही सृष्टिके आदिकालमें प्रजापतिने ब्राह्मण तथा वेद, और कर्मरूप यज्ञ, लोकोपकारके लिये उत्पन्न किये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

अत एव ब्रह्मवादिनामोमित्युदाहृत्योंकारवाचनपूर्वकं, यज्ञ-दान-तपः-क्रियाः शास्त्रोक्ताः भवन्ति ॥ २४ ॥

इस कारण, ॐ इस प्रकार उच्चारण करके ब्रह्मदर्शी वेदवेत्ताओंकी, विधानसे यज्ञ दान और तपक्रियायें निरन्तर आरंभ होतीं हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

मोक्षाकाङ्क्षिणो मुमुक्षवो जनाः फलमनीहमानास्तादिति प्रोच्य, विविधा यज्ञ-दान-तपो-रूपाः क्रियाः कुर्वन्ति ॥२५॥

मोक्षकी इच्छावाले मुमुक्षु विद्वानोंसे, कर्मफलोंकी इच्छा न करते हुये, "तत्" इसप्रकार उच्चारण करके, अनेक प्रकारके यज्ञ और तपरूप क्रिया तथा दानरूप क्रियायें की जाती हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

हे पार्थ ! सत्तायामस्तित्वे साधुतायां सद्भावे च, सदितिशब्दः प्रयुज्यते। तथैव प्रशस्ते कर्मणि, मङ्गलात्मकोपनयनादौ विधौ च, प्रयुज्यते ॥ २६ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! अस्तित्वमें और साधुभावमें अर्थात् भलाईके अर्थमें "सत्" इस प्रकारके शब्दका प्रयोग किया जाता है। और उपवीतादि माङ्गलिक कर्मोंमें भी "सत्" शब्द प्रयुक्त होता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाऽभिधीयते ॥ २७ ॥

क्रियमाणे यज्ञे तपसि दाने च विषये, स्थितिसूचनाय सादिति कथ्यते। तथैव

यज्ञ तप और दानमें स्थिति अर्थात् स्थित भावना रखनेको "सत्" यह शब्द कहा

ईश्वरार्थं यत्कर्म भवति, तदपि सदिति-शब्देन अभिधीयते ॥ २७ ॥

जाता है, तथा ईश्वरार्थ जो कर्म है उसमें भी सत् शब्द कहा जाता है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन! अश्रद्धया यत् दानम्, अग्निपूजनं, हवनं, तपश्च कृतं यच्चापि सुकृतं कृतं भवेत्तदसदिति, कथ्यते। तदसत्कर्म, नास्मिन्संसारे, नच परत्र लोके, फलं ददाति। निष्फलमेव भवति तत्।

यथोक्तं श्रुतौ–

"यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" ॥ २८ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन! अश्रद्धासे जो हवन किया हो, दान दिया हो, तप कियाँ हो, और जो कुछ यज्ञादि कर्म सुकृत किया हो, वह "असत" इस प्रकार कहा जाता है। वह मरनेपर न परलोकमें और न इस लोकमें फलप्रद अथवा हितकारी होता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जो वैदिक विधिसे ज्ञानपूर्वक कर्म किया जाता है, वह अतिफलदायी होता है" ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां श्रद्धात्रयविभाग-योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अध्यायसमाप्ति–मंगलाचरणम्।

श्रद्धात्रैविध्यमादौ सकलमखतपोदानसाद्गुण्यहेतोः,
'ओं तत्सत्' नाम चोक्तं श्रुतिविततफलं ब्रह्मविद्याप्तिहेतुः।
श्रद्धाहीनं विनिन्द्यं सकलमपि कृतं येन संप्रोक्तमित्थम्,
तं श्रीकृष्णं गुरूणामपि परमगुरुं भूरिभावैर्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

सा०-येन, आदौ श्रद्धात्रैविध्यमुक्तम्। सकलमखतपोदानसाद्गुण्यहेतोः श्रुतिविततफलं ब्रह्मविद्याप्तिहेतुरोंतत्सन्नाम चोक्तम्। येन चेत्थं सकलमपि कृतं श्रद्धाहीनं विनिन्द्यं संप्रोक्तम्। तं गुरूणामपि परमगुरुं श्रीकृष्णं भूरिभावैर्नतोऽस्मि ॥१॥

अर्थ-पहले सम्पूर्ण यज्ञ तप और दानोंकी सद्गुणताके होनेके लिये तीनप्रकार की श्रद्धा और ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका हेतु, वेदोंमें विस्तृत फलवाला, ॐ तत्सत्का नाम जिसने कहा। और "श्रद्धारहित सम्पूर्ण कर्म भी निन्दनीय होता है" इस प्रकार जिस परमात्माने सम्यक्प्रकारसे कहा है, मैं, गुरुओंके भी परम गुरु उस श्रीकृष्ण भगवानको प्रचुरभावोंसे प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य–स्वामी-निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत–अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ॐ

भगवते वासुदेवाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

अथ संन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ।

अध्याय-मङ्गलाचरणम् ।

अखण्डानन्दाब्धिं निगमशिरसां भावविषयं,
मुनीन्द्रैराराध्यं परमपदमीशानमकलम् ।
विशुद्ध्या सद्भक्त्या सपदि सुजनैः प्राप्यममृतं,
मुकुन्दं वन्देऽहं भ्रमतिमिरविध्वंसिचरणम् ॥ १ ॥

सा०—अखण्ड—आनन्द—अब्धिम्, निगम--शिरसांभावविषयम्, मुनीन्द्रैः आराध्यम्, परमपदम्, ईशानम्, अकलम्, सुजनैः विशुद्ध्या सद्भक्त्या सपदि प्राप्यम्, अमृतम्, भ्रम-तिमिर-विध्वंसि-चरणम, मुकुन्दं, वन्दे अहम् ॥ १ ॥

अर्थ—अखण्ड आनन्दके समुद्र, वेदोंके शिरोमणि, ॐकारादि वाक्योंके (अच्छे भावोंके) विषय, श्रेष्ठ मुनियोंसे आराधना करने योग्य, परब्रह्म, सबके ईश्वर, मायादि कलारहित, शब्दरहित, श्रेष्ठ जनोंसे शुद्ध सद्भक्तिद्वारा तत्क्षणमें प्राप्त होने योग्य, अमृतमय, अज्ञानजन्यभ्रान्तिरूपी अन्धकारके नाशकारी चरणारविन्दवाले, मुकुन्द, श्रीकृष्ण भगवानको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच। हे विशालबाहो विष्णो! हे हृषीकेश, हे केशिनिषूदन, दैत्यहन् वासुदेव ! संन्यासस्य त्यागस्य च, पृथक् पृथक् तत्त्वं ज्ञातुमिच्छाम्यहम् ॥ १ ॥

अर्जुन बोला-हे आजानुबाहु, इन्द्रियोंके प्रेरक, केशी दैत्यका नाश करनेवाले, भगवन्, श्रीकृष्ण ! संन्यास और त्यागके स्वरूपको पृथक् पृथक् जाननेकी मैं, इच्छा करता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

श्रीवासुदेवोऽवदत्। स्वर्गादिफलेच्छया क्रियमाणानां यज्ञानामश्वमेधादीनां कर्मणां त्याग एव संन्यासः कथितः सूक्ष्मतत्त्ववेदिभिः कविभिः। अथ सूक्ष्मतत्त्वविचारदक्षाः कवयः पण्डिताः पुरुषाः, सर्वेषां कर्मणां फलत्यागं, त्यागं कथयन्ति ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण भगवान् बोले-स्वर्गादिक फलोंकी कामनासे किये गये काम्यकर्मोंके त्यागको, सूक्ष्मदर्शी पुरुष संन्यास कहते हैं। और विचारकुशल विचक्षण पुरुष, सर्व कर्मोंके फलोंके त्यागको त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

हिंसादिदोषैर्दूषितं श्रौतं स्मार्तं वापि कर्म, त्याज्यमेवास्तीति केचन विद्वांसो वदन्ति। अन्ये मीमांसाज्ञातारो विद्वांसो वदन्ति, यत् यज्ञो दानं तपश्चैव शास्त्रविधिविहितत्वान्न त्यक्तुं शक्यते ॥ ३ ॥

हिंसादि दोषवाला श्रौत और स्मार्तरूप कर्म त्यागनेके योग्य है। इस प्रकार कई एक सांख्यके पण्डित कहते हैं। और यज्ञ, दान तथा तपरूप शुभ कर्म, शास्त्रविहित होनेसे नहीं त्यागने योग्य है, इस प्रकार अन्य मीमांसक पण्डित कहते हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः परिकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतकुलावतंस, पार्थ ! त्याग-विषये, मदीयो यो निश्चयो विद्यते, तं शृणु । यतो हि त्यागस्त्रिविधः प्रकीर्त्यते शास्त्रेषु ॥ ४ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ, अर्जुन ! त्यागके विषयमें मेरे निश्चयको, तू श्रवण कर । हे नरशार्दूल ! क्योंकि, त्याग तीन प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तपो-दान-यज्ञात्मकं कर्म, न त्याज्य-मपि तु कर्त्तव्यमेवानुष्ठेयमस्ति । यतो हि, यज्ञो दानं तपश्चैव फलेच्छाविमुखानां बुद्धिमतां पुरुषाणां चित्तशुद्धिविधा-यकानि सन्त्येव ।

तथाच श्रुतौ—

" त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम् " ॥ ५ ॥

यज्ञ दान और तपरूपी कर्म त्यागनेके योग्य नहीं हैं, किन्तु वे करनेके योग्य ही हैं । क्योंकि, यज्ञ, दान और तप, फलकी इच्छासे रहित किये बुद्धिमान् पुरुषोंकी पवि-त्रता अर्थात् चित्तकी शुद्धिको करनेवाले ही हैं ॥

जैसा श्रुतिमें कथन किया है—

" धर्म स्कन्ध (शाखा) तीन हैं यज्ञ, अध्ययन--तप, और दान" ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ ! पूर्वोक्तानि यज्ञदानतपःस्व-रूपाणि सर्वकर्माणि, सङ्गं कर्तृत्वाभिमानं स्वर्गादिफलकामनाश्च विहायानुष्ठेयानि सन्तीति, ईश्वरार्थं इत्थं मे निश्चितं मतं जानीहि ॥ ६ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! परन्तु ये यज्ञ, दान और तपरूप कर्म, कर्तापनके अभिमान-रूप सङ्गको और इच्छाके विषय स्वर्गादि-फलोंको त्यागकर ईश्वरप्रीत्यर्थ करने योग्य हैं । ऐसा मेरा निर्णीत उत्तम सिद्धान्त है ॥ ६ ॥

**नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः ॥ ७ ॥**

स्व-स्व-वर्णाश्रमोचितं, शास्त्रविहितं, नित्यं, नैमित्तकं च कर्म, न त्यक्तुं शक्यते, यदि च मोहात्प्रमादाद्वापि त्यागः कृतश्चेत्, स त्यागस्तामसः कथ्यते ॥ ७ ॥

परन्तु, अपने अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार शास्त्र नियमित नित्य नैमित्तिकरूप कर्मका त्याग नहीं है। उसका मोहसे जो परित्याग है, वह तामस त्याग कहा है ॥ ७ ॥

**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥**

दुःखदं कर्मेति विचार्य यैः शरीरभयात् कष्टाद्वा संध्याग्निहोत्रादीनि कर्माणि त्यज्यन्ते। स त्यागो राजसत्यागो भवति। तं त्यागं कृत्वापि, त्यागजन्यं फलं मोक्षं न लभते। भस्माहुतिरेव सः॥८॥

'कर्म दुःखरूप ही हैं' इस प्रकार जानकर, शारीरिक कष्टके भयसे सन्ध्या अग्निहोत्रादिक कर्मको त्याग करना, यह राजस त्याग है। ऐसे राजस त्यागको करनेवाला पुरुष, त्यागके फल (मोक्ष) को कभी भी नहीं पाता। क्योंकि वह (त्याग) भस्ममें हवन तुल्य होता है ॥ ८ ॥

**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वात्फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥**

हे अर्जुन! कर्त्तव्यमेवेति ज्ञात्वा नित्यं नैमित्तकं कर्म, फलासक्ती विहाय क्रियते अनुष्ठीयते। स त्यागो हि सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

हे अर्जुन! 'करनेके योग्य ही है' इस प्रकार जानकर जो नित्य नैमित्तिकरूप नियमित कर्म, आसक्ति और फलको छोड़कर किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक माना है ॥ ९ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

सात्त्विकस्त्यागी दैवीसंपत्तिविभूषितः सर्वप्रमाणप्रमेयसंशयहीनो मेधावी, अहं-ब्रह्मास्मीत्याकारेण ज्ञातात्मतत्त्वोऽशुभानि कर्माणि प्रतिकूलानि न मन्यते । तथैव शुभेऽपि कर्माणि, प्रीतिं न करोति ।

यथाच श्रुतौ—

"दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते । गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः" ॥ १० ॥

सात्त्विक त्यागी, दैवी संपत्तिरूप सत्त्व गुणसे युक्त होता है, और 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप बुद्धिवाला होता है। तथा प्रमाण प्रमेयगत सर्व संशयोंसे रहित होता है । वह, अशोभन कर्मको प्रतिकूल नहीं मानता है । तथा शोभन कर्ममें प्रीति नहीं करता ।

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"ज्ञानी पुरुष, दोष बुद्धिके कारण उभय कर्मोंको लाँघता है । अर्थात् अकुशल कर्मोंसे निवृत्त नहीं होता है, और न गुण बृद्धिसे विधिविहित कर्मको करता है । जैसे कि, उत्पन्न हुआ शिशु " ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

यतोहि देहाभिमानिनो जनाः कृत्स्नतया सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं न शक्नुवन्ति । अतो यः कर्मणां फलत्यागं करोति । सोऽपि गौणत्वेन संन्यासीत्यभिधीयते ११

क्योंकि, देहाभिमानी पुरुष सम्पूर्णतासे कर्मोंके त्याग करनेमें समर्थ नहीं है । इस कारण जो कर्मोंके फलोंका त्यागी है, 'वह भी गौण संन्यासी है' इसप्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

—ooo—

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न च संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

सात्त्विकत्यागरहितानामज्ञानां पुरुषाणां, पुण्यपापोभयमिश्रितं त्रिविधं कर्मफलं क्रमेण नरकतिर्यगादियोनिरूपमनिष्टं, पुनरावृत्तिविशिष्टदेवयोनिरूपमिष्टं, मनुष्ययोनिजन्मरूपं मिश्रितं च, भवति। किन्तु परमार्थदर्शिनां परमहंसानां केवलज्ञाननिष्ठानां संन्यासिनां न भवति तत्फलं कदापि ॥

यथाच श्रुतौ—

"त्रयाणामपि वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" ॥ १२ ॥

उक्त सात्त्विक त्यागसे रहित अज्ञानी पुरुषोंको, मरणके अनंतर पुण्य पाप मिश्रित कर्मका फल क्रमसे नरक तिर्यक् आदि योनिरूप अनिष्ट, और पुनरावृत्तिवाली देवयोनिरूप इष्ट, और मनुष्य जन्मरूप मिश्रित, इस भेदसे तीन प्रकारका मिलता है। परन्तु केवल ब्रह्मनिष्ठ परमहंस संन्यासियोंको कभी भी कुछ फल नहीं होता।

जैसा श्रुतिमें कथन किया है—

"तीनही वर्णोंको वेदाध्ययन पूर्वक चारों आश्रमोंका अधिकार है" ॥ १२ ॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

हे अर्जुन! सर्वेषां कर्मणां सिद्धये, पुरस्तात्प्रतिपाद्यमानानि पञ्च कारणानि जानीहि। यानि कृतान्ते कर्मसमाप्तिबोधके 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते, इति भगवद्वाक्यत्वात्' सांख्ये वेदान्ते प्रतिपादितानि ॥ १३ ॥

हे आजानुबाहु अर्जुन! सर्व कर्मोंकी सिद्धिके अर्थ इन आगे कहेजानेवाले पाँच कारणोंको तू मुझसे श्रवण कर। जो कि, सर्व अखिल कर्मोंकी समाप्तिवाले वेदान्त शास्त्रमें कथन किये गये हैं। 'क्योंकि, सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इस 'वाक्यसे आत्मज्ञान होनेपर कर्मकी निवृत्ति होती है। इस लिये कृतान्तको वेदान्त कहा है' ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

बुद्ध्याद्यष्टविशेषगुणानामभिव्यक्तिस्थानमधिष्ठानं शरीरम्, कर्तृत्वादीनामा-

इच्छा द्वेष सुख चेतना इत्यादिक धर्मोंकी अभिव्यक्तिका आश्रय रूप यह शरीर, तथा

T

त्मन्यारोपणकारी अहंकारःकर्ता, अपञ्चीकृतमहाभूताज्जायमानं शब्दादिविषयाणामुपलब्धिसाधनं श्रोत्रादिकरणमनेकधा चेष्टाश्च । तथैव पञ्चमं, पूर्वजन्मकृतकर्मफलदं दैवं वा चक्षुरादीन्द्रियानुग्रहकारकं सूर्यादिदैवम्, इत्येतानि पञ्च कर्मकारणानि सन्ति ॥ १४ ॥

कर्तृत्व आदि धर्मोंको आत्मामें आरोपित करनेवाला अहङ्कार रूप कर्त्ता, और अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न हुई शब्दादिक विषयोंके उपलब्धिका साधनरूप श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका समूहरूप भिन्न भिन्न प्रकारका करण, और अनेक प्रकारकी भिन्न भिन्न चेष्टायें, तथा पूर्वजन्मकृत कर्मोंका फल देनेवाले चक्षुरादि इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यादिदेवता, ये पांचों ही, सर्व कर्मोंके कारण हैं ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेऽर्जुन ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

कोऽपि पुरुषः; शरीरवाणीमनोभिश्च यत् कर्म न्याय्यं विपरीतमननुकूलं वा करोति । तस्य कर्मणो निमित्तानि साधकानि इमे पञ्च भवन्ति ॥ १५ ॥

कोईभी पुरुष, शरीर वाणी और मनसे जिस धर्मरूप अथवा अधर्मरूप कर्मको प्रारंभ करता है, उसमें, ये 'उपर्युक्त' अधिष्ठानादिक पांच ही कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

एवं पञ्चभिर्हेतुभिः साधकैरेव क्रियमाणेषु कर्मसु सत्सु, यः पुरुषोऽसङ्गमक्रियमुदासीनं साक्षिणं कूटस्थमात्मानं च कर्त्तारं वेत्ति । स मंदमतिः पुरुषः,शास्त्रीयज्ञानरहितत्वात् यथावत् न पश्यति ॥१६॥

इस प्रकार उक्त पांच कारणोंसे कर्म किये जाते हैं। किन्तु जो पुरुष,अक्रिय असङ्ग उदासीन कूटस्थ साक्षी उक्त पञ्चकर्मके कारणोंसे विलक्षण आत्माको कर्त्ता देखता है । वह, शास्त्रजन्य विवेकबुद्धि रहित होनेसे मंदमति पुरुष यथार्थदर्शी नहीं है ॥ १६ ॥

T

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥ १७ ॥

यस्य प्राप्तशास्त्रबुद्धेः आत्मज्ञानिनः पुरुषस्यात्मनि कर्तृत्वात्मकोऽहंकारो न न भवति। यस्य बुद्धिः सुखदुःखादिभिःकर्मफलैश्च न विचलति। स ब्रह्मर्षिभीष्मपरशुरामादिवत् स्वशत्रून् मित्राणि च हत्वापि मूढबुद्धिजनवत्, परमार्थतो न हन्ति । न च बन्धनमाप्नोति। यथा साक्षी पुरुषःस्वप्ने शत्रुमित्रादीन्न हत्वा तत्कर्मणा न बध्यते, तथैव ज्ञानी पुरुषः कृतेऽपि कर्मणि बंधनं न लभते ॥

तथाच श्रुतौ–

"तं विदित्वा न लिप्यते पापकर्मणा । यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते" ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । कुर्वतोऽकुर्वतो वापि जीवन्मुक्तः स उच्यते । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रोऽक्षरात्परतः परः ॥ १७ ॥

वेदान्ताचार्यके उपदेशोंसे युक्त जिस पुरुषको, आत्मामें कर्त्तापनके अहङ्कारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि, सुख दुःखादि कर्म फलमें लिप्त नहीं होती । वह, ब्रह्मर्षि परशुराम, और भीष्मकी नाईं, स्वस्वरूप ज्ञानी हुआ, इन शत्रु मित्रमय लोकोंको अज्ञानियोंकी दृष्टिमें हनन करके भी यथार्थमें हनन नहीं करता है । इसी कारणसे बध्यमान नहीं होता है । अर्थात् कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता । जैसे साक्षी, स्वप्नप्रपञ्चके शत्रु मित्रोंको वध करता हुआ भी उस वधके कर्ममें लिप्त नहीं होता, उसी तरह आत्मज्ञानी पुरुष भी कर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

जैसा श्रुतिमें कथन किया है–

"इस आत्मतत्त्वके जानने वालेको, पाप कर्मोंका संयोग(लेप)नहीं होता है । जिस तरह कमलके पत्र पर जलका संयोग नहीं होता है. उसी तरह आत्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानीको भी पाप कर्मका सम्बन्ध नहीं होता, जिसको अहंकारभाव नहीं है वह कर्मको करे या न करे वह जीवन्मुक्त है । यह आत्मा प्राणोंसे रहित, मनसे रहित, शुद्ध, श्रेष्ठ, और अक्षरसे भी पर, केवल अक्रिय है ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

T

वस्तुतत्त्वस्य यथार्थदर्शकं हि ज्ञानं, ज्ञानस्य विषयो ज्ञेयः, ज्ञानक्रियाया आश्रयीभूतः अविद्याकल्पितो जीवः परिज्ञाता चैषा त्रिप्रकारा कर्मचोदना भवति। तैरेव पूर्वोक्तैर्ज्ञानज्ञेयपरिज्ञातृभिः, कर्मसु प्रेर्यते। मनोबुद्धिसहितानि द्वादश श्रोत्रादीनि करणानि, प्राप्यमुत्पाद्यं संस्कार्यं विकार्यं च कर्म, कर्त्ता चेति त्रिधा कर्मसंग्रहो भवति। अर्थात् कर्मणामाश्रयस्तानि विद्यन्ते ॥ १८ ॥

वस्तुके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान, ज्ञानका विषय ज्ञेय, और ज्ञानरूप क्रियाका आश्रयभूत तथा अन्तःकरण उपाधिसे परिकल्पित भोक्तारूप जीव परिज्ञाता, ये तीनों कर्मचोदना अर्थात् कर्मके प्रवर्त्तक हैं। और दश इन्द्रिय, तथा मन और बुद्धि मिलकर द्वादश प्रकारका करण, और (उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य और प्राप्य) कर्म, और कर्त्ता, ऐसा तीन प्रकार का कर्मसङ्ग्रह है। अर्थात् कर्मका आश्रय है ॥१८॥

ज्ञानं कर्म च कर्त्तेति त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

कपिलोक्ते सांख्यशास्त्रे, ज्ञानं, कर्म, कर्ता चेति सत्त्वादिभिर्गुणभेदैस्त्रिविधं विद्यते। तानि तेषां भेदांश्च मया प्रोच्यमानानि शृणु त्वम् ॥ १९ ॥

सांख्यशास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्त्ता, इनको, सत्त्वादिक तीन गुणोंके भेदसे तीन प्रकारका ही कथन किया है। उन ज्ञानादिकोंको तथा उनके भेदोंको तू यथावत् श्रवण कर ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

मिथो भेदवत्सु स्थूलदेहादारभ्याव्यक्तं यावत्सर्वेषु भूतेषु विनाशभावरहितमेकं सत्तात्मकं प्रत्यगभिन्नं भावं, येन ज्ञानेन ज्ञानी पश्यति। ब्रह्मविषयात्मकं तज्ज्ञानं, सात्त्विकं ज्ञानं जानीहि त्वम्। तज्ज्ञानं सत्त्वापत्तिनाम्नी चतुर्थी भूमिका शास्त्रे प्रोच्यते ॥ २० ॥

पारस्परिक भेदवाले अव्यक्तसे लेकर सूक्ष्म देह पर्यन्त महत् और अल्प सर्व भूतोंमें सर्वत्र—व्यापक एक अविनाशी सत्तारूप प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मको, जिस ज्ञानसे ज्ञानी देखता है उस ब्रह्मविषयक ज्ञानको (तू) सात्त्विक, अर्थात् सत्त्वगुण—जन्य सत्त्वापत्ति नामक चतुर्थ ज्ञान भूमिरूप जान ॥ २० ॥

**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥**

येन सात्त्विकाज्ज्ञानात्पृथग्भूतेन ज्ञानेन परस्परं भेदविशिष्टेषु देहादिकसर्वभूतेषु नानाविधान्सुखादिमन्तो भिन्नान् जीवान्वेत्ति । तज्ज्ञानं, राजसमुच्यत इति विद्धि ॥ २१ ॥

परन्तु उक्त सात्त्विक ज्ञानसे विलक्षण जिस ज्ञानसे, पारस्परिक भेदसे स्थित हुए देहादिक सर्व भूतोंमें, सुखीपन और दुःखीपन आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारवाले नानाजीवोंको जानता है । उस ज्ञानको तू राजस ज्ञान जान ॥ २१ ॥

**यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥**

यज्ज्ञानं,कस्मिँश्चिद्भूते देहेऽथवा परिच्छिन्ने प्रतिमादौ वा सक्तं कारणरहितं कृत्स्नवत् भवति । अर्थात् तदेव पूर्णं मन्यते । तज्ज्ञानम्, तत्त्वविषयहीनत्वादयथार्थमिव तुच्छमल्पं ज्ञानं, तामसज्ञानं प्रकथ्यते ॥ २२ ॥

जो ज्ञान, किसी एक भूतोंके देह रूपमें अथवा प्रतिमादिरूप परिच्छिन्न भावमें, सम्पूर्ण आसक्त है । वह हेतुसे रहित है । और अतत्त्वार्थवत्, अर्थात् परमार्थ आलम्बनसे रहित, अयथार्थ अर्थको विषय करनेवाला है । तथा अल्प (तुच्छ) है । वह ज्ञान तमोगुणी कहा है ॥ २२ ॥

**नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥**

कर्मफलाभिलाषारहितेन मुमुक्षणा पुरुषेण कर्तृत्त्वाभिमानात्मकं सङ्गं त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च, यन्नियमितं कर्म क्रियते । तत्सात्त्विकं कर्म उच्यते ॥२३॥

फलकी इच्छासे रहित मुमुक्षु पुरुषसे, कर्तापनके अभिमानरूप सङ्गसे रहित, राग और द्वेषके अभावसे जो नियमित कर्म किया जाता है वह कर्म,सात्त्विक कहाता है ॥२३॥

T

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अहङ्कारवता फलेप्सुना पुरुषेण, यद्बहुप्रयासं कर्म, क्रियते। तद्राजसं कर्माभिधीयते ॥ २४ ॥

परन्तु, उक्त सात्त्विक कर्तासे विलक्षण, फल—इच्छा व कर्त्तापनके अभिमानरूप अहङ्कार सहित पुरुषसे, अत्यन्त श्रम युक्त जो कर्म किया जाता है, वह राजस कहा जाता है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

भाविनमशुभात्मफलरूपमनुबन्धं,शरीरस्य धनादेश्च विनाशरूपिणं क्षयं, प्राणिप्रपीडनात्मिकां हिंसां, कर्मसु स्वसामर्थ्यपौरुषं च बुद्धया न विचार्य, मोहादविवेकेन यत् कर्म प्रारभ्यते, तत्तामसं कथ्यते ॥ २५ ॥

तथा भविष्यमें होनेवाला अशुभ फलरूप अनुबन्ध , शारीरिक बल या धनजन—का विनाशरूप क्षय,प्राणियोंको पीड़ित करनेरूप हिंसा, और कर्मके निर्वाहमें स्वसामर्थ्यरूप पौरुषको, बुद्धिबलसे न विचार कर अविवेक रूप मोहसे जो कर्म आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहलाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

फलासक्तिरहितोऽनहंवादी स्वात्मश्लाघाविमुखो, धृत्युसाहयुक्तः, शास्त्रविहितकर्मणां फलसिद्ध्यसिद्ध्योर्हर्षशोकाभ्यामसंपृक्तो यः कर्ता, स सात्त्विकः कथ्यते ॥ २६ ॥

फलके इच्छारूप सङ्गसे रहित, स्वश्लाघारूप अहंवादसे रहित, धैर्य और उत्साह युक्त, और किये हुए शास्त्रोक्त कर्मके फलोंकी सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें हर्ष—विषादसे रहित, जो कर्त्ता है । वह सात्त्विक कहलाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

कामादिभिरुद्विग्नचेताः, कर्मफलगृध्नुः, शास्त्रोक्तबाह्याभ्यंतरशुचिरहितः, फलसिद्ध्यसिद्ध्योस्तज्जन्यहर्षशोकान्वितः कर्ता, राजसः कथ्यते ॥ २७ ॥

कामादिसे व्याकुल चित्तवाला रागी, कर्म फलका इच्छुक, लोभ युक्त, हिंसक स्वभाव वाला, शास्त्रोक्त बाह्य और आभ्यांतरिक भावसे अशुचि-अर्थात् पवित्रतासे रहित, और कर्म फलकी सिद्धि और असिद्धिमें हर्ष और विषादसे युक्त, जो कर्त्ता है, वह राजस कहाता है ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

कर्तव्येषु कर्मसु प्रमादी, शठो, मूर्खो, गुरुब्राह्मणादिष्वविनयी, विषादी, परापमानी, सन्तोषवृत्तिशून्योऽलसो, विलम्बेन कार्यकारी यः कर्ता, स तामस उच्यते ॥ २८ ॥

और कर्तव्यकर्मोंमें असावधान, पामर, गुरु ब्राह्मण आदि में अनम्र, परवंचक, परापमानी, आलसी, सन्तोष रहित स्वभाववाला होनेसे शोकमें तत्पर, और दीर्घसूत्री जो कर्त्ता है, वह तामस कहलाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

हे धनञ्जय पार्थ ! बुद्धेर्धृतेश्चापि भिन्नभिन्नतया मया कथ्यमानं गुणभेदात् त्रिविधं भेदं, सर्वांशेन शृणु ॥ २९ ॥

हे रिपुधनविजयी–अर्जुन ! बुद्धि तथा धृतिके, सत्त्वादिक गुणोंसे ही तीन प्रकारका भेद मुझसे पूर्णतया भिन्न भिन्न करके कथन किया जाता है । उसको तू श्रवण कर ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

हे कौन्तेय ! या बुद्धिः, प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, मोक्षसाधनं निवृत्तिं च, तथा कर्ममार्गे कार्यं कर्म, निवृत्तिमार्गेऽननुष्ठेयमकार्यं च, कर्ममार्गे गर्भवासादिरूपं भयं, निवृत्तिमार्गे तद्भावात्मकमभयं, प्रवृत्तिमार्गे कर्तृत्वाद्यात्मकं बन्धं, निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञाननाश्यमज्ञानतत्कार्याभावात्मकं मोक्षं च, वेत्ति । सा, सात्त्विकी बुद्धिरुच्यते ॥ ३० ॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो बुद्धि, कर्ममार्गरूप प्रवृत्ति, और मोक्षका साधन संन्यासरूप निवृत्ति, तथा प्रवृत्तिमार्गमें स्थित होकर कर्मोंके करनेरूप कार्य, और निवृत्ति मार्गमें स्थित होकर कर्मोंके न करने रूप अकार्य, तथा प्रवृत्तिमार्गमें गर्भवासादि दुःखरूपभय, और निवृत्तिमार्गमें गर्भवासादि का अभावरूप अभय, तथा प्रवृत्तिमार्गमें कर्तृत्व आदिका अभिमानरूप बन्धन, और निवृत्ति मार्गमें तत्त्वज्ञानकृत अज्ञानको तथा उसके कार्यके अभावरूप मोक्षको, जो जानती है । वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! अयं जीवो मनुष्यः, यया बुद्ध्या शास्त्रविहितं धर्मं शास्त्रनिषिद्धमधर्मं च, देशकालानुसारेण कार्यं कर्म, तत्प्रतिकूलमकार्यं कर्म, यथावन्न जानाति । सर्वं प्रतिकूलमेव जानाति, सा बुद्धी राजसी कथ्यते ॥ ३१ ॥

हे पार्थ ! यह पुरुष, जिस बुद्धिसे शास्त्र विहित कर्मरूप धर्म और शास्त्र निषिद्ध कर्मरूप अधर्म, और देश–कालके अनुसार करने योग्य कार्य, और देशकालके प्रतिकूल न करने योग्य अकार्य, अयथावत् अर्थात् अनिश्चित रूपसे ही जानती है । वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृत्ता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! तमोगुणेनावृता या बुद्धि-र्धर्ममधर्मं जानाति । सर्वं कार्यमकार्यमर्थमनर्थं च, विपरीतमेव वेत्ति । सा तामसी बुद्धिरुच्यते ॥ ३२ ॥

हे पार्थ ! तमोगुणोंसे आवृत हुई जो बुद्धि, अधर्म ही धर्म है, इस प्रकार मानती है। और सर्व कार्य अकार्य, और अर्थ अनर्थ आदि अर्थोंको, विपरीतही मानती है। वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥
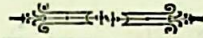
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

हे पार्थ ! समाधिना योगेन युक्तया यया ऐकान्तिकफलदायिन्या धृत्या, मनः-प्राणेन्द्रियक्रियाश्च धारयतेऽसन्मार्गात् निरुणद्धि । सा धृतिः सात्त्विकी कथ्यते ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! समाधिसे युक्त जिस धृतिसे, मन प्राणों और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको, निषिद्धकर्मोंसे निरुद्ध करता है। वह धृति सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयते नरः ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

हे पार्थ ! पुरुषः, सात्त्विकीधृतिभिन्नया यया धृत्या,धर्मार्थकामान्धारयते करोति । कर्मप्रसङ्गेन च फलाभिलाषी, इहामुत्रलोके भवति । सा धृतिः कथ्यते राजसी ॥ ३४ ॥

हे अर्जुन ! उक्त सात्त्विकी धृतिसे विलक्षण जिस धृतिसे पुरुष, धर्म अर्थ और कामरूप पुरुषार्थको धारण करता है अर्थात् त्यागता नहीं है । और कर्मके संपादन कालमें फलकी इच्छावाला होता है। हे पृथापुत्र ! वह धृति राजसी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥

T

दुर्मेधाः पुरुषो, यया धृत्या निद्रां, भयं, शोकं, मदमहंकारं च, न त्यजति । सा धृतिस्तामसी कथ्यते ॥ ३५ ॥

हे अर्जुन ! दुष्टबुद्धिवाला पुरुष, जिस धृतिसे निद्रा, भय, शोक, खेद और अहङ्कारको नहीं छोड़ता है । वह धृति तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

हे भरतकुलावतंस, अर्जुन ! अधुना तेषां फलभूतं यत् सुखं, त्रिविधं गुणभेदात् भवति । तन्मत्तः शृणु । यस्मिन्समाधिजे सुखे त्वात्मचिन्तनाभ्यासाद्रमते । दुःखात्यन्ताभावं च प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! अब मुझसे उनके फलभूत त्रिविध सुखको श्रवण कर । जिस समाधि सुखमें, यह पुरुष आत्मचिन्तनरूप अभ्याससे रमण करता है । तथा दुःखके अन्तको प्राप्त होता है । और आपत्ति दुःखरहित होता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

यत्सुखम्, आदौ विषौषधमिव कटु प्रतीयते । परिणामकालेऽमृतमिव जायते । यच्चात्मनिष्ठाज्ञानप्रसादजन्यं सुखं भवति । तत्सुखं सात्त्विकं विद्धि । यथा ज्ञानवैराग्यसत्संगादिकम् ॥ ३७ ॥

जो सुख, प्रारंभमें औषधिके विषके समान कटु होता है । तथा परिणाममें अमृतके तुल्य होता है । और आत्मनिष्ठबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है । जैसे ज्ञान, वैराग्य, सत्संगादि ॥ ३७ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

T

यच्च सुखं, शब्दादिविषयश्रोत्रादीन्द्रियाणां संयोगाज्जायते। यच्च संयमादीनामभावादादौ विषयानुभवकालेऽमृतमिव भवति। परंतु परिणामेऽस्मिन्परत्र वा लोके, दुःखदायित्वाद्विषवद्भवति। तत् राजसं सुखं कथितम् ॥ ३८ ॥

जो सुख, शब्दादिक विषयोंके तथा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं। तथा मन और इन्द्रियादिकोंके संयमादिरूप क्लेशके अभावसे आरम्भमें भोक्ता पुरुषको अमृतके समान है। परन्तु परिणाममें इसलोक और परलोकके दुःखोंका कारण होनेसे विषतुल्य है। वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

यत्सुखम्, आदौ परिणामे च बुद्धिं मोहयति। यच्च निद्रालस्य-प्रमाद-जातमस्ति। तत् तामसं सुखं विद्धि ॥ ३९ ॥

जो सुख, आरम्भमें तथा परिणाममें बुद्धिको मोहित करनेवाला है। और निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे उत्पन्न हुआ है, वह सुख तामस कहा गया है। ३९ ॥
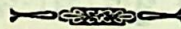
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

यः पदार्थः प्रकृतिजायमानैस्त्रिभिर्गुणैर्युक्तो भवेत्तच्छून्यः स्यादिति, स पदार्थः पृथिव्यां स्वर्गे देवेषु च नास्ति। सर्वं,सर्वत्र प्रकृतिजन्यगुणैर्युक्तमस्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

जो पदार्थ, प्रकृति जन्य इन पूर्वोक्त तीनों गुणोंसे रहित हो, वह पदार्थ, इस पृथ्वीमें अथवा स्वर्गमें वा देवलोकमें भी नहीं विद्यमान है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

T

हे परंतप पार्थ ! ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां शूद्राणां च, स्वभावजैः पूर्वजन्मजातैः संस्कारैर्गुणैः प्रविभक्तानि यानि कर्माणि सन्ति । तानि शृणु ॥ ४१ ॥

हे शत्रुसन्तापकारी अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंके कर्म, पूर्वजन्मजन्य संस्कारसे ही उत्पन्न गुणोंसे पृथक् २ व्यवस्थित हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

मनोनिग्रहः शमः, इन्द्रियनिग्रहो दमः, मानसिकं शारीरिकं वाचिकं च तपः, बाह्याभ्यन्तरं शौचं, क्षमा, आर्जवं मृदुता, ज्ञानं, विज्ञानम्, आस्तिक्यम्, चैतत्ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्वप्रकाशकं स्वभावजं कर्म विद्यते ॥ ४२ ॥

मनोनिग्रहरूप शम, इन्द्रियनिग्रहरूप दम, शारीरिक मानसिक और वाचिक तप, बाह्य और आन्तरिक शुद्धिरूप शौच, क्षमा, अकुटिलता, और ज्ञान विज्ञान तथा श्रद्धा-विश्वास, ये, ब्राह्मण जातिके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

सिंहवत्पराक्रमः, दुःसहं तेजः, साहसं, कार्येषु दक्षता, युद्धे सत्यापि न पलायनम्, दानम्, दुष्टशासित्वमीश्वरभावश्चैतत्पूर्वस्वभावजन्यं, क्षत्रियस्य कर्म विद्यते ॥ ४३ ॥

सिंह सदृश विक्रमरूप शूरत्व, दुःसह प्रतापरूप तेज, साहस, प्राप्त कार्योंमें योग्य प्रवृत्तिरूप दक्षता, और युद्धसे पीछे न हटना, उदारतारूपदान, और कुमार्गगामी, परपीड़कोंको शासन करनेकी शक्तिरूप ईश्वरभाव, अर्थात् प्रभुत्व, ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

कृषिः, गोपालनं, वाणिज्यं चेति वैश्यकर्म भवति। शूद्रस्य, वर्णत्रयस्य सेवाकरणमिति, स्वभावजं कर्मास्ति ॥

तथाच स्मृतौ—

" वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेश-काल-जाति--कुल—धर्मायुःश्रुत—वृत्त-वित्त-सुख-मेधसो, जन्म प्रतिपद्यन्ते" ॥ ४४ ॥

खेती, गोरक्षा, और व्यापार ये स्वभावसे ही वैश्योंके कर्म हैं। और शूद्रका त्रिवर्णकी सेवा ही, कर्म है ॥

जैसा मनुने कहा है—

"स्वाभाविक अपने कर्मोंमें तत्पर हुये वर्णाश्रमी, मर कर परलोकमें कर्मोंका फल भोगकर, बचेहुये कर्मफलके अनुसार श्रेष्ठदेश-काल, जाति, कुल, धर्म, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और मेधा आदि युक्त हो, जन्म ग्रहण करते हैं " ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

मानवः,स्वे स्वे कर्मणि प्रीतिमान् युक्तः सन् यथासिद्धिं ज्ञाननिष्ठामाप्नोति । तथा स्वकर्मासक्तः पुरुषो, यथा सिद्धिं लभते, तच्छृणु त्वम् ॥

तथोक्तं भाष्यकारेण—

"वर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्। साधनसंपत्तिर्भवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्" ॥ ४५ ॥

मनुष्य, अपने २ वर्णाश्रमानुसार कर्ममें प्रीतिमान हुआ, ज्ञानकी निष्ठारूप संम्यक् सिद्धिको प्राप्त करता है। वह जिसप्रकारसे स्वकर्ममें प्रीतिमान् हुआ, सिद्धिको प्राप्त होता है, वह श्रवण कर ॥

जैसा भाष्यमें कहा है—

"वर्णाश्रमधर्मके आचरण करनेसे और तपके द्वारा तथा हरिके संतोषसे पुरुषोंको वैराग्यादि साधन संपत्ति प्राप्त होती है" ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥

यस्मादीश्वरात् भूतानां प्राणिनामुत्पत्तिर्भवति। येन चेश्वरेणेदं सर्वं व्याप्तमस्ति।

जिस अन्तर्यामी ईश्वरसे, सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, तथा जिस ईश्वरसे

T

तमीश्वरं स्ववर्णाश्रमानुसारेण कर्मणाभ्यर्च्य सन्तोष्य स्वांतःकरणशुद्धिपूर्वकं ज्ञाननिष्ठां सिद्धिं प्राप्नोति मनुष्यः ॥४६॥

यह सर्व विश्व व्याप्त है, उसकी स्ववर्णाश्रमके अनुसार कर्मोंद्वारा आराधना करके मनुष्य अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा ज्ञाननिष्ठाकी योग्यतारूप सिद्धिको प्राप्त होता है ॥४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

सम्यगाचरितात्परधर्मात् स्वधर्मो विगुणोऽपि श्रेयःसाधनं भवति । यतो हि स्वाभाविकं नियतं कर्म कुर्वाणो जनः,पापं न लभते ॥ ४७ ॥

सम्यक् अनुष्ठान किये हुये, परधर्मसे गुणरहित स्वधर्म, अतिशय श्रेयका साधन है । क्योंकि, स्वभाव जन्य कर्मको करता हुआ पुरुष, पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

हे कुन्तीनन्दन, पार्थ ! स्वभावजं सहजन्मजातं शास्त्रनियतं कर्म, दोषयुक्तमपि न त्यक्तव्यम् । यतो हि स्वपरधर्मारम्भाः सर्वे, धूमेनाग्निरिव दोषेणाच्छाद्यन्ते ॥ ४८ ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! स्वभावजन्य शास्त्रोक्त सदोष कर्म भी, नहीं त्यागना चाहिये । क्योंकि, स्वधर्म और परधर्मरूप सर्व आरम्भ, धूम्रसे ढकी अग्निके समान दोषसे आच्छादित हैं ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

सर्वत्र दृश्यभोगजालेऽसक्तान्तःकरणो, वशीकृतमनाः, सांसारिकपारलौकिकभोगवितृष्णः पुरुषो, निष्कर्मतां ज्ञान-

सर्व दृश्यरूप भोगजालमें राग रहित बुद्धिवाला, मनरूप आत्माको वशमें करनेवाला, पारलौकिक और सांसारिक भोगकी

निष्ठां सिद्धिं संन्यासेन सम्यग्दर्शनपूर्वकं सर्वेषां कर्मणां फलानां च त्यागेन प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

इच्छासे रहित पुरुष, श्रेष्ठ निष्कर्मतारूप सिद्धिको सब कर्म और कर्मफल इनके त्यागपूर्वक संन्याससे प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

हे कौन्तेय ! नैष्कर्म्यसिद्धिमधिगतो जिज्ञासुः पुरुषो यथा ब्रह्म (ज्ञानं) प्राप्नोति, तत्प्रकारं समासेन मत्तोऽवगच्छ। ज्ञानस्य च या परा काष्ठावधिर्विद्यते, तामपि शृणु ॥ ५० ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! उक्त नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त हुआ उत्तम जिज्ञासु, जिस प्रकारसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह प्रकार मुझसे संक्षेपमें ही सुन, और जो ज्ञानकी परम अवधि है उसे भी श्रवणकर ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

सत्त्वगुणप्रधानया शुद्धया बुद्ध्या युक्तः पुरुषो धृत्या देहेन्द्रियसंघातमात्मानं शास्त्रनिषिद्धविषयान्नियम्यावरुध्य च, शब्दादीन्विषयाँश्च त्यक्त्वा, रागद्वेषो च विहाय ॥ ५१ ॥

शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हुआ पुरुष, धैर्यसे इस देह इन्द्रियात्मकोंके संघातको, शास्त्रनिषिद्धमार्गकी प्रवृत्तिसे निवृत्त करके, तथा शब्दादिक विषयोंको परित्याग करके और राग—द्वेष—को त्याग कर ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

यो मुमुक्षुः पुरुषो, विविक्तदेशसेवी, लघ्वाहारी, मनो—वाणी—शरीर—संयमी,

जो मुमुक्षु पुरुष, एकान्तसेवी, लघु आहारी, वाणी, शरीर और मनके संयम-

सततं ब्रह्मचिन्तनात्मकध्याननिष्ठः, सर्वैहिकामुष्मिकफलेषु परं वैराग्यं श्रितः॥५२॥

वाला, नित्य ध्यान—योग—परायण, तथा, ऐहिक और परलोकके विषयोंमें वैराग्यको प्राप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

" अहं योगीति " संघातगतमहंकारं, सत्यसङ्कल्पसिद्धिरूपं बलं, तद्बलादभिमानं दर्पं, पूजासिद्धित्वविषयादिकामनां कामं, तत्प्रतिबन्धं क्रोधं, सर्वं शरीरनिवर्तकादन्यस्य धनस्य परिग्रहं च त्यक्त्वा, देहजीवनमात्रेऽपि निर्ममः, शान्तिं गतः, ब्रह्मनिष्ठः परमहंसः संन्यासी, ब्रह्मभावाय संपद्यते ॥

तथा चोक्तं श्रुतौ—

" नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो नासमाहितः । नाशांतमनसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्" ॥ ५३ ॥

'मैं योगी हूं' इस संघातगत अहङ्कारको, सत्य संकल्प आदि इष्टबलको, उस बलके अभिमानरूप दर्पको, सिद्धि पूजा और विषयादिककी इच्छारूपी कामको, कामके प्रतिबन्धसे उत्पन्न क्रोध तथा सर्व परिग्रहको छोड़कर, परमहंस ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी ब्रह्मभावके प्राप्तिमें समर्थ है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है—

"जो शास्त्रनिंदित आचरणोंसे रहित नहीं है, न शांत मनवाला, और न समाहित चित्तवाला है वह शुष्क ज्ञानसे भी आत्माको प्राप्त नहीं होता" ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

यः वेदान्तश्रवणमननाभ्यासेन "अहं ब्रह्मास्मीति" दृढनिश्चयी ब्रह्मभूतः ब्रह्मस्वरूपः शमदमादीनां बलेनात्मानुभूतिं गतः प्रसन्नात्मा स नष्टं न शोचति ।

जो पुरुष, वेदान्तशास्त्रके श्रवण मननके अभ्याससे " अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकारसे दृढ निश्चयवाला, शम दमादिक साधनोंके अभ्याससे शुद्धचित्तवाला होनेके कारण

नाप्राप्यमभिवाञ्छति। सर्वान्प्राणिन आत्मानं मत्वा तेषु समवृत्तिमानसोऽव्यवधानेन, मयि ब्रह्मणि स्वात्माभेदरूपां परां भक्तिं लभते ॥

तथाच श्रुतौ–

" मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्। को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

"यस्य मे अस्ति सर्वत्र यस्य मे नास्ति किंचन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किंचन दह्यते" ॥ दूतं प्रति जनकोक्तिः ॥ ५४ ॥

आत्मानुभूतियुक्त प्रसन्न मनवाला है, वह न नष्ट पदार्थका शोक करता है, न अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता है। तथा सर्व प्राणियोंको अपनी आत्मा समझ कर उनमें समदृष्टिवाला है। वह, व्यवधानसे रहित ब्रह्मसाक्षात्काररूप मुझ ब्रह्मकी, अभेदभावरूप परम भक्तिको प्राप्त होता है ॥

जैसा कि श्रुतिमें कथन किया है–

"वह ब्रह्मवेत्ता (ज्ञानी) पुरुष हर्ष-शोक दोनोंका परित्याग कर देता है। किस वस्तुकी इच्छा करता हुआ ब्रह्मनिष्ठ योगी शरीरको दुःखित करे। एकत्वके द्रष्टाको क्या शोक और क्या मोह, जिसका यह सर्व है और जिसका कुछ भी नहीं है ऐसे मेरी जनककी मिथिलानगरीके जलने पर भी मेरा कुछ भी नहीं जलता है"। यह दूतके प्रति जनककी उक्ति है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

यो, निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठानाम्न्या पराभक्त्या, "यावत्परिमाणो यादृशरूपोऽहं विद्ये" तादृशं प्रत्यगभिन्नं सर्वात्मकं नित्यं विभुं मां ब्रह्मात्मानं, तत्त्वतो वेत्ति। स पुरुषः, देहपातानन्तरं,

जो, निदिध्यासनरूप ज्ञाननिष्ठा नामक पराभक्तिसे, "जिस परिमाणवाला मैं हूं तथा जिस स्वरूपवाला हूं" उसी रूपसे प्रत्यक् अभिन्न नित्य विभु सर्वात्मा ब्रह्मरूप मुझ परमेश्वरको यथार्थरूपसे जानता है।

T

मां परमात्मानं विशति समासादयति । मयि लीनो भवतीत्यर्थः ॥

तथाचोक्तं श्रुतौ–

"घटे भिन्ने घटाकाशः आकाशे लीयते यथा । देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" ॥ ५५ ॥

वह मुझ परब्रह्मको यथार्थ स्वरूपसे जानकर देहान्तके पश्चात् मुझ शुद्ध ब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"घटके फूटनेपर जैसा घटाकाश आकाशमें लीन हो जाता है उसी तरह ब्रह्मविद् योगी भी परमात्मामें लीन हो जाता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है" ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

निष्कामबुद्ध्या सर्वाणि कर्माणि कुर्वन् मामुपाश्रितः पुरुषः, मदनुग्रहेण नित्यमविनाशनं मोक्षं ज्ञानद्वारेण प्राप्नोति ॥ ॥ ५६ ॥

सर्व कर्मोंको सदैव निष्काम बुद्धिसे करता हुआ भी मुझ वासुदेवके शरणागत पुरुष, मेरे अनुग्रहसे नित्य और अविनाशी मोक्षरूप पदको प्राप्त होता है ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

त्वंच, विवेकवता चेतसा मयि परमात्मनि, सर्वाणि लौकिकानि वैदिकानि वा कर्माणि संन्यस्य समर्प्य मत्परो वासुदेवपरो भूतः सन् सिद्ध्यसिद्ध्योः समात्मकं बुद्धिरूपं योगं समाश्रित्य, सततं मच्चितो ब्रह्मनिष्ठो भव ॥ ५७ ॥

तू, विवेक युक्त चित्तसे सर्व लौकिक वैदिक कर्मोंको मुझ परमेश्वरमें अर्पण करके, मुझ वासुदेवके परायण हुआ, कर्म फलकी सिद्धि असिद्धिमें समत्वबुद्धिरूप बुद्धियोगको आश्रय करके, निरन्तर मुझ ब्रह्ममें अनन्य चित्तवाला होओ ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

हे पार्थ ! प्रत्यगभिन्ने मयि ब्रह्मणि, चित्तं संयोज्य विलीनं कृत्वा मदनुग्रहेण सर्वा आपदस्तरिष्यसि, यदि च त्वमहंकारेण पाण्डित्याभिमानेन ममोपदेशं न श्रोष्यसि, तर्हि नाशं यास्यसि ॥ ५८ ॥

हे अर्जुन ! तू मुझ प्रत्यक् अभिन्न परब्रह्ममें चित्तको लीन कर, मेरे अनुग्रहसे सर्व कष्टोंको पार होगा, अथवा जो तू पण्डिताईके अहङ्कारसे मेरे उपदेशको नहीं सुनेगा, तो विनाशको प्राप्त होवेगा ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

त्वं यदहङ्कारभावमुपादाय, न योत्स्य इति मन्यसे, दृढनिश्चयी जातोऽसि । एष ते निश्चयो मृषा विद्यते । त्वां, युद्धे कर्मणि, तव प्रकृतिर्योजयिष्यति ॥ ५९ ॥

तू अहङ्कारका आश्रय करके, "मैं नहीं युद्ध करूंगा," इस प्रकार जो मानता है । वह तेरा निश्चय मिथ्या ही है । क्योंकि, तुझे प्रकृति अवश्य ही युद्धमें जोडेगी ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

हे कौन्तेय ! त्वं, स्वभावजेन वासनामयप्रकृतिजन्येन क्षत्रियत्वादिकर्मणा, बद्धोऽसि । अविवेकात्मकेन मोहेन, यं युद्धं कर्तुं नेच्छसि । परवशो भूत्वा तमेतमाचरिष्यसि ॥ ६० ॥

हे कुन्तीनन्दन, अर्जुन ! पूर्व वासनामय प्रकृतिरूप स्वभावसे उत्पन्न अपने क्षत्रिय जातिके शूरता आदि कर्मसे बंधा हुआ तू, अविवेकरूप मोहसे जिस युद्ध करनेको नहीं चाहता, है उसको परवश अर्थात् अपने स्वभावके अधीन हुआ भी करेगा ॥ ६० ॥

T

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

हे भरतकुलभूषण, कौन्तेय! जगदीश्वरो, सर्वाणि भूतानि स्वमायया शक्त्या प्रेरयन् सर्वेषां भूतानामन्तःकरणदेशे तिष्ठाति साक्षिरूपेण ।

तथाच श्रुतौ–

" यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरोऽयं सर्वाणि भूतानि न विदुः । यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयाति" ॥ ६१ ॥

हे भरतकुलसंभूत अर्जुन ! ईश्वर, सर्व भूतोंको मायारूप स्वशक्तिसे भ्रमण कराता हुआ सर्व भूतोंके अन्तःकरणरूपी देशमें साक्षीरूपसे स्थित है ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

"जो परमात्मा सर्व भूतोंमें स्थित हुआ, सर्व भूतोंसे पृथक् और अन्तर्यामी है । जिसे सर्व भूत नहीं जानते हैं । और जिसका यह सारा विश्व शरीर है । जो अन्तर्यामी होकर सर्वका नियमन करता है" ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२॥

हे कौन्तेय ! त्वं, सर्वथा सर्वभावेन तं प्रसिद्धं पूर्वोक्तं शरणार्थिनां शरणम् ईश्वरमाश्रय । यस्येश्वरस्यानुग्रहेण जीवन्मुक्तिरूपां परां श्रेष्ठां शान्तिं मोक्षस्थानं मम शाश्वतं वैष्णवं पदं च लप्स्यसे ॥ ६२ ॥

हे भरतकुलसंभूत, अर्जुन ! सर्व प्रकारसे उस ईश्वरका ही तू आश्रय कर, जिस ईश्वरके अनुग्रहसे तू ज्ञानद्वारा जीवन्मुक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट परमशान्तिको और मेरे विष्णुरूप परम शाश्वतपदको प्राप्त होवेगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

हे पार्थ ! मया सर्वज्ञेनेश्वरेण ते गोप्यमिदं ब्रह्मज्ञानं प्रतिपादितम् । इदं गीताशास्त्रं विमृश्याशेषेण, यथा तवेच्छा भवेत्तथा आचर ॥ ६३ ॥

हे अर्जुन ! सर्वज्ञ ईश्वर मैंने, तुमको पूर्वोक्त प्रकारसे गुप्तसे भी अधिक गुप्त इस ब्रह्मविषयक ज्ञानको साधनोंके सहित कथन किया है । इससे इस गीताशास्त्रको आदि अन्त पर्यन्त विचार करके, जिस प्रकार चाहता हो उस प्रकार कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

सर्वोत्कृष्टं गुह्यतमं मे वचनं पुनः शृणु । यतोहि त्वं मद्वाक्यामृतपायित्वादतीव मम प्रिय इति हेतोस्तव हिताय ब्रवीमि ॥ ६४ ॥

सबसे अधिक गुप्त, मेरे सर्वोत्कृष्ट वचनको, फिर श्रवण कर । क्योंकि, मुझे, तू अतिशय प्रिय है । तूने मेरे वाक्योंके सुननेमें अतिप्रीति की है । इस कारण मैं तेरे हितार्थ कहता हूँ ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

हे पार्थ ! त्वं मयि सक्तान्तःकरणो भव, ममानन्यभक्तो मम पूजापरायणो भव, मां च वासुदेवं भगवन्तं प्रणम । एवं विधानेन, मां परब्रह्मात्मानं प्राप्स्यसि । अहं ते सत्यं प्रतिजाने । यत्त्वं मेऽतिप्रियोऽसि ॥ ६५ ॥

हे अर्जुन ! तू, मुझ परब्रह्ममें मनवाला अर्थात् सदैव मेरा ही चिन्तन करनेवाला हो, मेरा अनन्य भक्त हो, मुझ परब्रह्मकी ही पूजामें परायण हो, मुझ भगवान वासुदेवको नमस्कार कर । इस प्रकारसे तू, परब्रह्मरूप मुझको ही प्राप्त होवेगा । यह तुझसे मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ । क्योंकि, तू मेरा अतिप्रिय भक्त है ॥ ६५ ॥

T

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

'तत्त्वमसि' महावाक्यजन्यज्ञानेन प्राप्तब्रह्मात्मसाक्षात्कार अर्जुन ! त्वं वर्णधर्मानाश्रमधर्मान्, सामान्यधर्मान्, सर्वान्वेदशास्त्रविहितांश्च निषिद्धान्धर्मांश्च संत्यज्य त एव मम शरणामिति बुद्ध्यानाश्रित्य सर्वधर्मप्रवर्त्तकं फलदातारमद्वैतघनं ब्रह्मात्मानं मां वासुदेवं शरणं व्रज । अर्थात् अज्ञानकल्पितमिथ्याभिमाननिवृत्त्या माम् आत्मानं प्राप्नुहि । अन्यापेक्षानुक्तधर्मानधर्मांश्च, संत्यज्य, निरपेक्षभगवदनुग्रहेणाहं कृतार्थो भविष्यामीति दृढव्यवसायी भूत्वा, प्रेमातिशयेनात्मचिन्तयाऽनात्मविमुखः सन् अनविच्छिन्नतैलधारयेव मनोवृत्त्यैवाखण्डमेकरसं ब्रह्मात्मानं वासुदेवं शरणमागच्छ ॥

स्वपरिच्छिन्नभावं विहाय समुद्रशरणं गता गङ्गेव नष्टे घटे महाकाशं प्राप्त घटाकाशमिव "अहं ब्रह्मास्मीति" दृढभावनया माम् निरञ्जनं शरणं गच्छ । अहं सर्वात्मा ब्रह्म वासुदेवः, त्वां सर्वविधैः पुण्यैः पापैश्चासंपृक्तं करिष्यामि । तस्मान्मोचयेयम् इत्यर्थः ॥

जातिवधात्पापभागी भविष्यामीति शोचं मा कुरु । यथा स्वप्ने कृतव्यवहारः स्वप्नोत्थितः पुरुष इव ॥

हे महावाक्य—श्रवणादि साधन सम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ, अर्जुन ! श्रुतिस्मृतिरूप शास्त्रने ब्राह्मणादि चारों वर्णोंके लिये जो धर्मविधान किये हैं, वे वर्ण धर्म, और ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थादि आश्रमोंके लिये जो आश्रम धर्म तथा वर्ण आश्रम दोनोंके लिये सामान्यरूपसे विधान किये हुये साधारण धर्म, उन सर्व धर्मोंका परित्याग करके अर्थात् उक्त धर्मोंको (विद्यमान हुये भी) "यह धर्म ही हमारा शरणरूप है" इस स्वशरणतारूप प्रकारसे परित्याग करके तू, सर्व धर्मोंके विधायक अधिष्ठानरूप और फल प्रदातारूप मुझ अद्वितीय ईश्वरकी शरणको प्राप्त हो । अर्थात् अज्ञानकल्पित सर्व मिथ्याभिमानकी निवृत्तिद्वारा ब्रह्मात्मस्थितिको प्राप्त हो । अर्थात् अन्यकी अपेक्षावाले उक्त धर्मोंको परित्याग करके, "अन्यकी अपेक्षासे रहित सर्व वेदोंका साररूप जो भगवत्का सदुपदेशरूप अनुग्रह है उस अनुग्रहसे ही मैं कृतार्थ होऊंगा" इस प्रकारका दृढनिश्चय करके उन धर्मोंमें निरन्तर प्रेमकी उत्कटतासे अति आदर न करके, सर्व अनात्म पदार्थोंके चिन्तनसे शून्य, तथा तैलधाराकी नाईं अनविच्छिन्न मनकी वृत्तियोंसे तू अखण्ड एकरस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मुझ वासुदेवकी शरणमें प्राप्त हो । अर्थात् स्वपरिछिन्न भाव

यथाचोक्तं श्रुतौ—

"वर्णाश्रमाद्यो देहे मायया परिकल्पिताः। नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ॥ त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येनं त्यजसि तत्त्यज ॥"

"शुद्धो निरञ्जनोऽनन्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ॥ चेष्टमानमिमं देहं पश्याम्यन्यशरीरवत् ॥

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" ॥ ६६ ॥

आदिककी निवृत्ति अर्थ, समुद्ररूप शरणको प्राप्त गङ्गाकी नाई वा घटके फूटनेपर महाकाशरूपी एकत्व शरणको प्राप्त घटाकाशकी नाई "अहंब्रह्मास्मि" इस प्रकारके अभेद भावसे शुद्ध,बुद्ध,ज्ञानघन निर्विकार निरञ्जन आत्माकी शरणमें प्राप्त हो। मैं सर्वात्मा वासुदेव भगवान्, तुझे जन्म-मृत्यु विधायक पापोपलक्षित पुण्य सहित सर्व पापोंसे मुक्त करूंगा। अतः स्वप्नप्रबुद्ध पुरुषके समान तू, बन्धु बान्धव तथा आचार्यादिकके हननसे पापके भागी होनेका विचार करके शोक मतकर ॥

जैसा श्रुतिमें कथन किया है—

क्योंकि, वर्णाश्रमादिक भाव ये मायासे कल्पित हुये हैं। ये ज्ञानरूप आत्माके नहीं हैं। इसलिये इस आत्मबोधकी प्राप्तिके लिये धर्म, अधर्म, सत्य और अनृत (मिथ्या) दोनोंको छोड। जिस भावनासे तू इनको छोड़ता है, उनको भी छोड़। मैं शुद्ध, निरञ्जन हूं, अनन्त हूं, बोधरूप हूं, और स्वशरीरकी चेष्टाको अन्यशरीरोंके समान देखता हूं ॥

उसी परब्रह्म परमात्माको जानकर मृत्युको तरता है। और मोक्षको प्राप्त होता है। मोक्षके लिये दूसरा मार्ग नहीं है। ज्ञानसे ही कैवल्यमोक्षकी प्राप्ति होती है। अन्य कर्मोपासनाओंसे नहीं ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

हे पार्थ! ते त्वया, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि-त्रिविधतपोरहिताय, भक्तिविहीनायेश्वरगुरुभक्तिविमुखायाश्रद्धालवे मदभ्यसूयिने, (गुरुशास्त्रादौ) विपरीतदर्शिने जनायेदं मयोक्तं ज्ञानं न वाच्यम्। परीक्ष्यैव त्वया देयमित्यर्थः ॥

यथाच शास्त्रे-

"दांभिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे। न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम" ॥ ६७ ॥

हे अर्जुन! तुमसे यह उक्त ज्ञान, न शास्त्रोक्त तपरहित मनुष्यके अर्थ न गुरु ईश्वरकी भक्तिसे रहित पुरुषके अर्थ, न ईश्वर सेवासे रहित अश्रद्धालु पुरुषके अर्थ, और न उसके अर्थ जो मुझ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् वासुदेवको मनुष्य जानकर असूयाको करता है, कभी न कहे जानेके योग्य है। अर्थात् उपर्युक्त बुद्धिविवेक रहित अज्ञानियोंसे कभी भी यह ज्ञान न कहें ॥

जैसा शास्त्रमें कथन किया है-

"दांभिक, क्रूर, शठ, झूठ बोलनेवालेको यह ब्रह्मज्ञान नहीं देना चाहिये। सदा गोपनीय है" ॥ ६७ ॥
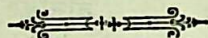
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

यः पुरुषः, इदं मयोक्तं परमं गुह्यं ज्ञानोपदेशवचो मद्भक्तेभ्य उपदेक्ष्यति। स मयि परां भक्तिं विधाय मामेव यास्यति। नात्र संदेहोऽस्ति। यथोक्तं शास्त्रे "सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने। सुभक्तायैव दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत" ॥ ६८ ॥

जो, इस परममोक्षप्रद गुह्य ज्ञानोपदेशको शास्त्रोक्त तप और गुरु आदिकी सेवासे युक्त मेरे भक्तोंसे कथन करेगा। वह, मेरी पराभक्ति करके शुद्ध ब्रह्मस्वरूप मुझे ही ज्ञानद्वारा प्राप्त होवेगा। इसमें सन्देह नहीं।

जैसा शास्त्रमें कहा है-

"जो भक्त, व्रती, सदाचारी, सुशील होवे, उसेही यह ज्ञान देना चाहिये" ॥ ६८ ॥
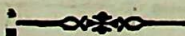
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

नच तस्माच्छात्रसम्प्रदायकृतः पुरुषान्मनुष्याणां मध्ये कश्चिन्मम प्रियकृत्तमो वर्तते । अथच तस्मादन्योऽपि भुवि मेऽतिशयप्रियो न भविता न भविष्यति ॥ ६९ ॥

और मनुष्योंमें इस गीताशास्त्रकी परंपरा चलानेवाले विद्वान् भक्तसे अन्य, कोई भी मेरा अत्यन्त प्रियकारी नहीं होगा । और मुझे उस ज्ञानीसे अन्य इस संसारमें कोई भी अतिशय प्यारा नहीं है ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

यः पुरुषः, इममावयोर्धर्म्यं संवादं ब्रह्मनिष्ठगुरुमुखात् पठिष्यति । तेन पुरुषेण, ज्ञानयज्ञेनेष्टः पूजितो भविष्यामीति मे निश्चयः ॥ ७० ॥

और जो पुरुष,हमारे और तुम्हारे सम्वादरूप तथा धर्मयुक्त इस गीता ग्रंथको ब्रह्मनिष्ठ गुरुमुखद्वारा सार्थ अध्ययन करेगा । उस मनुष्यसे मैं ज्ञानयज्ञद्वारा पूजित होऊँगा, इस प्रकारका मेरा निश्चय है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

यो मानवः श्रद्धालुरसूयारहितः, पूज्येषु ईश्वरे गुरौ च दोषारोपणात्मकेन भावेनासूयया शून्यः सन्निदं मोक्षशास्त्रं श्रोष्यति । सोऽपि पुण्यपापाद्विमुक्तः शुभान् पुण्यलोकान् यास्यति ॥

तथा च श्रुतौ–

जो मनुष्य, दृढ विश्वासरूप श्रद्धावान्, ईश्वर तथा गुरुके गुणोंमें दोषके आरोपमय असूयासे रहित हुआ श्रवण करेगा, वह भी सर्वपापोंसे मुक्त हुआ, पुण्य कर्मवालोंके शुभ लोकोंको प्राप्त होवेगा ।

जैसा श्रुतिमें कहा है–

T

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" ॥ ७१ ॥

जिसकी परमात्मदेवमें परमभक्ति है, वैसे ब्रह्मनिष्ठ गुरुमें भक्ति है, उसी शुद्धान्तःकरण-वाले अधिकारी महात्माके प्रति कथन किया हुआ ब्रह्मज्ञान उसे प्रकाशित होता है ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा । कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥ ७२ ॥

हे पार्थ ! त्वयेदं गुह्यतमं ब्रह्मात्मैक्‍प्रतिपादकं ससाधनं ज्ञानमेकचेतसा श्रुतं किम् ? हे कौन्तेय ! तेऽज्ञानमोहोऽपि नष्टः किम् ? ॥ ७२ ॥

हे पृथापुत्र, अर्जुन ! क्या तुमने, साधनसहित इस ब्रह्मात्मज्ञानको, मुझसे एकाग्र चित्त होकर श्रवण किया ? और हे रिपुधन विजयी, अर्जुन ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संमोह रूप अविवेक नष्ट हुआ है ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अर्जुनोऽवदत् । हे अच्युत, अविनाशिन्, वासुदेव, भगवन् ! मया भवतः सदुपदेशेनानुग्रहेणात्मज्ञानरूपा स्मृतिर्लब्धा, तथा अहंताममताख्यो भ्रमो मोहोऽपि लयं गतः । त्वत्प्रसादाच्च प्रमाण-प्रमेयाश्रयसन्देहरहितः सन् स्वात्मानि रूपेऽवस्थितो भूत्वा, भवतो वचनमनुसरिष्यामि ॥

अर्जुन बोला-हे अविनाशी भगवन् वासुदेव ! मैंने, आपके अनुग्रहसे आत्मज्ञानरूपी स्मृति प्राप्त की । मेरा मोह और अहंता मम-तारूप भ्रम भी नष्ट हुआ । और मैं, प्रमाण-प्रमेयगत सन्देहसे रहित हुआ स्वस्वरूप आत्मामें स्थित हूं । मैं आपके वचनका पालन करता हूं ॥

तथाचोक्तं श्रुतौ–

" भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥ ७३ ॥

जैसा श्रुतिमें कथन किया है–

"उस परावर आत्माके दर्शनसे ही संशय और कर्मोंका नाश होता है। "एक ब्रह्मात्माके जाननेवालेको क्या मोह और क्या शोक है" ॥ ७३ ॥

संजय उवाच।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

सञ्जय उवाच। गुरुशिष्यप्रश्नोत्तरक्रमेण, "महान् आत्मा यस्य तस्य" महात्मनो नारायणावतारस्य वासुदेवस्य नरावतारस्य पार्थस्य चाद्भुतं रोमाञ्चकारिणमाह्लादकरमिमं संवादमहं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

सञ्जय बोला–मैंने, "महत् ब्रह्म है आत्मा जिनकी ऐसे" महानुभाव नारायणके अवतार भगवान वासुदेवके तथा नरके अवतार अर्जुनके इस आश्चर्य जनक रोमाञ्चकारी संवादको श्रवण किया ॥ ७४ ॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

हे धृतराष्ट्र ! दिव्यदृष्टिदूरश्रवणशक्तिदातुर्भगवतो वेदव्यासस्य प्रसादादहमिमं सर्वोत्कृष्टं गुह्यं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्प्रतिपाद्यमानमुपदेशं, श्रुतवानस्मि ॥

हे धृतराष्ट्र, राजन् ! दिव्यदृष्टि और दूर श्रवण आदिकी शक्तिके प्रदाता श्रीभगवान्वेदव्यासजीके अनुग्रहसे मैंने इस उत्कृष्ट और गूढ ज्ञान योगको, स्वयमेव कथन करनेवाले योगेश्वर श्रीकृष्णभवानके श्रीमुखसे श्रवण किया ॥

यथोक्तं महाभारते—

" नमस्तस्मै भवत्पित्रे पाराशर्याय धीमते । यस्य प्रसादाद्दिव्यं मे प्रज्ञाविज्ञानमुत्तमम् ॥१॥ दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव हि । परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य च ॥२॥ च्युतोपपत्तिर्विज्ञानमाकाशे च गतिं सदा । शस्त्रैरसंगो युद्धे च वरदानान्महात्मनः॥३॥"॥ ७५ ॥

जैसा महाभारतके भीष्मपर्वमें कथन किया है—

" पराशर ऋषिके पुत्र आपके पिता श्रीव्यासजीको नमस्कार है । जिनकी कृपासे मुझे दिव्य ऋतंभरा प्रज्ञा, और उत्तमविज्ञान, तथा सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको देखनेकी दृष्टि, और दूरसे सुनना, दूसरेके चित्तका ज्ञान, और भूत भविष्यका ज्ञान, तथा भूली हुई बातोंका स्मरण, ज्ञान, तथा आकाशमें गमन, और युद्धमें शस्त्रोंका आघात नहीं होना, ये सब बातें प्राप्त हुई हैं" ॥ ७५ ॥

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशवार्जुनयोः पुण्यमिममद्भुतं संवादं स्मारं स्मारं, प्रतिक्षणं हृष्यामि ॥ ७६ ॥

हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशव और अर्जुनके इस पुण्यरूप अपूर्व सम्वादको बारंबार स्मरण करके मैं क्षणक्षणमें हर्षित होता हूँ ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनःपुनः ॥७७॥

हे राजन् ! भगवतः कृष्णस्य च तद्विश्वात्मकमलौकिकं रूपं स्मृत्वा स्मृत्वा मम विस्मयो जायते । तथाच प्रतिक्षणं हर्षी भवामि ॥ ७७ ॥

और हे राजन् ! भगवान् वासुदेवके उस विश्वरूपमय अलौकिक रूपको बारंवार स्मरण करके मुझे बड़ा विस्मय होता है । और मैं बारंवार हर्षित होता हूँ ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

यत्र साक्षात्परब्रह्मात्मा योगेश्वरः कृष्णो, यत्र च पृथातनयोऽर्जुनो भवति। तत्रैव स्थाने, राज्यं, विजयो, नीतिरैश्वर्यं चास्तीति मे निश्चला मतिरास्ति । अतस्त्वमपि निश्चयं कुरु ॥ ७८ ॥

जहां साक्षात् योगेश्वर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण हैं, और जहां गाण्डीव धनुर्धारी वीर, श्रेष्ठ, पृथापुत्र, अर्जुन है। वहीं ही राज्य, विजय, ऐश्वर्य, और धर्म, नीति है । ऐसा मेरा ध्रुव (पक्का) निश्चय है॥ आपभी ऐसा निश्चय करिये ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां संन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अध्यायसमाप्ति—मंगलाचरणम् ।

शुद्धो बुद्धो विमुक्तः श्रुतिशिखरगिरां मुख्यतात्पर्यभूमिः,
यस्माज्जातं समस्तं जगदिदममृताद्व्याप्य सर्वं स्थितो यः ।
यस्यांशांशावतारैः सुरनरवनजै रक्षितं सर्वमेतत्,
तं भूमानं मुकुंदं हृदिगतममलं कृष्णमेव प्रपद्ये ॥ १ ॥

यः, श्रुति-शिखर-गिरां मुख्य-तात्पर्य-भूमिः। यश्च शुद्धः, बुद्धः, मुक्तः। यस्मात् अमृतात् समस्तम्, इदं जगत् जातम्, यश्च सर्वं व्याप्य स्थितः। यस्य अंश-अंश-अवतारैः सुर-नर-वनजैः सर्वं रक्षितं । तं भूमानं, हृदि गतम्, अमलं मुकुन्दं कृष्णम् एव प्रपद्ये ॥ १ ॥

जो परमात्मा, वेदोंके शिरोमणि, ओंकारादि वाक्योंके विशेष तात्पर्योंका निवासस्थान है । और जो शुद्धस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, मुक्तस्वरूप है । जिस अमृतमय ज्योतिसे, यह संपूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ, और जो उस सबको व्याप्त करके स्थित है, जिसके अंश अंशको लिये हुए देव इन्द्रादि, मनुष्य नृपादि, तथा वनवासी ऋषि मुनि आदिसे यह सम्पूर्ण जगत् रक्षित है । मैं, उस महान् सत्तावाले,

T

हृदयमें स्थित साक्षीरूप, मायादि दोषोंसे रहित, निर्मल मुकुन्द श्रीकृष्ण भगवानकी ही शरणमें प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥

ग्रन्थसमाप्ति–मंगलाचरणम् ।

कालकूटसमो दोषो यस्य कण्ठे लवायते ।
गुणोऽपि वा कलामात्रो यस्य भूषायते सतः ॥ १ ॥
तमहं पुरुषं वन्देऽविद्यादोषहरं परम् ।
सत्यकामः स्वयं सिद्धः सर्वेशो यः स्वशक्तितः ॥ २ ॥
स एवान्तःप्रविष्टोऽहमुपास्यः सर्वदेहिनाम् ।
योऽसौ सर्वेश्वरो विष्णुः सर्वात्मा सर्वदर्शनः ॥ ३ ॥
शुद्धो बोधाम्बुधिः साक्षात्सोऽहं नित्योऽभयः प्रभुः ।
सर्वज्ञोऽहमनन्तोऽहं सर्वशः सर्वशक्तिमान् ॥ ४ ॥
आनन्दः सत्यबोधोऽहमिति ब्रह्मानुचिन्तनम् ।
त्रैलोक्यचेतसामन्तरालोको यः प्रकाशकः ॥ ५ ॥
अनुभूतिमुपारूढःसोऽहमस्मि निरञ्जनः ।

श्री १०८ परमहंसपरिव्राजकाचार्यपूज्यपादब्रह्मानंदसरस्वतीशिष्य–स्वामी-निरञ्जन-देवसरस्वतीकृत–अद्वैतपदप्रकाशिकाटीकोपेतायां श्रीमद्भगवद्गीतायां संन्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हरि ॐ तत्सत् ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ ।	पंक्ति ।	अशुद्धि ।	शुद्धि ।
२	६	धृतराष्ट्र	धृतराष्ट्रः
७	१९	संमय	समय
८	२४	खढा करके	खड़ा कर
९	१	और	×
१९	९	स	सन्
२१	१५	होतीं	होती
२२	११	का	के
२५	१०	०	न
२६	१	गृह्णति	गृह्णाति
३५	१२	निस्त्रैगुण्	निस्त्रैगुण्यो
३५	२३	श्रुता	श्रुतौ
४०	१०	पाथ	पार्थ
५०	२५	म	मैं
५७	२१	कम	कर्म
६४	४	कृष्णिं	वृष्णि
७०	२४	खमायया	स्वमायया
७१	१९	त्यक्त्क्वा	त्यक्त्वा
७४	४	औ	और
७५	१५	खरूपात्मकं	स्वरूपात्मकं
७६	११	आग्नि	अग्नि
१२९	१५	दवी	देवी
१४५	११	दह	देहं
१७२	१३	म	मैं
१७४	१९	म	मैं
२१०	२५	मगोवरम्	मगोचरम्
२२३	२१	आर	और
२२८	८	संपक्त	संपृक्त

T

पृष्ठ ।	पंक्ति ।	अशुद्धि ।	शुद्धि ।
२३६	१३	यथाऽप्रकाशयत्येक:	यथा प्रकाशयत्येक:
२४२	२०	देहस्थित	देहमें स्थित
२४३	१६	बोधका	बोधक-के
२४३	१७	बोधके	बोधका
२४७	४	च	×
२५४	१९	शरहमह	शरणमहं
२५४	२१	इमाान	इमानि
२५६	१४	अथात्	अर्थात्
२६१	३	मैं	मुझ
२६९	१०	निगृहीता	निग्रहीता
२९३	४	न न	न

जनवादी संयुक्त मोर्चा

पिछले ७ नवम्बर की हड़ताल के सिलसिले में बम्बई में जो कुछ हुआ उससे हिन्दुस्तान की आज़ादी चाहनेवालों को घोर चिन्ता हुई होगी। हमें दुःख है कि बम्बई कांग्रेस तथा बम्बई प्रान्तीय ट्रेड युनियन कांग्रेस (मज़दूर सभा), देश हित का ख़्याल न कर, एक ऐसी बात के लिए इस तरह लड़ पड़े जिसके लिए बात यहाँ तक बढ़नी नहीं चाहिये थी। हमारी समझ में नहीं आता कि बम्बई कांग्रेस के नेताओं को कांग्रेस की ताक़त मज़दूरों के ऊपर ज़ाहिर करने की क्या सूझी थी। बम्बई प्रांतीय कांग्रेस कमिटी बम्बई प्रान्तीय ट्रेड युनियन कांग्रेस से ताक़तकी आज़माइश करे यह भी कोई चीज़ है? बिहार कांग्रेस ने बिहार प्रान्तीय किसान सभा से ताक़त की आज़माइश करके जो ग़लती की थी, यह तो उससे भी बड़ी ग़लती थी। कांग्रेस मिनिस्ट्रियों के क़ायम होने का यह नतीजा होगा, यह तो देश ने कभी नहीं सोचा था। ब्रिटिश साम्राज्यशाहीसे लड़ना छोड़कर कांग्रेस किसान सभाओं और मज़दूर सभाओं से लड़ना शुरू कर दे यह कैसी उल्टी पुल्टी बात है? क्या मज़दूर सभाएँ और किसान सभाएँ हिन्दू सभा और मुस्लिम लीग की तरह साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं, क्या ये पूर्ण स्वराज्य के लिए तथा ब्रिटिश साम्राज्यशाही के ख़िलाफ़ दिलेरी से लड़नेवाली संस्थाएँ नहीं हैं, जो कांग्रेस इनसे मुक़ाबला करने की बात सोचे?

अगर कांग्रेस का उद्देश्य सारे हिन्दुस्तान में जनता का राज्य स्थापित करना है तो उसे किसान और मज़दूर सभाओं को सहायक संस्थाएँ समझकर उनसे पूरा पूरा सहयोग करना चाहिये, उनकी मदद करनी चाहिये; जैसा कि कानपुर की कांग्रेस ने किया और बम्बई की कांग्रेस ने नहीं किया। इसी तरह हम इस देश में एक बलशाली साम्राज्य-विरोधी संयुक्त मोर्चा चला सकते हैं। दूसरी कोई नीति पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई के लिए घातक होगी। अगर किसान सभाओं और मज़दूर सभाओं को ख़त्म किये या दबाये बिना कांग्रेस मिनिस्ट्रियाँ हासिल करेंगे? कुछ कांग्रेसजन तो इस तरह बातें करते हैं मानों स्वराज्य मिल ही गया, अब तो सिर्फ़ शासन चलाने का सवाल है? ऐसे नादान दोस्तों से हमें कांग्रेस को बचाना है।

उधर किसान और मज़दूर सभाओं में कुछ ऐसे लोग काम कर रहे हैं जो अपने देश की वर्तमान अवस्था को अच्छी तरह नहीं समझते, जनवादी संयुक्त मोर्चे की नीति पर अमल नहीं करते और नाक के सीधे आगे बढ़ते चले जाने में बहादुरी समझते हैं—इसे ही क्रान्तिकारी नीति समझते हैं। हमें आज के हिन्दुस्तान में ऐसे नादान क्रान्तिकारियों से अपने राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की रक्षा करनी है। जहाँ एक ओर कुछ कांग्रेसजन यह समझ बैठे हैं कि स्वराज्य तो मिल गया, अब तो सिर्फ़ शासन चलाने का सवाल है; वहाँ कुछ क्रान्तिकारी भी यह समझ बैठे मालूम होते हैं कि कांग्रेस मिनिस्ट्रियों के रूप में हमारे देश में पूँजीवादी प्रजातान्त्रिक शासन क़ायम हो गये हैं और मज़दूरों तथा किसानों का यह कर्त्तव्य है कि वे अब एक समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयारी करें। ये लोग भी यह भूल गये कि अभी हमारे देश में ब्रिटिश साम्राज्यशाही क़ायम है। उससे निबटे बिना इस देश में अगर मज़दूर किसान राज नहीं क़ायम हो सकता तो पूँजीवादी प्रजातान्त्रिक शासन भी नहीं क़ायम हो सकता। फिर भी उसी ७ नवम्बर की हड़ताल के सम्बन्ध में लिखते हुए कम्युनिस्ट मराठी साप्ताहिक "क्रान्ति" ने लिखा था कि "जब (रूस के) मज़दूरों ने केरेन्सकी मन्त्रिमण्डल को ख़त्म करने की माँग पेश की थी तब दूसरी क्रान्ति (समाजवादी क्रान्ति) की ज़रूरत साफ़ महसूस की जा रही थी। ७ नवम्बर को आम हड़ताल की घोषणा करके (बम्बई के) मज़दूरों ने भी सर्वसाधारण के सामने यह बात रख दी है कि दक़ियानूसी कांग्रेस शासन को दुरुस्त करने के लिए इसी तरह की कार्यवाई ज़रूरी है।"

की हुकूमत
हालत है
तो दिल्ली
चला रही
हमारी लड़
१६३७ के
के प्रान्तीय
मुक़ाबला
नारा बुलन्द
क्या "क्रान्ति
के मज़दूरों
कि ब्रिटिश
मन्त्रिमण्डलों
इसका अर्थ
तय कर लिया
शाही के
शाही के
ही गया है;
वाली है;
शुरुआत तो
क्या हम
विश्वास है
मोर्चे का प्रती
of strug
में तो हम
सकते हैं कि
रूस का ज़
बिना इस
संयुक्त मोर्चे
बात कोई
से यह साफ़
यह मान
मोर्चे को
कांग्रेस विरो
है? यह
विरोधी हम
की नीति को
हैं जो बम्
क़ानून बना